# हिंदी का सामाजिक संदर्भ

संपादक रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव
रमानाथ सहाय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

# हिंदी का सामाजिक संदर्भ

संपादक
रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव
रमानाथ सहाय

केंद्रीय हिंदी संस्थान • आगरा

प्रथम संस्करण : 1976
पुनर्मुद्रण : 1984

मूल्य : रु० 30·00

केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा द्वारा प्रकाशित और
नरेन्द्रा प्रिंटर्स, फ्रीगंज रोड, आगरा द्वारा मुद्रित ।

# प्राक्कथन

केंद्रीय हिंदी संस्थान की ओर से हिंदी के सामाजिक संदर्भ पर यह संकलन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। हिंदी के समाजभाषावैज्ञानिक पक्ष पर बहुत कम काम हुआ है यद्यपि भाषा के सामाजिक संदर्भों के विश्लेषण की जितनी आवश्यकता आज भारत को है उतनी शायद बहुत कम देशों को होगी क्योंकि मौजूदा स्थिति में भाषा हमारे देश की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक एकता के प्रश्न से जुड़ी है।

सस्यूर (1916) तथा ब्लूमफील्ड (1933) के बाद एक बहुत लंबे अरसे तक आधुनिक भाषाविज्ञान ने भाषा के संरचनात्मक विश्लेषण को अपना अध्ययन विषय बनाए रखा और इस सीमित क्षेत्र में इसे पर्याप्त सफलता भी मिली। इस परंपरा को एक पूर्णतः नई दिशा दी चॉम्स्की (1957) ने, जिन्होंने भाषा के मूल को ध्वनि, रूप या वाक्य में नहीं बल्कि मानव-मस्तिष्क में ढूँढा तथा भाषा को एक मनोवादी (मेंटलिस्ट) आयाम प्रदान किया। फलतः भाषा मूर्त न होकर एक अमूर्त विषय बन गई और इसका व्याकरण भाषा-विशिष्ट व्याकरण न होकर सर्वभाषा व्याकरण बन गया। लेबाव (1966) ओर फिशमन (1968) ने भाषा को एक और नया आयाम प्रदान किया और भाषा को मूलतः समाज की वस्तु माना। यही समाजभाषाविज्ञान का जन्म था। चॉम्स्की ने भाषा को समरूपी माना था, पंरतु समाजभाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा को मूलतः विषमरूपी माना, क्योंकि भाषा को सामाजिक संदर्भों द्वारा नियंत्रित मानते ही इसमें अनेक भेद तथा उपभेद दिखाई देने लगते हैं।

इस नए आयाम के जुड़ जाने से भाषा की परिभाषा ही बदल गई। भाषा (या कोड) से हमारा तात्पर्य विभिन्न भाषाओं (जैसे हिंदी, अंग्रेजी, बंगला आदि) से भी हो सकता है, क्षेत्रीय बोलियों (जैसे अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि) से भी, सामाजिक वर्ग की बोलियों (जैसे बाजारू हिंदी, उच्च वर्ग की हिंदी आदि) से भी और भाषिक शैलियों (जैसे उच्च हिंदी, हिंदुस्तानी, बोलचाल की हिंदी, औपचारिक हिंदी आदि) से भी। इसी प्रकार 'समाज' शब्द से हमारा तात्पर्य दो व्यक्तियों के सामाजिक संपर्क से भी हो सकता है, दो या अधिक समुदायों के बीच परस्पर संपर्क से भी, विभिन्न सामाजिक वर्गों

के बीच परस्पर संपर्क से भी, और दो राष्ट्रों के बीच परस्पर संपर्क से भी प्रश्न उठता है कि क्या इन भाषा भेदों तथा सामाजिक स्तर भेदों के बीच कोई पैटर्न या व्यवस्था है। यदि हम किसी व्यक्ति से 'आइए, तशरीफ रखिए' कहते हैं, किसी से 'आइए बैठिए' किसी से 'आओ बैठो' और किसी से 'आ, बैठ' तो क्या इस कोड परिवर्तन और वार्तालाप में भाग लेने वाले वक्ता तथा श्रोता के सामाजिक स्तर भेद के बीच कोई सह-संबंध है। क्या भाषिक विकल्प की यह स्थिति भाषिक अर्थ के साथ-साथ कोई सामाजिक सूचना भी देती है? सामाजिक तथा भाषिक विभेदों के बीच सह-संबंधों की यह व्याख्या समाजभाषाविज्ञान का एक प्रमुख अध्ययन-विषय है।

इसी प्रकार विभिन्न व्यवहार क्षेत्रों में दो या अधिक सामाजिक वर्गों के बीच या एक ही सामाजिक वर्ग के अंतर्गत परस्पर बोधगम्यता भाषिक संप्रेषणीयता की एक आवश्यक शर्त है। यदि बोधगम्यता या प्रेषणीयता किसी भी मात्रा में अपर्याप्त हो तो सामाजिक प्रशासन के स्तर पर भाषानियोजन की आवश्यकता होगी या भाषिक स्तर पर भाषा-मानकीकरण की। यहीं पर 'संस्थागत भाषाविज्ञान' का प्रवेश होता है जो समाजभाषाविज्ञान का ही एक अंग है।

भले ही संरचनात्मक भाषाविज्ञान, रचनांतरण व्याकरण तथा समाज-भाषाविज्ञान के सिद्धांतों और पद्धतियों में अंतर हो, भाषा के समग्र रूप के अध्ययन के लिए ये तीनों आयाम जरूरी हैं। एक भाषा के आंतरिक (संर-चनात्मक) पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत करता है, दूसरा अमूर्त (मानसिक) पक्ष का और तीसरा बाह्य (सामाजिक) पक्ष का। चूँकि समाजभाषाविज्ञान दो विज्ञानों का योग है, इसलिए दोनों उसी सीमा तक एक दूसरे के क्षेत्र में प्रविष्ट करते हैं जहाँ तक उन्हें अपने अध्ययन के लिए सामग्री की जरूरत होती है। उदाहरण के लिए, भाषाविज्ञान सामान्यत: समाजविज्ञान के क्षेत्र में केवल 'सामाजिक वर्गीकरण' की सीमा तक ही प्रविष्ट कर संतुष्ट रह जाता है। उस वर्गीकरण के अभाषिक संदर्भों के विश्लेषण से उसे कोई वास्ता नहीं होता। इसी प्रकार समाजवैज्ञानिक भी भाषाओं को 'शुद्ध,' 'मिश्रित,' 'उच्च वर्गीय,' 'निम्नवर्गीय,' आदि कोटियों में वर्गीकृत कर छोड़ देता है, उससे आगे स्वनिम, रूपिम तक वह नहीं बैठना चाहता। उक्त निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत रहते हुए भी भाषा (कोड) अपने विभिन्न प्रयोगों तथा वैकल्पिक रूपों द्वारा असीमित सामाजिक सूचना प्रदान करने की क्षमता रखती है।

सर्वनाम, रंगों के नाम, संबोधन-शब्द, आज्ञार्थक रचना आदि भाषिक रूप जितने भाषावैज्ञानिक महत्व के माने जाते हैं उतने ही समाजवैज्ञानिक महत्व के भी। इसी प्रकार मानक भाषा/राष्ट्रभाषा/संपर्कभाषा का चयन, भाषा-मानकीकरण प्रक्रिया, भाषानियोजन तथा भाषा-नीति आदि विषय जितने समाजवैज्ञानिक महत्व के हैं उतने ही भाषावैज्ञानिक के भी।

समाजभाषाविज्ञान के अध्ययन को प्रेरित करने वाले तत्व हैं—बहुभाषिकता, जातिगत विविधता, संश्लिष्ट संस्कृति, भाषा-सुरक्षा, भाषा की दीर्घ परंपरा, भाषा-परिवर्तन, भाषा-मानकीकरण, भाषानियोजन आदि। कहना न होगा कि ये सभी अध्ययन-विषय मुख्यतः अविकसित राष्ट्रों की समस्याओं से जुड़े हैं। अमरीका में एक लंबे अर्से तक संरचनात्मक भाषाविज्ञान के पक्ष में भाषा के सामाजिक पक्षों के अध्ययन के प्रति अरुचि का एक कारण यह भी है कि वहाँ उपर्युक्त तत्वों का लगभग अभाव है। इसलिए बाद में जब अमरीकी समाजभाषावैज्ञानिकों ने इस दिशा में कार्य प्रारंभ किया तो उनको क्षेत्रीय कार्य के लिए अधिकांशतः दूसरे देशों या अविकसित क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन करना पड़ा।

भारत में समाजभाषाविज्ञान के अध्ययन के सभी प्रेरक तत्व यथावत् मौजूद हैं जो इस देश में इस अध्ययन की तर्कसंगतता सिद्ध करते हैं। भारत में इस प्रकार के अध्ययन का जितना अधिक स्वतंत्र विकास होगा उतना ही देश के लिए उसका प्रत्यक्ष लाभ होगा तथा भाषानियोजन में इससे एक अंतर्दृष्टि प्राप्त होगी। संस्थान प्रकाशन के अलावा कई अन्य प्रकार से भी (जैसे—सेमिनार, अनुसंधान तथा प्रशिक्षण द्वारा) इस प्रकार के अध्ययन को विकसित करने का प्रयास कर रहा है।

आशा है, प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक अभाव की पूर्ति करेगी और इससे प्रेरित होकर इस प्रकार की और कई पुस्तकें सामने आएँगी।

1976 **गोपाल शर्मा**

# आमुख
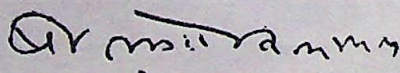
किसी भाषा की व्यवस्था, उसकी संरचनाएँ, आधारभूत सरणियाँ एवं अर्थ-कोटियाँ आदि सभी उस भाषायी समुदाय की सामाजिक परंपराओं, मान्यताओं एवं व्यवहार की विशेषताओं को व्यक्त करती है। भाषा और समाज का संबंध अन्योन्याश्रित है और दोनों एक दूसरे को इतनी गहराई, व्यापकता और सघनता से प्रभावित करते हैं कि एक का सही-सही विश्लेषण दूसरे की उपेक्षा करके सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। भाषा विश्लेषण के प्रकार्यपरक संप्रदाय, संरचनावादी संप्रदाय, एवं रूपांतरण-प्रजननात्मक संप्रदाय, इनमें से कोई भी समाज में व्यवहृत भाषा के गत्यात्मक स्वरूप का एवं भाषा के संक्रियात्मक पक्ष का पूरा-पूरा वर्णन इसलिए नहीं कर पाते चूँकि ये सब भाषा के सामाजिक पक्ष का आधार पूर्णतया अपने विश्लेषणों में स्वीकार नहीं करते। इसीलिए एक समाजभाषावैज्ञानिक विद्वान की यह मान्यता कि 'समाजभाषाविज्ञान' ही वस्तुतः भाषाविज्ञान है; संगत और सार्थक प्रतीत होती है।

भारत में भाषाओं, नृजातियों एवं सांस्कृतिक परंपराओं का ऐसा वैविध्य मिलता है जैसा संसार के किसी अन्य देश में सामान्यतया नहीं पाया जाता। इस दृष्टि से भारतीय भाषाओं के विश्लेषण, शिक्षण एवं नियोजन के लिए उनका समाजभाषावैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से अध्ययन किए जाने की नितांत आवश्यकता है।

आधुनिक समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन की परंपरा का प्रारंभ पाश्चात्य अध्येताओं के द्वारा किए जाने का यह एक परिणाम तो है ही कि उनके द्वारा विकसित संकल्पनायें, अवधारणायें एवं वर्गीकरण सरणियाँ मूलतः बहुभाषी, बहु-नृजातीय एवं बहु-सांस्कृतिक परंपरा के संदर्भ में सदैव सफलतापूर्वक लागू नहीं की जा सकतीं। पाश्चात्य चिंतन परंपरा एकभाषी एवं एक संस्कृतिमूलक सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। पाश्चात्य चिंतक संबंधों का क्रमिकता एवं निरंतरता के मानदंडों से मूल्यांकन करता है जबकि भारतीय मनीषी इन संबंधों को वृत्ताकार अथवा वर्तुलाकार रूप में देखता है। इस प्रकार दोनों के चिंतन एवं परिप्रेक्ष्यों में मूलभूत अंतर पाया जाता है। भारतीय संदर्भ में समाज-विज्ञानों की विभिन्न शाखाओं के अध्येताओं के लिए आवश्यक है कि वे भारतीय

स्थितियों एवं तथ्यों के आधार पर ही अध्ययन करें और उनसे उद्भूत होने वाले सिद्धांतों एवं प्रारूपों का विकास करें। यह तभी संभव है जब ये अध्ययन अनुभवाश्रित हों, तथ्यपरक हों एवं विवरणात्मक हों।

समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से हिंदी भाषायी समाज की समाजभाषावैज्ञानिक समस्याओं का आकलन एवं विश्लेषण अत्यंत महत्वपूर्ण है। क्योंकि हिंदी भाषी समाज अन्य भाषा भाषी-समाजों से न केवल बृहत्तर है वरन् गुणात्मक दृष्टि से भी भिन्न है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हिंदी के सामाजिक संदर्भ से संबद्ध कुछ पक्षों का संस्थान के विविध अध्येताओं के द्वारा अध्ययन किया गया और वे एक संकलन के रूप में संस्थान द्वारा प्रकाशित किए गए। हिंदी में इस प्रकार का पहला अध्ययन होने के कारण इस संकलन का अभूतपूर्व स्वागत हुआ। यद्यपि इसके द्वितीय संस्करण में कई ऐसे संशोधन और परिवर्द्धन किए जाने की आवश्यकता है जिससे इसमें अन्य सभी समाजभाषा-वैज्ञानिक पक्षों का समावेश किया जा सके, फिर भी पुस्तक की माँग और आवश्यकता को देखते हुए इसे मुद्रण की अशुद्धियों एवं त्रुटियों आदि का निराकरण करते हुए पुनर्मुद्रित किया जा रहा है। हिंदी भाषा के विकास एवं नियोजन, हिंदी भाषा की सांख्यिकी विशिष्टताएँ, हिंदी से संबद्ध द्विभाषिकता, आदि ऐसी समस्याएँ हैं जिन पर समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करना समीचीन होगा। हमारा यह प्रयास है कि निकट भविष्य में इस संकलन में जिन-जिन समस्याओं और पक्षों को समाहित नहीं किया जा सका है उन्हें लेते हुए एक अन्य संकलन प्रकाशित किया जाय जो इसका सहवर्ती हो। मुझे विश्वास है कि छात्रों एवं शोधकर्ताओं द्वारा इस प्रकाशन का पूर्ववत् स्वागत होगा और इससे हिंदी समाजभाषाविज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन एवं शोध को बल मिलेगा।

(बाल गोविन्द मिश्र)
निदेशक

# विषय-सूची

# भूमिका

## आधुनिक भाषाविज्ञान का सामाजिक संदर्भ : एक सर्वेक्षण

गत कुछ वर्षों से भाषा और समाज के अंतस्संबंधों पर काफी कुछ लिखा गया। इस दिशा में शोध के कई आयाम भी खुले, पर सैद्धांतिक मतवैभिन्न्य भी कम न रहा। यह ध्यान देने की बात है कि मतों की इस विभिन्नता के बीच में भाषा को मानव-संदर्भित करने का प्रयास हमेशा बना रहा। भाषा और समाज के बीच की कड़ी के रूप में 'मानव'-सत्ता की प्रतिष्ठा अव्याहत भाव से बनी रही। यह बात दूसरी है कि जब एक सिद्धांत ने मानव-मन की सृजनात्मक शक्ति का हवाला देकर उसकी सहजात वृत्तियों के संदर्भ में भाषा के सार्वभौमिक लक्षण (universal features) को भाषाविज्ञान का उद्देश्य स्वीकार किया तब दूसरे ने मानव-आचरण के व्यापक संदर्भ में भाषा को सामाजिक संस्था (social institution) के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न किया। एक ने मानव-मन की अपनी विशिष्टताओं के संदर्भ में भाषा की मूल प्रकृति को समझने का प्रयास किया तब दूसरे ने सामाजिक संबंधों के संदर्भ में मनुष्य-मनुष्य के बीच पाई जाने वाली संप्रेषण-व्यवस्था के रूप में भाषा की वास्तविकता को परखना चाहा। एक ने भाषा-अध्ययन को मनोविज्ञान के दायरे में खींचना चाहा तो दूसरे ने उसे समाज-विज्ञान की सीमा के भीतर घेरना चाहा। अपने मत के आग्रह में वे इस बात के लिए सदा तत्पर रहे कि भाषाविज्ञान के 'उद्देश्य' को सही ढंग से सामने उभार कर यह सिद्ध कर सकें कि भाषाविज्ञान, वस्तुतः मनोभाषाविज्ञान है अथवा समाजभाषाविज्ञान।

मतवैभिन्न्य के इस वातावरण में आज यह देखना अनुचित न होगा कि आधुनिक भाषाविज्ञान के विकास की वे कौन-सी दिशाएँ थीं जिन्होंने उसे विचारों की इस आंतरिक प्रतिद्वन्द्विता के वातावरण में ला खड़ा किया है। ज्ञान का हर क्षेत्र अपने विकास के लिए प्रतिस्पर्धी विचारधारा और उपशाखाओं को जन्म देता है पर उसे समझने के लिए यह जरूरी है कि हम उन

ऐतिहासिक संदर्भों की जानकारी भी रखें जिससे तथ्य और विचार, आँकड़े और सिद्धांत के बीच उत्पन्न होने वाले अंतर्विरोध पर प्रकाश पड़ता है। एक मत अथवा सिद्धांत का पर्यवसान आगामी पर-विकसित सिद्धांत में सार्थक ढंग से तभी हो पाता है जब आगामी सिद्धांत, विचारधारा के रूप में उन अंतर्विरोधी तथ्यों का निराकरण करने में सार्थक हो सके, जिनका समाधान निकालने में पूर्वमत असफल सिद्ध होने लगा था। आगामी विकासमान सिद्धांत ही 'शाश्वत' और 'अखंड' हो यह कोई जरूरी नहीं, पर यह जरूरी है कि पूर्वमत की तुलना में वह अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और सर्वव्यापी हो—कम से कम असंगतियों एवं अंतर्विरोधी तथ्यों के निराकरण में संप्रति वह अपने को अधिक समर्थ और प्रभावशाली सिद्ध कर सके। यहाँ इस ओर भी संकेत दे देना असमीचीन न होगा कि ऊपर से नया दीखने वाला हर सिद्धांत नया सिद्धांत ही हो—यह आवश्यक नहीं। यह भी संभव है कि नया दीखने वाले सिद्धांत के आधारतत्व तो पूर्ववत् बने रहें और अंतर केवल उसको अभिव्यक्त या व्याख्यायित करने वाले उपादानों में ही हो। ऐसी स्थिति में उसे नए सिद्धांत की संज्ञा देना, ज्ञानक्षेत्र के विकास की ऐतिहासिकता को झुठलाना होगा। नए सिद्धांत के लिए यह जरूरी है कि वह नए संदर्भ को ही न केवल सामने उभारे, पर अपनी नई अभिव्यक्ति या व्याख्या की प्रेरक शक्ति के रूप में नए आधारभूत प्रकथन (axiom) को भी वह जन्म दे। नया सिद्धांत न केवल संप्रति पाई जाने वाली असंगतियों के निराकरण में समर्थ होता है वरन् ज्ञान के तत्कालीन पूरे आयाम (पैराडाइम) को ही बदल डालने की शक्ति रखता है। जब तक ज्ञान-क्षेत्र का यह आयाम नहीं बदलता, उसकी सत्ता अपने सत्व में प्रतिफलित भी नहीं होती। उदाहरण के लिए चाम्स्की ने अपने आधारभूत प्रकथन द्वारा भाषा-चिंतन की पूरी धारा को एक नया आयाम देकर तत्कालीन 'पैराडाइम' को ही बदल डाला। पर उनके परवर्ती विद्वानों (लेकॉफ, मैकाले आदि) द्वारा उनके सिद्धांतों में किए गए परिवर्तन की जब उनसे चर्चा की थी, उन्होंने उस परिवर्तन को अभिव्यक्ति-भेद (notational variant) से अधिक महत्व नहीं दिया।

ज्ञान का इतिहास हमेशा विकास के एक सूक्ष्मतंतु के साथ जुड़ा होता है। विकास का हर चरण अपनी पूर्ववर्ती अवस्था के गर्भ में पल रहे बीज का ही परिणाम होता है। इतिहास की कड़ी तारतम्य की अटूट शृंखला होती है। किसी कड़ी का न होना उसके अभाव का सूचक न होकर इतिहासकार

की धूमिल दृष्टि अथवा विगत घटनाओं की सही जानकारी का अभाव है। नई जीवन दृष्टि और नए 'पैराडाइम' की शक्ति, पूर्व अवस्था के गर्भ में पल रही असंगतियाँ होती हैं। पूर्व अवस्था में उसके समाधान के प्रयत्न न हुए हों – ऐसी बात नहीं। असंगतियों एवं अंतर्विरोध के निराकरण के लिए प्रयास नए सिद्धांत के जन्म के पहले भी होते रहते हैं, कुछेक सीमा तक उसमें सफलता भी मिलती है पर जब ये असंगतियाँ बहुमुखी होकर विवेच्य वस्तु के कई धरातल पर दीखने लगती हैं तब केवल सुधारवादी दृष्टि से ही काम नहीं चल पाता। उस समय तो सैद्धांतिक संदर्भ के पूरे आयाम को बदलने वाली क्रांतिकारी दृष्टि की जरूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए, संरचनावादी भाषाविज्ञान ने अभिरचना के द्वैत (duality of pattern) की बात उठाकर भाषा के स्वनिमिक और व्याकरणिक स्तरों के स्वायत्त होने की मान्यता की पुष्टि की और एक प्रकार से अपने सिद्धांत के आधारभूत प्रकथन के रूप में इसे स्वीकृति दी, तब उसी विचारधारा के अन्य विद्वान (पाइक) ने न केवल इस पर आगे चलकर आपत्ति उठाई वरन् उसका खंडन भी किया। उनके मत में ध्वनि का स्तर स्वायत्त नहीं और इसीलिए स्वनिमिक व्यवस्था को समझाने के लिए व्याकरणिक संदर्भ अपेक्षित नहीं बल्कि अनिवार्य भी हैं। इसी मत की आगे चलकर पुष्टि चाम्स्की ने अपने नए सिद्धांत द्वारा की। पाइक द्वारा प्रस्तावित मत संरचनावादी भाषाविज्ञान की ही एक उपशाखा के रूप में मान्य हुआ, पर चाम्स्की की विचारधारा एक नए सिद्धांत के और एक नई दार्शनिक पीठिका के रूप में ग्रहीत हुई क्योंकि वह पाइक की तरह किसी एक या दूसरे पक्ष के परिवर्तन की अपेक्षा, भाषासंबंधी पूरी चिंतन पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता से प्रेरित थी।

जब 'पैराडाइम' बदलता है तब एक नए 'संसार' का जन्म होता है। नई चिंतनधारा से संबद्ध नई दृष्टि हर तथ्य को नए कोण से देखने की ओर प्रवृत्त होती है। तथ्य और आंकड़े वही रहते हैं पर नया संदर्भ और नई परिभाषा मिलने के कारण उनका संयोजन और विन्यास बदल जाता है। इसीलिए हर बदला हुआ सिद्धांत, इतिहास प्रदत्त 'इकाइयों' की संकल्पना को अपने रूपरंग में ढालता है। 'नाम' वही पर 'अर्थ' में परिवर्तन, प्रतीक सिद्ध 'संज्ञाएँ' वही पर 'संकेतग्रह' और उसकी 'सार्थकता' भिन्न। उदाहरण के लिए, 'स्वनिम,' 'रूपिम' आदि इकाइयाँ भाषाविज्ञान की संरचनावादी धारा में जिस संकेतग्रह और सार्थकता का प्रतिफलन हैं रचनांतरण विचार-

धारा में उसी रूप में स्वीकृति नहीं हुई यद्यपि वे 'नाम' या 'संज्ञा' रूप में इस दूसरे संप्रदाय के सिद्धांत में भी सिद्ध हैं।

इस संदर्भ में यह आवश्यक हो जाता है कि 'भाषा' की सही प्रकृति को समझने के लिए हम उसे 'इकाई' मानकर आधुनिक भाषाविज्ञान की विभिन्न विचारधाराओं के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में देखें।

**भाषिक संरचना : प्रतीक व्यवस्था**

आधुनिक भाषाविज्ञान के पहले चरण में भाषा-अध्ययन को 'प्रतीक-विज्ञान' के साथ जोड़ने का सायास प्रयत्न मिलता है। सस्यूर ने पहले प्रतीकविज्ञान (Semiolo; y) की सामान्य धारणाओं की स्थापना की और उसके बाद भाषाविज्ञान को उसके एक उपांग के रूप में सामने रखा। उसने पहले भाषा को 'प्रतीकों की व्यवस्था' कहकर परिभाषित किया और फिर उस व्यवस्था (system) की संरचना (structure) के अध्ययन को भाषा-विज्ञान के मूल उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया। भाषिक प्रतीकों की व्यवस्था और उस व्यवस्था की संरचना/संघटना के अध्ययन को साधने के कारण ही आधुनिक भाषाविज्ञान संरचनावादी/संघटनावादी (structural) कहलाया।

भाषाविज्ञान की संरचनावादी धारा ने भाषा-अध्ययन को एक नया आयाम और दिशा दी। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि भाषा संबंधी अपने सिद्धांत और विश्लेषण पद्धति के क्षेत्र में इसने कुछ ऐसी संकल्पनाओं को सामने रखा जिनकी प्रकृति द्विचर प्रतियोग (binary-opposition) द्वारा ही समझना संभव था। यह उसी का परिणाम है कि भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हमें पारिभाषिक शब्दावली के ऐसे सार्थक युग्म देखने को मिलते हैं –

( i ) भाषा (language) और वाक् (parole)
( ii ) एककालिक (synchronic) और कालक्रमिक (diachronic)
( iii ) विन्यासक्रमी (syntagm) और सहचारक्रमी (paradigm)
( iv) उपादान/वस्तु (substance) और आकृति/रूप (form)
( v ) संप्रत्यय (concept) और अभिव्यक्ति (expression)
( vi) मुख्यार्थ (denotatum) और संपृक्तार्थ (connotatum)

ज्ञान की किसी भी शाखा/उपशाखा की चिंतन पद्धति अथवा किसी संप्रदाय विशेष की दार्शनिक प्रणाली को समझने के लिए जितनी आवश्यक शाखा-संप्रदाय की सैद्धांतिक मान्यताएँ होती हैं उतने ही महत्वपूर्ण ये पारिभाषिक शब्द होते हैं। शब्द पारिभाषिक तभी बनते हैं जब वे सिद्धांत द्वारा बाधित होकर एक विशेष चिंतन प्रणाली की सार्थक इकाई के रूप में सिद्ध हो जाते हैं और सैद्धांतिक मान्यताएँ स्थिर तभी हो पाती हैं जब चिंतन दृष्टि, पारिभाषिक शब्दावली के सहारे प्रकथन में बँधकर बोधगम्य होने लगती है। संरचनावादी धारा ने भाषासंबंधी ऐसे ही दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जो उसकी भाषासंबंधी संपूर्ण अवधारणाओं के मूल में स्थित कहे जाएँ तो अत्युक्ति न होगी। ये हैं—'लाँग' और 'पारोल'।

अंग्रेजी में अनुवाद के रूप में इस द्विचर प्रतियोग को (language) भाषा और (speech) वाक् कहा गया। अनेक विद्वानों ने भाषा की अपनी सीमाओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए इस अनुवाद को भ्रामक बतलाया है। भ्रम की स्थिति तो तभी उत्पन्न हो जाती है जबकि '**भाषा**' की प्रकृति को सही संदर्भ में रखने के लिए प्रतिस्पर्धी संकल्पना के रूप में 'वाक्' के विरोध में 'भाषा' को सामने लाया गया। '**भाषा**' के ही दो आयाम —भाषा और वाक्—वस्तुतः भाषा की संपूर्णता और उसके अखंड रूप को समझने के लिए सस्यूर ने दो संकल्पनाएँ सामने रखीं जिन्हें 'भाषा व्यवस्था' और 'भाषा-व्यवहार' कहा जा सकता है।

'भाषा-व्यवस्था' ही 'लाँग' है और 'भाषा-व्यवहार' 'पारोल'। भाषा-व्यवहार, अपने प्रतिफलन में मानव संबंधों की तरह बहुरूपी (multiform) और जीवन-जगत की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की तरह वैविध्यपूर्ण और विषम रूपी (heterogeneous) होता है। वैयक्तिक संदर्भों से जुड़े होने के कारण यह भाषा का व्यष्टि रूप है। व्यक्ति की अपनी यथार्थता से संबद्ध होने के कारण 'वाक्' (parole/speech) कोडीकरण की उस प्रक्रिया से बँधा होता है जहाँ व्यक्ति संदर्भ, श्रोता, परिस्थिति आदि के औचित्य का ध्यान रखकर 'चयन के सिद्धांत' के आधार पर किसी वाक्य विशेष या उसके समूह का प्रयोग करता है। वस्तुतः यह पक्ष भाषा की अभिव्यक्तिकरण (articulation) का है। इसके विपरीत 'भाषा-व्यवस्था' सामाजिक संस्थान (social institution) की उस प्रक्रिया का परिणाम होता है जिसकी प्रकृति व्यक्ति की अपनी स्वेच्छा से परे जाकर समूहगत अनुबंधन (social contact)

के रूप में सिद्ध रहती है । यह संप्रेषण व्यापार के लिए आवश्यक रूढ़िपरक पर सांकेतिक (conventional) भाषिक प्रतीकों की उस व्यवस्था से संबद्ध होता है जो किसी भी प्रकार से प्रतीकों के माध्यम उपादान (material/substance) से बाधित नहीं होता । 'वाक्' के विरोध में यह टाइप रूप में सिद्ध अपनी प्रकृति में निर्विशिष्ट होता है । निर्विशिष्ट होकर ही वह समरूपी (uniform/homogeneous) हो पाता है । समरूपी या निर्विशिष्ट होने का यह अर्थ नहीं कि यह समाज-निरपेक्ष अथवा वैज्ञानिकों की सैद्धांतिक इकाइयों की तरह अमूर्त और यादृच्छिक होता है । वस्तुतः 'लाँग', सामाजिक संस्थान की तरह एक ठोस वास्तविकता है, वह स्वयं में एक प्रतीक सिद्ध सामाजिक वस्तु (social object) है जो व्यक्ति की अपनी सीमाओं से मुक्त (supra-individual) पर सामाजिक अभिलक्षणों एवं प्रकार्यों (social character) से युक्त होता है ।

सस्यूर ने लाँग को एक ओर मूल्यों/प्रकार्यों (values/functions) की व्यवस्था कहा है और दूसरी ओर इस व्यवस्था को उसी रूप में स्वायत्त माना है जिस प्रकार शतरंज के खेल के नियम स्वनिष्ठ रूप में सिद्ध रहते हैं । मूल्य हमेशा वस्तुगत इकाइयों के प्रभेदक लक्षण (differential features) के आधार पर अर्थवत्ता (significance) प्राप्त करते हैं । हिंदी में 'क्' और 'ख्' ध्वनियाँ महाप्राणत्व के प्रभेदक लक्षण के आधार पर दो सार्थक तथ्य हैं जो 'कल' और 'खल' अथवा 'काल' और 'खाल' ऐसे शब्द-युग्मों में देखे जा सकते हैं । अंग्रेजी में ऐसी स्थिति नहीं । महाप्राणत्व वस्तु तथ्य के रूप में उस भाषा में भी है; यथा sky (क्) और key (ख्), पर उस भाषा में प्रभेदक लक्षण के रूप में सिद्ध न होने के कारण वह सार्थक नहीं । भाषाविज्ञान की इस धारा ने भाषाचिंतन को इकाई बद्ध (atomism) संदर्भ से मुक्त कर उसे निर्विशिष्ट संघटनाबद्ध (structuralism) बनाया । परिणामतः आग्रह हिंदी की मात्र क्-ख् ध्वनि प्रतियोग की तरह का न होकर पूरी व्यवस्था की उस संरचना का माना गया जिसके सहारे प्-फ्, त्-थ्, ट्-ठ्, च्-छ् या ब्-भ्, द्-ध्, ड्-ढ्, ग्-घ् ही के अंतर को न केवल समाविष्ट किया गया वरन् न्-न्ह्, म्-म्ह, ल्-ल्ह् आदि तक जिसका प्रसार कर व्यवस्थाबद्ध करना संभव हो सका ।

व्यवस्था की इस संरचना को ही सस्यूर ने रूप/आकृति (form) कहा है । 'लाँग' के रूप में भाषा की प्रकृति मूलतः रूपगत होती है । इस मत के

अनुसार रूप (form) और संरचना (structure) वस्तुत: पर्याय हैं। जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है कि संरचना की मूल धारणा भाषिक प्रतीकों के विभिन्न स्तरों पर स्थित उनकी लघुतम सार्थक इकाइयों की माँग पर उतनी आधारित नहीं होती जितनी विभिन्न स्तरों और उनकी इकाइयों के बीच पाए जाने वाले संबंधों की प्रकृति पर अवलंबित रहती है। वस्तुत: भाषा विशेष की विभिन्न इकाइयाँ अन्योन्याश्रित संबंधों के आधार पर ही अपनी सार्थकता (मूल्य) पाती हैं; एक दूसरे पर आश्रित रहकर ही ये संबंध, संरचना को एक निश्चित रूप देने में समर्थ हैं।

भाषाविज्ञान की संरचनावादी धारा ने यद्यपि 'लाँग' को रूप (form) कहा और उत्पादन/वस्तु से मुक्त कर उसे निर्विशिष्ट संघटनाबद्ध माना, पर इसके साथ यह भी सच है कि उन्होंने उसके सामाजिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की। इस संदर्भ में उनकी निम्न धारणाएँ ध्यान देने योग्य हैं—

(1) अपनी माध्यम वस्तु से मुक्त होकर भी 'लाँग' एक सामाजिक वस्तु (social object) है, अपनी प्रकृति में समरूपी (homogenecus) होने के बावजूद भी वह समूहगत सामाजिक अनुबंधन (social contract) है, व्यक्ति की अपनी सीमाओं से परे होकर भी (supra-individual) वह व्यक्ति की उस क्षमता के साथ बँधा होता है जो सामाजिक संस्थान के एक सदस्य होने के नाते व्यक्ति को प्राप्त है, और अपने अस्तित्व में स्वायत्त (autonomous) होने के उपरांत भी वह जीवंत और परिवर्तनशील है क्योंकि समाज के अन्य संस्थानों (institutions) के साथ संबद्ध होकर ही वह एक उच्चतर प्रतीक व्यवस्था का उपांग बनता है।

(2) मूल्य परक व्यवस्था (system of values) होकर भी लाँग प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र की वस्तुओं की तरह समाज-निरपेक्ष और मानव-तटस्थ नहीं होता क्योंकि उसके लिए 'घटना' या 'वस्तु' का आभ्यंतर लक्षण/गुण का स्वयं में कोई महत्व नहीं होता। भाषा, समाज अनुबंधित 'वस्तु' है अत: समाजविज्ञान के क्षेत्र की वस्तुओं की तरह इसमें पाए जाने वाले आभ्यंतर गुणों (प्रभेदक लक्षण) का मूल आधार हमेशा सामाजिक सार्थकता (social significance) होता है।

(3) 'भाषा व्यवस्था' के रूप में 'लाँग' और भाषा व्यवहार के रूप में 'पारोल' एक दूसरे का संदर्भ लेकर ही परिभाषित किये जा सकते हैं।

भाषा तभी जीवित मानी जा सकती है जब ये द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (dialectical process) की स्थिति में हों। अमूर्त भाषा-व्यवस्था को ही व्यक्ति विविध रूपों में भाषा-व्यवहार के द्वारा मूर्तमान बनाता है और दूसरी ओर भाषा-व्यवहार की विशिष्ट और मूर्तमान घटनाओं को ही समाज अपनी सामूहिक चेतना में निर्विशिष्ट और साधारणीकृत भाषा-व्यवस्था के रूप में ग्रहण करता है। इसीलिए 'भाषा-व्यवस्था' और 'भाषा-व्यवहार' परस्पर सापेक्ष्य संकल्पनाएँ हैं। यह ठीक है कि भाषा-व्यवहार, बिना भाषा-व्यवस्था के संभव नहीं क्योंकि नियमों की पूर्व स्थिति के बिना उनका व्यक्ति के आचरण में प्रतिफलन भी संभव नहीं। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि व्यक्ति, भाषा-व्यवस्था को भाषा-व्यवहार की विविध घटनाओं के आधार पर ही आत्मसात करता है। किसी बच्चे को भाषा-व्यवस्था सिखाने के बाद भाषा-व्यवहार के लिए प्रेरित नहीं किया जाता। वह तो अपने चारों तरफ फैले भाषायी वातावरण के भीतर से 'भाषा' को स्वतः समझता और प्रयोग करता चलता है। इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि भाषा-व्यवस्था एक साथ भाषा-व्यवहार के लिए अपेक्षित साधन (instrument) भी है और सामाजिक चेतना के धरातल पर भाषा-व्यवस्था के संचित कोश के रूप में उसका परिणाम (result) भी। एक साथ साधन और परिणाम होने के कारण 'भाषा-व्यवस्था' को समझने के लिए भाषा-व्यवहार का संदर्भ केवल अपेक्षित ही नहीं वरन् आवश्यक और अपरिहार्य भी हो जाता है।

**भाषिक समरूपता : विश्लेषणात्मक पद्धति**

यद्यपि सस्यूर ने 'भाषा-व्यवस्था' और 'भाषा-व्यवहार' के बीच द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की स्थिति मानी थी पर भाषाविज्ञान के लक्ष्य के रूप में अपने सामने उसने समरूपी भाषा-व्यवस्था को ही विवेच्य सामग्री रक्खा था। भाषा-व्यवहार की वास्तविक और वैविध्यपूर्ण घटनाओं के बीच से 'भाषा-व्यवस्था' का पता लगाना ही संरचनावादी धारा का लक्ष्य रहा और इसीलिए बहुरूपी भाषा-व्यवहार की सार्थकता भी वहीं तक सीमित की गई जहाँ तक वह समरूपी भाषा-व्यवस्था को व्यंजित करती हो। बाद में चलकर—विशेषकर अमरीकी विद्वानों के हाथों—वास्तविक और विविध घटनापरक भाषा-व्यवहार के भीतर से अमूर्त और समरूपी भाषा-व्यवस्था का पता लगाने की यांत्रिक पद्धति का विकास हुआ। इस पद्धति ने भाषा व्यवस्था और भाषा-

व्यवहार के बीच द्वन्द्वात्मक स्थिति को पहले नकारा, फिर भाषा-व्यवस्था को, भाषा-व्यवहार के संदर्भ से मुक्त करते हुए (अर्थात् समाज और व्यक्ति के जीवंत संबंधों को तोड़कर) व्यक्ति बोली (idiolect) से जोड़ा और या तो भाषा-व्यवस्था को उसने 'व्यक्ति बोली का समूह' माना या तो फिर भाषा-व्यवहार की विविधता को सारहीन और भाषाविज्ञान के लिए अविवेच्य सामग्री घोषित किया।

यह बात नहीं कि भाषा-विकास के इस चरण के विद्वान भाषा-वैविध्य की प्रकृति से परिचित न हों अथवा भाषा की संस्थागत यथार्थता और उसके दबाव से अनभिज्ञ हों। ब्लूमफ़ील्ड के शब्दों में—

If we observed closely enough, we should find that no two persons—or rather, perhaps, no one person at different times—spoke exactly alike.....These differences play a very important part in the history of languages; the linguist is forced to consider them carefully even though in some of his work he is forced provisionally to ignore them. When he does this, he is merely employing the method of abstraction, a method essential for scientific investigation.

स्पष्ट है, ब्लूमफ़ील्ड भाषाविविधता को भाषाविकास के लिए अनिवार्य मानते हैं, और जीवंत भाषा के लिए उसे अपरिहार्य भी स्वीकार करते हैं पर वैज्ञानिक अनुसंधान के संदर्भ में उसको सारहीन समझते हैं। उनके मत में वैज्ञानिक पद्धति की यह माँग है कि अमूर्तन प्रक्रिया के माध्यम से भाषा-भेद को 'समरूपी' व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया जाए। सपीर ने इस अमूर्तन प्रक्रिया को मानव मन की बोधात्मक प्रकृति का आवश्यक पक्ष माना था और 'स्वनिम' जैसी निर्विशिष्ट इकाइयों की मानसिक यथार्थता पर बल देते हुए भाषिक संरचना की बोधात्मक (cognitive) प्रकृति पर प्रकाश डाला था। उसने यह सिद्ध किया था कि व्यक्ति का स्वनिक (phonetic) विवरण सामर्थ्य एवं महत्वपूर्ण ढंग से उसकी मातृभाषा की स्वनिमिक (phonemic) व्यवस्था द्वारा प्रभावित होता है। पर विवरणात्मक भाषाविज्ञान की अमरीकी धारा ने वैज्ञानिकता के आवरण में भाषा-व्यवस्था की समरूपता की खोज समाज अथवा मानव मन की बोधात्मक क्षमता के भीतर न कर भाषा-विदों द्वारा प्रस्तावित कल्पित इकाइयों और उनके संबंधों में करना श्रेयस्कर

समझा। यही कारण है कि पहले ट्वाडेल यह मानते हैं कि ध्वनि के धरातल पर भाषा वैविध्यपूर्ण है, अत्यंत सीमित समय और स्थान के बीच भी एक व्यक्ति के भाषाव्यवहार में असंख्य भेद मिलते हैं। भाषावैज्ञानिक का काम इस भाषाभेद के बीच उसकी समरूपी प्रकृति का उद्‌घाटन करना है पर 'स्वनिम' की परिभाषा पर विचार करते हुए वे न तो उसे 'भौतिक इकाई' के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में हैं और न ही 'मनोवैज्ञानिक' सत्य के रूप में ही मान्यता देने के लिए तैयार हैं। उनके लिए भाषा-व्यवस्था की ये इकाइयाँ 'कल्पित' (fictitious) हैं जिसे विभिन्न भाषाभेद के बीच से वैज्ञानिक अपने तकनीकी विश्लेषण के द्वारा प्रतिस्थापित करता है। उन्हीं के शब्दों में—

When we speak then, of a (macro-) phoneme, we are using an abstraction as a terminological convenience to describe the recurrence of similiar phonological differentiation among the elements of a language.

त्रुबेस्कोय ने सार्थक इकाइयों के भेदक लक्षणों (distinctive features) की सामाजिक अर्थवत्ता की बात की थी पर इस संप्रदाय ने 'भाषा' को 'सामाजिक वस्तु' (social object) न मानकर स्वायत्त प्राकृतिक इकाई (natural unit) माना। परिणामतः समरूपता को सामाजिक संस्थान की प्रकृति का न मानकर प्राकृतिक निर्जीव वस्तु की अमूर्त संकलपना के रूप में स्वीकार किया गया। यह ठीक है कि सस्यूर ने भाषा-व्यवस्था और उसकी इकाइयों को माध्यम मुक्त करने की बात की थी पर इकाइयों और उनके बीच के संबंधों की सामाजिक अर्थवत्ता को उन्होंने कभी नकारा न था। इस अमरीकी धारा ने 'क्यों' और 'कैसे' के प्रश्न से अपने को तटस्थ कर भाषा को समाज-निरपेक्ष बिना दिया। इस धारा के विद्वान रूलन वेल्स के शब्दों में—

If phonemes are characterized only by being different; it does not matter how they differ; pushed to its extreme this means that only the number of distinct phonemes matters.

यह माना गया कि सामाजिक बोधात्मक प्रतीक के रूप में भाषा-व्यवस्था व्यक्ति के अज्ञात मन के धरातल पर रहने के कारण सहजरूप में परीक्षण योग्य नहीं है, इसलिए भाषा-व्यवस्था संबंधी सभी सूचनाएँ, 'तथ्य-सामग्री'

(data/corpus) से ही प्राप्त की जाएँ। तथ्य-सामग्री को ही एकमात्र प्रामाणिक मानकर उस 'तकनीक' के विकास और परिष्कार पर ध्यान दिया गया जो भाषा-व्यवस्था को भाषिक इकाइयों के संबंधों को शृंखलाबद्ध आभ्यंतर संरचना के रूप में सामने ला सके और जिसके विश्लेषण के लिए तथ्य-सामग्री से बाहर जाने की कोई आवश्यकता न पड़े। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री हैरिस के 'स्ट्रकचरल लिंग्विस्टिक्स' में इस विश्लेषणात्मक पद्धति के तकनीक की चरम परिणति देखने में मिलती है। यह पद्धति वितरण के आधार पर व्यतिरेकी युग्मों की स्थापना, संधान-पद्धति (discovery procedure) के द्वारा भाषिक इकाइयों की खोज और उनके वर्गीकरण तथा वितरण के माध्यम से संबंधों के पता लगाने को ही वैज्ञानिकता की कसौटी मानता रहा। अपनी पुस्तक के चौथे संस्करण में यद्यपि हैरिस वाक्य-केंद्र (sentence centre) आधार (kernel) वाक्य और उसके रचनांतरण (transformation) तथा वाक्यबंध/प्रोक्ति (discourse) के विश्लेषण की बात करते हैं पर उस समय भी वे अपनी पद्धति को इकाइयों की खोज और उनके पारस्परिक वितरण की रूपवादी और यांत्रिक प्रक्रिया से मुक्त करने के पक्ष में नहीं।

The whole schedule of procedures, designed to begin with the raw data of speech and end with a statement of grammatical structure, is essentially a twice-made application of two major steps : the setting up of elements, and the statement of the distribution of these elements relative to each other.

इस धारा की अंतः प्रमुख विशेषता रही—भाषा-व्यवस्था और भाषा-व्यवहार के अंतर को मान्यता न देना, भाषा को विश्लेषणगम्य बनाने के लिए उसे समाज-निरपेक्ष और मानव-तटस्थ कर तथ्य सामग्री-सापेक्ष (corpus oriented) बनाना; विश्लेषण के लिए आवश्यक सूचनाओं को तथ्य-सामग्री तक सीमित करने और वितरण के रूपवादी फ्रेम को स्वीकार करने के फलस्वरूप भाषिक अर्थ और सामाजिक अर्थवत्ता को नकारना; संघात पद्धति को प्राथमिकता देने के कारण भाषाविवरण को वर्गकारी (taxonomic classificatory) रूप में स्वीकार करना; सामाजिक संस्थान की अपेक्षा भाषा-तथ्य पर आग्रह रखने के कारण भाषाभेद और शैली परवर्ती की यथार्थता को वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए अवांछनीय और सारहीन मानना।

**रचनांतरण प्रक्रिया : सार्वभौमिक व्याकरण**

यद्यपि हैरिस ने रचनांतरण प्रक्रिया की बात उठाई पर उस प्रक्रिया को

मानव केंद्रित न कर अपने प्रारूप (model) के अनुसार संक्रियात्मक (operational) ही रखा। सच तो यह है कि चामस्की के पूर्व भाषाविज्ञान का सिद्धांत व्यवहारवाद की दार्शनिक मान्यता से अनुप्राणित था। व्यवहारवाद अपने विचारों में अनुभववादी (empiricist) होता है और कार्यप्रणाली में आगमनात्मक (inductive)। अत: भाषाविज्ञान के संघटनावादी दृष्टिकोण की यह आधारभूत मान्यता थी कि संकल्पना का निर्माण वस्तुओं एवं तथ्यों की अमूर्तीकरण और प्रतीकीकरण प्रक्रिया द्वारा बाधित होता है। उद्दीपन (stimulus) और अनुक्रिया (response) के माध्यम से बालक भाषा को सीखता और ग्रहण करता है। व्याकरण वस्तुतः किसी भाषा-विशेष का होता है और भाषा-विशेष एक विशिष्ट सांस्कृतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति। अत: उसकी प्रकृति विभिन्न संस्कृतियों के संदर्भ के कारण भिन्न होती है। व्याकरण की इस विभिन्नता के फलस्वरूप किसी ऐसे आधारभूत व्याकरण अथवा सार्वभौमिक भाषिक रचना की खोज अथवा स्थापना नहीं की जा सकती जो सभी व्याकरणों पर समान रूप से लागू होती हो।

चाम्स्की ने इन सारी धारणाओं की जड़ पर ही प्रहार किया। उनकी यह मान्यता रही है कि व्यवहारवाद और उस पर आधारित भाषावैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक चिंतनधारा चूहे और जानवरों पर किए गए प्रयोगों के निष्कर्ष पर आधारित है। वह मानव-मन की विशिष्ट प्रकृति को ध्यान में नहीं रखता और न यही देख पाता है कि मानव-मन की सृजनात्मक शक्ति कितनी अगाध है। चाम्स्की ने संरचनावादी भाषावैज्ञानिक धारा के विरोध में जिस रचनांतरण सिद्धांत एवं सार्वभौमिक व्याकरण की संकल्पना को सामने रखा उसकी दृष्टि अनुभववाद पर आधारित न होकर बुद्धिवाद (rational) द्वारा समर्थित थी और वह अपनी कार्यप्रणाली में आगमनात्मक पद्धति के स्थान पर निगमनात्मक (deductive) मान्यताओं पर स्थित थी। 'स्टिमुलस-रिस्पांस' के निर्धारित व्यवहार के स्थान पर चाम्स्की ने भाषा-अधिगम के लिए जिस प्रक्रियात्मक शक्ति को उभारा वह थी मानव-मन की 'सहजात' (innate) वृत्तियाँ।

चाम्स्की का मत है कि बालक अपने जन्म के समय से ही एक विशिष्ट प्रकार के मन को लेकर उत्पन्न होता है। जन्म के समय उसका मानस पटल धुला-पुँछा न होकर सहजात वृत्तियों से युक्त रहता है। इन्हीं सहजात वृत्तियों से बाधित होकर एक विशिष्ट 'स्कीम' के अनुसार मानव-मन कार्य करता है।

इस 'स्कीम' का अतिक्रमण संभव ही नहीं । यही कारण है कि अपने वातावरण में फैले विविध संरचनाओं और शैलीगत विभिन्नताओं से युक्त तरह-तरह के वाक्यों के भीतर से बालक मन सहज वाक्य और साधारणीकृत नियमों का पता लगा लेता है ।

भाषाविज्ञान की इस चिंतनधारा ने किसी भाषा विशेष के व्याकरणिक नियमों एवं संरचना का पता लगाने की अपेक्षा मानवजन्य सभी भाषाओं को मूल प्रकृति पर प्रकाश डालने को अपना लक्ष्य माना । इसीलिए उसने भाषिक तथ्य सामग्री (corpus) के विश्लेषण के स्थान पर भाषा अधिगम-प्रणाली (Language Acquisition Device—LAD) के रहस्योद्घाटन को अपना लक्ष्य साधा । उसने माना कि अवचेतन व्यापार के रूप में किसी भाषा का व्याकरण, भाषा-अधिगम की स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम होता है जिसे व्यक्ति अज्ञात भाव से भाषिक क्षमता के रूप में सिद्ध करता है और जिसका उपयोग वह सर्जनात्मक रीति से भाषा व्यवहार में करता पाया जाता है ।
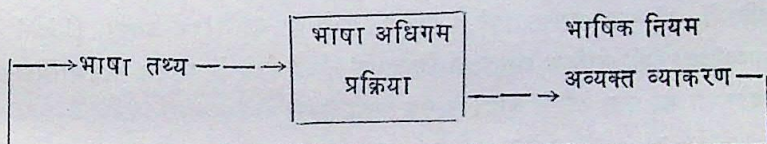
जन्म से ही मानसपटल पर अंकित भाषा-संबंधी सहजात वृत्तियों की व्यवस्था ही सार्वभौमिक व्याकरण है । यही कारण है कि भाषावैज्ञानिक जब विभिन्न भाषाओं के संबंध में किसी सार्वभौमिक भाषिक प्रक्रिया की ओर संकेत देता है तब उसका सार्वभौमिक होना आकस्मिक घटना नहीं होता । कोई भी भाषिक प्रक्रिया इसलिए सार्वभौमिक नहीं है कि कोई भी भाषा उस नियम अथवा प्रक्रिया का खंडन नहीं करती वरन् वह सार्वभौमिक इसलिए है कि मानव-मन की भाषिक क्षमता से संबद्ध होने के कारण कोई भी भाषा उस नियम अथवा प्रक्रिया का खंडन करने की स्थिति में ही नहीं होती । मानसपटल पर अंकित ये सहजात वृत्तियाँ ही भाषा को सहज और स्वाभाविक बनाती हैं यही कारण है कि मातृभाषा के रूप में बालक किसी दूसरे ग्रह की भाषा अथवा कोई कृत्रिम भाषा सीखने में असफल रहता है जब कि मानव भाषा को वह अनायास ही सीख लेता है ।

यह सच है कि चाम्स्की ने परवर्ती संरचनावादी धारा की मानव तटस्थ (dehumanized) प्रकृति को अपने सिद्धांत द्वारा मानव-सापेक्ष बनाया

और भाषावैज्ञानिकों की यांत्रिक और तकनीकी उपकरणों के स्थान पर मानव-मन के भीतर चलने वाली अधिगम प्रक्रिया तथा भाषा नियमों के सर्जनात्मक प्रयोग की बात उठाई, पर यह भी उतना ही सच है कि उन्होंने मानव को मात्र 'जैविक' (biological) इकाई माना। भाषा के संदर्भ में जिस सर्जनशील मानव-मन की बात चाम्स्की उठाते हैं अथवा सहजात वृत्तियों की व्यवस्था की जिस सार्वभौमिकता (universality) की ओर वह संकेत देते पाए जाते हैं वह अपने शुद्ध रूप में मानव-मन की जैविक अभिलक्षणों द्वारा युक्त है। यही वजह है कि मानव-मन की बोधात्मक प्रकृति को बाधित एवं प्रभावित करने वाले उन सभी सामाजिक (social) और संप्रेषणपरक (communicative) अभिलक्षणों को वे अपने भाषावैज्ञानिक सिद्धांत के दायरे में लाने के पक्ष में नहीं जो सार्वभौमिक व्याकरण का व्याकरण विशेष या समाज-संदर्भित करते हैं। सामाजिक अर्थ अथवा व्याकरण के प्रति सामाजिक दृष्टि को यह कहकर परे हटाने का उनका प्रयत्न रहा कि सहजात वृत्तियों की शुद्ध अवस्था को वे दूषित करते हैं या आदर्श वक्ता (ideal speaker) की भाषिक क्षमता में मिलावट पैदा करने के कारण सार्वभौमिक व्याकरण का पता देने में बाधा उत्पन्न करते हैं।

सस्यूर के लाँग-पारोल के समानांतर ही चाम्स्की ने भाषिक-क्षमता (competence) और भाषिक-व्यवहार (performance) की संकल्पना को सामने रखा। भाषिक क्षमता का संबंध भाषायी व्यवस्था की वह व्यक्त जानकारी है जो मानव होने के नाते व्यक्ति के पास होती है और जिसके संदर्भ में व्यक्ति असंख्य वाक्यों को बोलने-समझने में समर्थ है। भाषिक व्यवहार से तात्पर्य संदेश के कोडीकरण (encoding) और विकोडीकरण (decoding) प्रक्रिया से रहता है। ध्यान देने की बात है कि 'लाँग' की तरह चाम्स्की की भाषिक क्षमता को ही भाषाविज्ञान का उद्दिष्ट विषय मानते हैं पर जब सस्यूर 'लाँग' और 'पारोल' में एक द्वन्द्वात्मक स्थिति मानते हैं, चाम्स्की भाषिक व्यवहार ( performance) को ऋणात्मक मानकर उसे सिद्धांत के लिए 'अवशेष' सामग्री और भाषिक क्षमता का 'स्खलित' और 'विषय' संस्करण मानते हैं। भाषिक व्यवहार से मुक्त और भाषा-प्रयोग को सामाजिक/संप्रेषण स्थितियों से तटस्थ कर ही चाम्स्की भाषा (भाषिक व्यवस्था/क्षमता) को समरूपी (homogeneous) सिद्ध करते हैं।

चाम्स्की के सिद्धांत के अनुसार अगर भाषाविज्ञान का सैद्धांतिक लक्ष्य सार्वभौमिक व्याकरण की खोज और उसके संदर्भ में मानव-मन की भाषिक

क्षमता एवं संभावित स्कीम (potential schemata) पर प्रकाश डालना है तो भाषाविज्ञान का व्यावहारिक विश्लेषणात्मक लक्ष्य कथ्य (sense) और अभिव्यक्ति (sound) के अंतस्संबंधों की छानबीन है। भाषा के प्रत्येक वाक्य की कथ्यपरक एक आभ्यंतर संरचना (deep structure) और अभिव्यक्तिपरक एक बाह्‌य संरचना (surface structure) होती है। रचनांतरण नियम का कार्य वस्तुतः आभ्यंतर संरचना को बाह्‌य संरचना में रूपांतरित करना है। रचनांतरण नियम के फलस्वरूप ही एक कथ्य की कई अभिव्यक्तियाँ संभव हैं अथवा एक अभिव्यक्ति कई कथ्यों के रूप में सिद्ध रह कर संदिग्धता को जन्म दे पाती है। यहाँ सवाल रचनांतरण नियमों की अपनी प्रकृति का ही नहीं वरन् उनके प्रयोग के कारणों का भी है। निश्चय ही कई विकल्पों में से किसी एक रचनांतरण नियम का चुनाव उन सभी सामाजिक संदर्भों की जानकारी की माँग करता है जो परिस्थिति, वक्ता, श्रोता, विषय-वस्तु आदि से सापेक्ष होते हैं। चाम्स्की ने रचनांतरण नियमों की सामाजिक अर्थवत्ता को न केवल कोई उचित महत्व देने का प्रयत्न किया बल्कि उसे भाषाविज्ञान के लिए अनुपयोगी और सारहीन सिद्ध करते हुए नकारने का भी प्रयत्न किया।

**भाषिक समरूपता : भाषाभेद**

चाम्स्की ने भाषाभेद को भाषाविकार के रूप में देखा। पर पिछले दो-तीन दशकों में भाषाविज्ञान की एक धारा भाषा की प्रकृति को समरूपी (homogeneous) मानने की अपेक्षा विषम रूपी (heterogeneous) मानने के पक्ष में रही। इस मत के अनुसार भाषा अपने अमूर्त और कल्पित रूप में ही एक व्याकरण (समरूपी भाषा-व्यवस्था) की धारणा को सामने लाती है। अन्यथा जितने प्रकार के भाषाभेद दिखलाई पड़ते हैं उन सभी से संबद्ध एक व्याकरण मिलता है। अतः किसी भाषा विशेष का व्याकरण मूलतः भाषा प्रयोग संदर्भित भाषाभेदों के व्याकरणों का समूह (sheaf of grammars) होता है।

भाषाभेद के कई आयाम हो सकते हैं—व्यक्तियों के सामाजिक स्तरभेद (निम्न, मध्य और उच्चवर्ग), शैक्षिक स्तरभेद (अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित, शिक्षित), माध्यमभेद (मौखिक, लिखित), व्यवहार क्षेत्रभेद (बाजार, घर, वाणिज्य, कानून, विज्ञान आदि)। इन सभी आयाम और संदर्भों में जिस प्रकार भाषा बदलती है, उसी प्रकार उसका व्याकरण भी। इन भाषाभेदों के आधार पर मानव संबंधों/सामाजिक उपवर्गों की भाषिक संप्रेषण व्यवस्था को समझने के परिणाम स्वरूप ही भाषाविज्ञान के संदर्भ में 'सामाजिक शैली',

'प्रयुक्ति/रजिस्टर,' व्यवहार क्षेत्र (domain) आदि संकल्पनाओं का प्रयोग किया गया और इन्हीं संकल्पनाओं के आधार पर भाषा-वैविध्य को व्यवस्था-बद्ध करने का प्रयत्न हुआ। इस विचारधारा के अनुसार भाषा वैविध्य हर भाषा की नियति है और भाषाभेद की वास्तविकता को मान कर ही भाषा-सिद्धांत का निर्माण करना उचित है। इसने संरचनावादी विचारधारा की इस धारणा का जोरदार खंडन किया कि केवल आंतरिक रूप से समरूपी भाषा-व्यवस्था का ही वैज्ञानिक और सुसंगत विवेचन संभव है।

भाषा की संप्रेषण व्यवस्था के व्यापक प्रसंग में देखने वाले विद्वानों ने न केवल किसी एक भाषा के भीतर पाए जाने वाले भेद और विकल्पन (variations) को अपने अध्ययन-सामग्री के भीतर समेटा, वरन् भाषा और भाषा में भेद करते हुए संप्रेषण लक्ष्य और संप्रेषण प्रकार के आधार पर पूरी भाषा की सामाजिक अर्थवत्ता पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। स्टिवर्ट ने आंतरिक व्यवस्था और प्रकृति के आधार पर भाषा-प्रकार (language types) तथा भाषा-प्रयोजन और सामाजिक प्रयोग के आधार पर भाषा-प्रकार्य (language functions) के संदर्भ एवं भाषाभेदों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। जिन चार अभिलक्षणों के आधार पर उन्होंने भाषा-प्रकार के रूप में मानक (standard) भाषा, वरेण्य (classical) भाषा, अवभाषा (vernacular), क्रिओल (creole), पिजिन, (pidgin), कृत्रिम (artificial) भाषा और बोली (dialect), ऐसे सात वर्गों को परिभाषित किया, वे हैं—

(1) **ऐतिहासिकता :** भाषा वस्तुतः प्रयोग प्रक्रिया का सहज परिणाम है या नहीं,

(2) **मानकीकरण :** भाषा के लिए कोई व्याकरणिक और कोषगत ऐसी कोडबद्ध नियमावली है या नहीं जिसे उस भाषा के प्रयोगकर्ता औपचारिक स्तर पर स्वीकार करते और भाषा सीखने के समय व्यवहार में लाते हों।

(3) **जीवंतता :** भाषा को व्यवहार में लाने वाले मातृभाषा भाषियों का कोई भाषा-समाज है या नहीं, और

(4) **स्वायत्तता :** प्रयोग के अपने सामाजिक प्रकार्य में वह किसी अन्य भाषा की मुखापेक्षी है या नहीं।

इन चार अभिलक्षणों के अनुपातिक संबंधों के आधार पर भाषा-प्रकार की सात स्थितियों को समझा जा सकता है।

| अभिलक्षण→ भाषा प्रकार ↓ | ऐतिहासिकता (Historicity) | मानकीकरण (Standardization) | जीवंतता (Vitality) | स्वायत्तता (Autonomy) |
|---|---|---|---|---|
| 1. मानक भाषा | + | + | + | + |
| 2. वरेण्य भाषा | + | + | — | + |
| 3. अवभाषा | + | — | + | + |
| 4. बोली | + | — | + | — |
| 5. कृत्रिम भाषा | — | + | — | + |
| 6. क्रियोल | — | — | + | — |
| 7. पिजिन | — | — | — | — |

इसी प्रकार भाषा-प्रकार्य के आधार पर भाषाओं के सात प्रयोजनसिद्ध रूप मिल सकते हैं—(1) राजभाषा (official language) (2) वर्ग भाषा (group language) (3) संपर्क भाषा (language of wider communication) (4) शैक्षिक भाषा (educational language) (5) साहित्यिक भाषा (6) धार्मिक भाषा (7) तकनीकी भाषा।

भाषाविज्ञान की इस धारा ने भाषा को समाज-सापेक्ष बनाया और भाषायी प्रयोगों के सामाजिक संदर्भों पर ध्यान देने के कारण भाषा-वैविध्य के भीतर एक निश्चित पैटर्न देखा। इस धारा के लिए भाषा विकल्पन/परिवर्त (variation) न केवल भाषा विकास का प्रभावकारी उपकरण होता है अपितु वह सामाजिक अर्थ का प्रकाशक भी होता है, वह न तो भाषिक क्षमता को दूषित या स्खलित करता है और न ही भाषा-व्यवस्था को खंडित। इस विचार-धारा के अनुसार तो विकल्पना प्रयोग (variable usage) संबंधी तथ्य, भाषा-व्यवस्था को संपूर्णता में देखने के लिए ठोस आधार प्रदान करता है और साथ ही भाषा के ऐतिहासिक विकास के अब तक के कई अंतर्विरोधी वक्तव्यों का निराकरण करने में सहायता देता है। वाइनराइख, लेबॉव और हर्जग का यह स्पष्ट विचार है—

We will, finally, suggest that a model of language which accommodates the facts of variable usage and its social and stylistic determinants not only leads to more adequate descriptions of language competence, but also naturally yields a theory of language change that bypassed the fruitless paradoxes with which historical linguistics has been struggling for over half a century...........................

इस विचारधारा की यह मान्यता रही है कि भाषा-व्यवस्था और भाषा-व्यवहार में सुनिश्चित विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं क्योंकि ये हमेशा द्वन्द्वात्मक स्थिति में सक्रिय होते हैं। इसी प्रकार भाषा-व्यवस्था स्वायत्त रहकर भी संप्रेषण व्यापार की अन्य व्यवस्थाओं के साथ संबद्ध होने के कारण सुनिर्दिष्ट नहीं होती, कम से कम अपनी सीमा पर यह स्पष्ट न होकर धूमिल होती है। इसका एक कारण यह भी है कि संप्रेषण व्यापार की विभिन्न व्यवस्थाएँ अपने पारस्परिक संबंधों में सहस्थिति/सहगामिता (co-occurence) को ही पुष्ट करती हों—यह जरूरी नहीं। उनमें सह-संकल्पन (covariation) की वह स्थिति भी देखी जाती है जो अवलंबित संबंधों की माँग करती है अर्थात् अगर 'क' का प्रयोग हुआ तो संभावना 'ख' के प्रयोग की है न कि 'ग' की।

**भाषा समाज : भाषा व्यवस्था**

चाम्स्की ने भाषा-व्यवस्था की क्षमता को मानव-मन में अज्ञात भाव से चल रहे अधिगम की स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम बताया था। पर न तो मानव-मन मात्र जैविक अभिलक्षणों से युक्त रहता है और न भाषा-व्यवस्था ही संदर्भच्युत होती है। भाषा तथ्य और उसके प्रयोग को व्यक्ति सामाजिक संदर्भों के साथ मन पर झेलता है। इसलिए वह केवल भाषा को संरचनात्मक व्यवस्था संबंधी नियमों की ही क्षमता नहीं विकसित करता, वरन् उसके प्रयोग संबंधी नियमों की दक्षता भी रखता है। 'तू/तुम/आप' में किसे विकल्प से चुनें, कहाँ अनुरोध और कहाँ आज्ञा का प्रयोग करें, आदि तथ्यों की जानकारी भी भाषा प्रयोगकर्ता के लिए आवश्यक है। इसलिए चाम्स्की द्वारा प्रस्तावित भाषिक क्षमता की प्रक्रिया को निम्नलिखित ढंग से संशोधित किया गया :
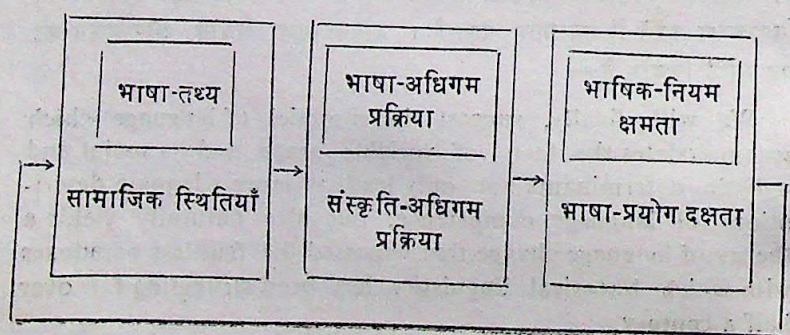
भाषा-प्रयोग दक्षता का सिद्धांत एक ओर मानव को मात्र जैविक न मानकर 'सामाजिक' मानने का आग्रह रखता है और दूसरी तरफ भाषा-व्यवस्था को व्यापक संप्रेषण क्षमता के संदर्भ से जोड़ने के परिणाम स्वरूप देश, काल, पात्र, विषय-वस्तु आदि तथ्यों की यथार्थता को स्वीकार करता है। इसलिए भाषा-व्यवस्था संबंधी क्षमता को समरूपी न मानकर वह व्यावर्तक मानता है। यह व्यावर्तक क्षमता केवल **व्याकरणिकता** (grammaticality) की संकल्पना के आधार पर नहीं समझी जा सकती। इसके लिए भाषा प्रयोग संबंधी **स्वीकार्यता** (acceptability), **औचित्य** (appropriability) और **आवृत्ति/बारंबारिता** (usability) की धारणा को भी अपने सिद्धांत में स्थान देना आवश्यक है। संप्रेषण कथ्य को सामान्य व्याकरणिक नियमों से बाँधने की शक्ति को भाषिक क्षमता कहा जा सकता है, पर संदर्भों के औचित्य श्रोता/समाज द्वारा वाक्य की स्वीकृति की संभावना और शैलीपरक विशिष्टता के आधार पर उसे भाषाबद्ध (कोडीकरण) करना भाषिक दक्षता कही जाएगी। सही संप्रेषण और उचित बोधन के लिए यह जरूरी है कि भाषा-प्रयोग के जिस औचित्य से बाधित भाषिक नियमों का व्यवहार वक्ता करता है उसकी जानकारी श्रोता को भी हो। अन्यथा वह भाषाबद्ध कथ्य को सुनकर भी उसकी सार्थकता को पकड़ने में असमर्थ रह सकता है।

आज जिस समाज-भाषाविज्ञान की चर्चा की जाती है उसकी मूल स्थापनाओं के उचित संदर्भ को जान लेना आवश्यक है। उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ असंदिग्ध रूप से मान्य हैं—

(1) समाज-भाषाविज्ञान समाजशास्त्र और भाषाविज्ञान के मात्र अवमिश्रण का परिणाम नहीं और न ही उसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था और भाषिक व्यवस्था के बीच सहसंकल्पना की स्थिति पर प्रकाश डालना है। वह यह मानकर चलता है कि भाषा, समाज-सापेक्ष प्रतीक व्यवस्था है और उसकी प्रकृति में ही सामाजिक तत्व अंतर्भुक्त रहते हैं। प्रतीकीकरण की प्रक्रिया एक ओर मनुष्य और उसके बाह्य वातावरण और दूसरी तरफ मनुष्य और समाज के अंतस्संबंधों की अनिवार्यता से जुड़ी रहती है इसीलिए लेबॉव की यह मान्यता है कि समाज-भाषाविज्ञान ऐसी कोई चीज नहीं क्योंकि समाज-भाषाविज्ञान ही तो 'भाषाविज्ञान' है।

(2) मनुष्य के अन्य बोधात्मक सामर्थ्य (cognitive capacity) से काट कर उसके भाषिक सामर्थ्य की चर्चा अधूरी दृष्टि का परिणाम है। निश्चित

सामाजिक संदर्भों में उचित भाषाप्रयोग की क्षमता भी मनुष्य के संप्रेषण सामर्थ्य के केंद्र में उसी प्रकार होती है जिस प्रकार किसी वाक्य के व्याकरण सम्मत रूप के निर्माण की क्षमता। इसीलिए भाषासंबंधी क्षमता के दायरे का विस्तार भाषा-व्यवहार संबंधी नियमों तक करना अनिवार्य है। भाषा-व्यवस्था संबंधी क्षमता तो व्यापक संप्रेषण क्षमता का केवल एक अंश है।

(3) संप्रेषण क्षमता की संकल्पना सामाजिक और समग्र (total) मानव की धारणा को सामने उभारती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि संप्रेषण क्षमता का विस्तार इस सीमा तक किया जाए कि उसके भीतर कोड और शैली परिवर्तन की भाषिक दक्षता भी समाहित हो जाए।

सस्यूर ने भाषा को प्रतीकों की व्यवस्था कहकर उसे एक स्वायत्त इकाई माना था। लेकिन एक तरफ तो संप्रेषण व्यापार की अन्य व्यवस्थाओं से आंतरिक स्तर पर जुड़े होने के कारण इसके 'पूर्ण स्वायत्त' होने की स्थिति को शंकालु दृष्टि से देखा जाने लगा है और दूसरी तरफ संप्रेषण व्यवस्था को समाज-सापेक्ष मानने की अपेक्षा सामाजिक व्यापार की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में देखने का आग्रह बढ़ा है। इस समय भाषा-समाज (speech community) को इकाई मानकर संपूर्ण संप्रेषण व्यवस्था के संदर्भ में किसी भाषा को देखना अधिक सार्थक दृष्टि समझी जाती है।

प्रयोजन सिद्ध होने के कारण न केवल भाषा विभिन्न शैलियों के समूह के रूप में प्रतिफलित होती है वरन् भाषासमाज की एक व्यापक संप्रेषण-व्यवस्था का अंग होने के कारण उसका प्रयोग अन्य भाषाओं के प्रयोग के साथ जुड़ा भी हो सकता है। किसी भाषा-समाज के लिए इसीलिए यह कोई आवश्यक शर्त नहीं कि उसके सदस्य केवल एक ही भाषा का प्रयोग करते हों। जरूरी है तो केवल यह कि संप्रेषणपरक अनेक उपव्यवस्थाओं के बीच संपर्क स्थिति को साधने वाली एक समान-भाषा हो और उपव्यवस्थाओं के व्यावहारिक संचालन संबंधी उस समाज में एकसमान दृष्टि हो। किसी भाषा-समाज की संप्रेषण-व्यवस्था को समग्रता में देखने के लिए ही इस धारा ने भाषायी कोश (verbal repertoir) और कोड मैट्रिक्स (code-matrix) आदि अवधारणाओं और कोड/शैली परिवर्तन (code-style-switching) आदि प्रक्रियाओं को अपने सिद्धांत में स्थान दिया है। उदाहरण के लिए जिसे हम हिंदी भाषा-समाज कहते हैं उसका भाषायी कोश, दो या दो से अधिक बोलियों (पारिवारिक और क्षेत्रीय स्तर की भाषा), हिंदुस्तानी, हिंदी की दो

आरोपित साहित्यिक शैलियों तथा उच्च वर्ग के शिक्षित समुदाय में अंग्रेजी भाषाओं से संक्रमित है। बोली, शैली और भाषा—ये हिंदी भाषा समाज की संप्रेषण व्यवस्था में इस प्रकार ग्रथित है कि उनमें कोड/शैली परिवर्तन सहज प्रक्रिया के रूप सिद्ध दिखलाई पड़ता है।

(4) भाषाविज्ञान की इस धारा के पहले 'वाक्य' को भाषा की महत्तम इकाई माना जाता रहा है। 'वाक्य' से ऊपर किसी इकाई की अगर बात उठाई भी गई तो भी उसके मूल में वाक्य की सत्ता ही रखी गई। इस धारा के पूर्व इसीलिए 'वाक्यबंध' (discourse) की संकल्पना को वाक्य-अनुबंधित संरचना कहा गया। पर इस विचाराधारा की मान्यता है कि संप्रेषण व्यापार की आधारभूत सार्थक इकाई 'शाब्दिक घटना' (speech event) है। व्याकरण के लिए जिस प्रकार 'वाक्य' एक आधारभूत सार्थक संरचनात्मक इकाई है उसी प्रकार संप्रेषण व्यवस्था की संरचनात्मक इकाई यह 'शाब्दिक घटना' होती है। यह इकाई भाषित रूटिन (routine) की उस संकल्पना को उभारती है जो वक्ता और श्रोता के बीच के उस प्रतीक व्यापार को क्रमिक श्रृंखला में बाँधती है जो वाक्य के स्तर से ऊपर का होता है और वाक्य जिसका मात्र एक घटक (constituent) होता है।

(5) भाषा अपनी प्रकृति में ही विषम रूपी होती है और इसीलिए विकल्पन (variation) और भाषा विभेदन (differentiation) उसके अनिवार्य अभिलक्षण हैं। ये स्थितियाँ भाषा की स्वाभाविक प्रकृति के परिणाम हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भाषा-व्यवस्था के भीतर ही कुछ अवैकल्पिक (invariable) और कुछ वैकल्पिक (variable) नियम होते हैं जो आपस में संबद्ध होकर स्तरीकृत समाज की संप्रेषण-व्यवस्था में इस प्रकार ग्रथित होते हैं कि एक के संदर्भ के अभाव में दूसरे को समझना संप्रेषण-व्यापार की समग्र दृष्टि को झुठलाने जैसा लगने लगता है। इन वैकल्पिक नियमों को पहले की विचारधारा ने स्वतंत्र विकल्पन (free variation) कह कर यादृच्छिक घोषित किया था, पर इस चिंतनधारा ने उसे व्यक्तियों के सामाजिक आचरण और भाषा के शैली भेद से जोड़ कर न केवल उसे व्यवस्थापरक बताया वरन् भाषा के जीवंत इतिहास को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में भी देखा।

× × ×

इस संकलन के लेखों की विशेषता यह है कि वे हिंदी भाषा के सामाजिक संदर्भ के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। इनके लेखक केंद्रीय हिंदी संस्थान

के दिल्ली कैंपस के मेरे सहयोगी अध्यापक हैं। शोध के रूप में ये लेख किसी सैद्धांतिक मान्यता का प्रतिपादन या उसका उद्घाटन ही करते हों—ऐसी बात नहीं। पर यह अवश्य है कि वे किसी रूप में हिंदी भाषा के सामाजिक पक्ष अथवा समाज-भाषाविज्ञान की दृष्टि से हिंदी भाषा की संरचनागत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। इन लेखकों का संबंध प्रमुखत: अन्य भाषा के रूप में हिंदी के शिक्षण-प्रशिक्षण से रहा है इसलिए शोध के कुछ ऐसे भी आयाम इनमें देखने को मिलते हैं जो अन्य भाषा समाज के व्यक्तियों को तो विशिष्ट दिखलाई देते हैं पर हिंदी भाषा समाज के लिए सहज होने के कारण उनका ध्यान नहीं आकर्षित कर पाते। ध्यान इस बात पर दिया गया है कि समाज-भाषाविज्ञान की आधारभूत संकलपनाएँ तो स्पष्ट हो ही जाएँ, उन संकलपनाओं के आधार पर हिंदीभाषा की उन संरचनात्मक विशेषताओं पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ जाए जो हिंदी भाषासमाज के संस्थागत अभिलक्षण हैं। आशा है, लेखकों का यह प्रयास हिंदी भाषा को एक सही सामाजिक संदर्भ में देखने की दृष्टि देगा।

—रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

# भाषासमुदाय के संदर्भ में हिंदी

**—मोहनलाल सर**

ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार भाषा-समुदाय व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जिसके सदस्य समान वाक्-संकेतों का प्रयोग करते हैं। वाक्-संकेतों की समानता समुदाय में भाषा की एकरूपता का भ्रम उत्पन्न कर सकती है। किंतु ब्लूमफ़ील्ड का कहना है कि "समुदाय के कोई भी दो सदस्य समान रूप से नहीं बोलते। व्यक्ति-विशेष भी विभिन्न अवसरों पर विभिन्न रूपों में बोलता है" (ब्लूमफ़ील्ड 1935 : 45)। इसके अतिरिक्त एक भाषा-समुदाय में कई बोलियाँ हो सकती हैं जो आपस में एकरूप नहीं होतीं। इन बोलियों के व्याकरण भी भिन्न हो सकते हैं। इसलिए भाषा-समुदाय की भाषा एकरूपी न होकर विषमरूपी होती है यद्यपि ये भिन्नताएँ इतनी अधिक नहीं होतीं कि समीप की बोलियों के पारस्परिक बोधगम्यता में बाधा पड़े।

भाषा-समुदाय की भिन्नताओं को नियमित करने के लिए संरचनात्मक भाषाविज्ञान में व्यक्ति-बोली की संकल्पना की गई। व्यक्ति विशेष की भाषा उसकी व्यक्ति-बोली होती है। हाकेट (1958 : 321) के अनुसार "किसी निश्चित समय पर व्यक्ति विशेष का संपूर्ण वाग्-व्यवहार उसकी व्यक्ति-बोली है।"[1] समुदाय के सदस्यों की व्यक्ति-बोली में उसी अनुपात में समानता होती है जिस अनुपात में वे आपस में भाषायी विचार-विनिमय करते हैं। अर्थात्, संप्रेषण की सघनता व्यक्ति-बोली की समानता का आधार है। जिन व्यक्तियों के बीच जितना अधिक भाषायी संपर्क होगा उनकी व्यक्ति-बोलियों में उतनी ही कम भिन्नताएँ होंगी, और जिन व्यक्तियों के बीच जितना कम भाषायी संपर्क होगा उनकी व्यक्ति बोलियों में उतनी ही अधिक भिन्नताएँ होंगी।

व्यक्ति-बोली की संकल्पना ने संरचनात्मक भाषाविज्ञान का कार्य काफी सरल कर दिया। भाषा के संरचनात्मक विश्लेषण के लिए एकरूपी सामग्री की आवश्यकता थी। यह सामग्री व्यक्ति-बोली से उपलब्ध हुई। संरचनात्मक भाषाविज्ञान में इसी सामग्री का विश्लेषण करके भाषा अथवा बोली की संरचना समझाई जाती है। व्यक्ति-बोलियों का वह समूह जिसमें पारस्परिक

बोधगम्यता ही बोली कहलाती है। हाकेट के अनुसार बोली और भाषा दोनों ही लगभग समान व्यक्ति-बोलियों का समूह है। "दोनों में अंतर केवल यह है कि बोली की व्यक्ति-बोलियों में भाषा की व्यक्ति-बोलियों की अपेक्षा अधिक समानता होती है।"[2] समानता से अभिप्राय यह है कि इनमें पारस्परिक-बोधगम्यता है। एक भाषा की सभी व्यक्ति-बोलियों में पारस्परिक-बोधगम्यता अवश्य होगी, अतः एक भाषा की सभी बोलियों में भी पारस्परिक-बोधगम्यता होगी। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिन बोलियों में पारस्परिक-बोधगम्यता है वे एक भाषा की बोलियाँ हैं। भारत में अनेक भाषाएँ हैं। निकट की सभी बोलियों में बोधगम्यता है; परंतु दूरस्थ बोलियों में बोधगम्यता नहीं है। एमिनो (1964 : 642) के अनुसार भारतीय भाषाओं में संरचनात्मक समानताएँ भी हैं, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि सारे भारत में एक ही भाषा बोली जाती है या सारा भारत एक भाषा-भाषी समुदाय है। बोधगम्यता को आधार मानकर भारतीय संदर्भ में भाषा अथवा भाषासमुदाय की परिभाषा संभव नहीं है। यहाँ इस बात की अधिक आवश्यकता है कि भारत को समाज के संदर्भ में देखा जाए।

संरचनात्मक भाषाविज्ञान के अंतर्गत किया गया विश्लेषण समय-सापेक्ष है। और यदि भाषा जीवंत है, यदि उसका प्रयोग किसी समाज में हो रहा है तो उसका एक प्रयोजनमूलक अथवा व्यवहार-पक्ष भी अवश्य होगा। समाज का सदस्य भाषा का प्रयोग प्रयोजन के कारण करता है। वह मात्र बोलने वाला प्राणी नहीं है। सस्यूर ने इस धारणा को बहुत पहले स्वीकार किया था कि मनुष्य एक बोलने वाला प्राणी है। उनके अनुसार मनुष्य वार्तालाप करता है। बोलने वाले तो कुछ पक्षी भी होते हैं—जैसे तोता और मैना, परंतु वे पक्षी वार्तालाप नहीं कर सकते। ब्लूमफ़ील्ड ने भी बोलचाल या संभाषण पर बल दिया है, केवल बोलने पर नहीं। समाज में वार्तालाप अथवा बोलचाल प्रयोजन को दृष्टि में रखकर होता है। भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रयोजनों के लिए भाषा-शैली का भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक है। एक अध्यापक जब कक्षा में पढ़ाता है तो एक विशेष प्रयोजन के लिए भाषा का प्रयोग करता है। वही अध्यापक अगर दुकानदार से सौदा लेता है तो प्रयोजन भिन्न होने के कारण उसकी भाषा में भी परिवर्तन होता है। इसी प्रकार एक वकील की भाषा अदालत में अलग होगी और घर या बाजार में अलग।

इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यवहार के धरातल पर व्यक्ति-बोली में भिन्नता आ जाती है । ये भिन्नताएँ केवल कार्य-क्षेत्र—जैसे स्कूल, बाज़ार, अदालत आदि बदलने से ही उत्पन्न नहीं होती अपितु पात्र-संबंध—जैसे अध्यापक-छात्र, दुकानदार-ग्राहक, वकील-अपराधी और प्रसंग—जैसे विषय विशेष की पढ़ाई, खरीदारी, मुकदमे की वकालत आदि बदलने से भी उत्पन्न होती हैं । कार्य-क्षेत्र समान होने पर भी यदि पात्र-संबंध बदलता है तो भाषा में परिवर्तन आता है । इसी प्रकार कार्य-क्षेत्र और पात्र-संबंध एक होने पर भी यदि प्रसंग बदल जाए तो भाषा भी बदल जाएगी । इसलिए व्यक्ति बोली भी एकरूप न होकर बहुरूपी होती है । श्रीवास्तव (1975 ए) के अनुसार "भाषा केवल संकलपना में ही एकरूपी है ।"[3] व्यक्ति-बोली की यह बहुरूपता सामाजिक संदर्भ से जुड़ी हुई है और यह भाषायी विविधता सामाजिक सूचनाएँ संवाहित करती है ।

समाज-भाषाविज्ञान इस बात की पुष्टि करता है कि भाषायी संप्रेषण में सामाजिक सूचनाएँ निहित होती हैं, इसीलिए सामाजिक संरचना और भाषा प्रयोग में संबंध है। गंपर्ज (1971 अनवर एस. दिल में) के अनुसार भाषा प्रयोग और सामाजिक संरचना का संबंध नियमित और निश्चित है । एक भाषा समुदाय में भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रयोजनों के लिए भिन्न-भिन्न वाग्-आचरण या वाग्-व्यवहार होते हैं ।[4] वाग्-आचरण के ये विभिन्न रूप समुदाय के सदस्य के स्वभाव में होते हैं । इन रूपों में सामाजिक परिवेश के अनुसार स्वभावतः परिवर्तन होता रहता है । यदि भाषासमुदाय में अनेक बोली-रूप न हों तो ये भिन्नताएँ ध्वनि-रूपों, वाक्य-रचना और शब्दकोश में होती हैं । अनेकबोली समुदाय में भी ये भिन्नताएँ हो सकती हैं । एकभाषा समुदाय में एक शब्द के बदले दूसरे शब्द का प्रयोग उसी प्रकार सामाजिक अर्थ संप्रेषित करता है जिस प्रकार अनेक बोली वाले भाषा-समुदाय में एक बोली के बदले दूसरी बोली का प्रयोग । भिन्नताएँ शैलीगत भी होती हैं। सामाजिक अर्थ संप्रेषित करने वाली इन भिन्नताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि एक भाषा-समुदाय में केवल एक ही भाषायी कोड नहीं होता । वहाँ एक से अधिक कोड होते हैं जिनका प्रयोग सामाजिक संदर्भों से नियंत्रित है । यह भाषा-समुदाय का कोड मैट्रिक्स (Code Matrix) कहा जाता है ।

किसी भाषा-समुदाय विशेष में प्रयोजनपरक दृष्टि से महत्वपूर्ण सभी कोड उस समुदाय के कोड मैट्रिक्स कहे जाते हैं ।

भाषासमुदाय के कोड मैट्रिक्स को चित्र द्वारा प्रकट किया जा सकता है।
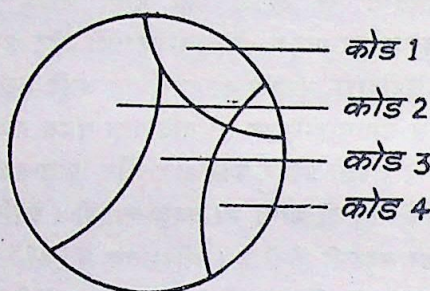
**भाषा-समुदाय 'क' का मैट्रिक्स कोड**

भाषासमुदाय के विभिन्न कोडों को निश्चित सीमा रेखा द्वारा पृथक करना कठिन है। कहीं कहीं इनका क्षेत्र समान भी हो सकता है। तब सामाजिक सूचनाएँ स्पष्ट रूप से संप्रेषित नहीं होतीं। इन सूचनाओं के संप्रेषण के लिए समुदाय के सदस्य विभिन्न कोडों को संदर्भों के अनुसार प्रयोग में लाते हैं। इसलिए समुदाय के सदस्यों की संपत्ति भाषा नहीं बल्कि **भाषायी कोश** (verbal repertoire) है।

एकभाषा-भाषी समुदाय द्वारा निरंतर रूप से प्रयोग में लाई जाने वाली संपूर्ण बोलियाँ और अन्य भाषायी विधाओं का समूह उस समुदाय का भाषायी कोश कहलाता है।

भाषा का कोड मैट्रिक्स जितना व्यापक होगा भाषा उतनी ही समृद्ध होगी। अर्थात् भाषा के द्वारा जितने अधिक सामाजिक प्रयोजन पूरे किये जाते हों भाषा उतनी ही विकसित होगी। 'पिजन भाषा' कुछ सीमित सामाजिक प्रयोजनों की भाषा होती है इसलिए वह एक समृद्ध भाषा नहीं होती। गंपर्ज के अनुसार पिजन व्यक्तिगत मित्रता की भाषा नहीं हो सकती। (गंपर्ज 1971 : 125 अनवर एस. दिल में)।

अतः भाषासमुदाय एक विषमरूपी इकाई है। यदि समुदाय बहु-बोली समुदाय है तो कोई भी एक बोली लोक-मान्यता प्राप्त करके सारे समुदाय में प्रयुक्त होती है और सम्मानित बोली या भाषा बन जाती है। यह भाषा इन्हीं बोलियों में कोई हो सकती है या इन बोलियों के बाहर कोई अन्य भाषा हो सकती है। यदि यह भाषा बोलियों में से एक है तो मानक रूप प्राप्त होने के

साथ-साथ वह उस बोली से भी भिन्न हो जाती है। समुदाय में सभी औपचारिक अवस्थाओं पर उसी भाषा का प्रयोग होता है। साहित्य के क्षेत्र में भी यही भाषा प्रतिष्ठित हो जाती है।

यह आवश्यक नहीं है कि भाषासमुदाय का आकार सदा एक सा रहे। बहु-बोली समुदाय में किसी भी बोली के बोलने वाले समुदाय की भाषा के प्रति निष्ठा छोड़ कर अपनी बोली के प्रति अधिक निष्ठावान हो सकते हैं। इस अवस्था में समुदाय का क्षेत्र सीमित हो जाता है। दूसरी अवस्था में भाषा समुदाय के बाहर की कोई बोली उस भाषासमुदाय की भाषा के प्रति निष्ठावान होने लगती है। ऐसी अवस्था में समुदाय का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।

हिंदी-भाषी-समुदाय एक बहु-बोली समुदाय है। भौगोलिक दृष्टि से इसकी सीमाएँ पंजाबी, गुजराती, मराठी और बंगाली भाषा-भाषी समुदायों को छूती हैं। इस समुदाय के समीप की सभी बोलियों में पारस्परिक बोधगम्यता है, परंतु दूरस्थ बोलियों में बोधगम्यता नहीं है। मारवाड़ी बोलने वाला मगही नहीं समझ सकता और न ही मगही बोलने वाला मारवाड़ी समझ सकता है। इस समुदाय में खड़ी बोली सम्मानित बोली है। सारे समुदाय में भाषायी एकात्मकता भाषा के रूप में मानक हिंदी के साथ है जिसका आधार खड़ी बोली है। भाषायी नवीनताओं का उद्भव इसी भाषा द्वारा होता है और फिर ये नवीनताएँ सारे समुदाय में फैलती हैं। उन सभी सामाजिक संदर्भों में जिनके लिए शिष्ट, औपचारिक अथवा साहित्यिक पक्षों की अपेक्षा रहती है, बोलियों के स्थान पर मानक हिंदी का प्रयोग होता है। बोलियाँ तो केवल घरेलू स्थितियों अथवा स्थानीय संदर्भों के लिए प्रयोग में लायी जाती हैं जो अपनी प्रवृत्ति में केंद्रोन्मुखी होती हैं। इस के साथ प्रयुक्त होने वाली हिंदी स्थानीय क्षेत्रों की सीमा तोड़ कर उस प्रवृत्ति के साथ फैलती है जो केंद्रापसारी हैं। गंपर्ज (1960, अनवर एस. दिल, 1971 में) के अनुसार हिंदी क्षेत्र में भाषा-भेद के तीन स्तर हैं जो सामाजिक प्रयोजनों से नियमित हैं। निम्न स्तर पर स्थानीय या ग्रामीण बोली का प्रयोग होता है। ये सभी बोलियाँ एक शृंखला बनाती हैं अर्थात् निकट की बोलियों में बोधगम्यता है। इस शृंखला के ऊपर उपभाषाएँ हैं। भाषा भेद की दृष्टि से यह दूसरा स्तर है। यदि कुछ ग्रामीण बोलियों का कोई एक व्यापार-विनिमय या विचार-विनिमय का केंद्र है तो वहाँ इस उपभाषा का प्रयोग किया जाता है। इसी उपभाषा के रूप में अपने-अपने

उपभाषायी क्षेत्रों में ब्रज या अवधी का मानक रूप निर्धारित होता है। परंतु ये मानक रूप अपने उपभाषायी क्षेत्रों से बाहर नहीं आते। इन क्षेत्रों से बाहर आने की केंद्रापसारी शक्ति उच्च स्तर की भाषा यानी मानक हिंदी में है। इस भाषा भेद को चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। श्रीवास्तव
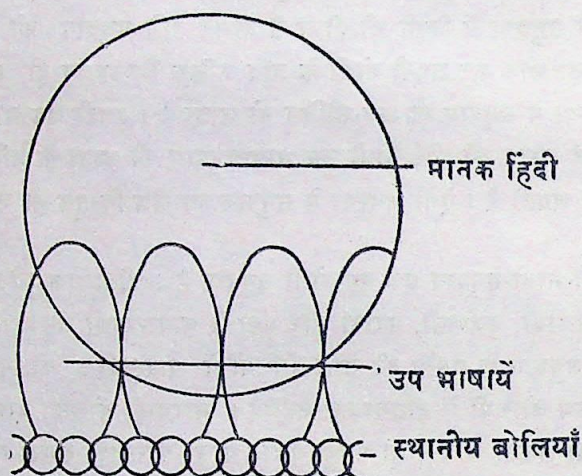
(1975 बी. 76) के अनुसार "यह भाषा भेद जिस प्रकार सीमावर्ती गाँवों की बोलियों में दिखाई देता है। उसी प्रकार सामाजिक स्तर भेद की भी एक क्रमिक सीढ़ी दिखाई देती है। हर स्तर अपने सीमावर्ती स्तर की भाषा अथवा शैली से परिचित रहता है।"

राजनैतिक दृष्टि से हिंदी भारत के सात राज्यों—हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश और बिहार की राजभाषा है। हिंदी की बोलियाँ मुख्यत: इन्हीं राज्यों में बोली जाती हैं। सात राज्यों के तदर्थ हिंदी क्षेत्र का आरेख बोलियों के संदर्भ में अलग से प्रस्तुत है। मानक हिंदी इस क्षेत्र के प्राय: सभी भाषा-भाषी समझते हैं। गंपर्ज (1971 : 19 अनवर एस. दिल में) के प्रयोग के अनुसार करनाल (हरियाणा) के कुछ लोग मानक हिंदी ठीक से नहीं समझ सके थे। परंतु ठीक अर्थ न समझने से यह नहीं सिद्ध होता कि भाषा नहीं समझी गई है। ठीक अर्थ न लगाने का कारण सामाजिक अनुभव की कमी है। स्थानीय सामाजिक अनुभव के आधार पर 'स्वास्थ्य प्रतियोगिता' वाक्यांश का अर्थ 'कुश्ती' समझना स्वाभाविक है,

क्योंकि स्थानीय सामाजिक अनुभव कुश्ती के अधिक निकट है। बच्चों के स्वास्थ्य की जांच पड़ताल करके उनके स्वास्थ्य का स्तर स्थापित करना एक नया सामाजिक अनुभव है।

सामाजिक प्रयोजनों के संदर्भ में देखने पर हिंदी भाषासमुदाय की संकल्पना और स्पष्ट हो जाएगी। शिक्षा प्राप्ति एक सामाजिक प्रयोजन है। सारे हिंदी क्षेत्र में साक्षर होने का अभिप्राय है मानक हिंदी सीखना। स्कूल जाने पर भाषा के रूप में विद्यार्थी अपनी बोली नहीं बल्कि हिंदी सीखते हैं जो उनकी बोलियों से भिन्न होती है। प्रारंभिक कक्षाओं में हो सकता है कि अन्य विषय स्थानीय बोली में समझाए जाएँ, परंतु माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में सारे क्षेत्र में हिंदी शिक्षा का माध्यम है। उच्च शिक्षा के लिए भी इस क्षेत्र के बहुधा नगरों में हिंदी ही सभी विषयों का माध्यम है, परंतु तकनीकी और वैज्ञानिक उच्च-शिक्षा के लिए इस क्षेत्र में भी अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम है। इस का विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है। ऐसे विवेचन से हम हिंदी-समुदाय के केवल उस छोटे से वर्ग की बात कर पाएँगे जो द्विभाषी (हिंदी-अंग्रेजी) है।

न्याय-प्राप्ति की प्रक्रिया में भी बोली और भाषा का प्रयोग इसी प्रकार होता है (श्रीवास्तव, 1975ए)। इसी प्रकार समाज के सभी क्षेत्रों में प्रारंभिक अथवा स्थानीय कार्य स्थानीय बोली में होते हैं और आगे चलकर हिंदी भाषा का प्रयोग होता है। घर में यदि स्थानीय बोली में संप्रेषण होता है तो समाज में आकर हिंदी का प्रयोग किया जाता है। यदि एक मगही बोलने वाला मारवाड़ी बोली बोलने वाले से भाषायी संपर्क स्थापित करना चाहता है तो वह हिंदी का प्रयोग करेगा। एक वक्ता इस क्षेत्र के किसी भी भाग में यदि भाषण देना चाहता है और अपना संदेश सब लोगों तक पहुँचाना चाहता है तो वह भी हिंदी का ही प्रयोग करेगा। सभी औपचारिक अवस्थाओं में हिंदी का ही प्रयोग किया जाता है और अनौपचारिक अवस्थाओं में स्थानीय बोली या उपभाषा का प्रयोग होता है। अतः यह स्पष्ट है कि हिंदी भाषी समुदाय के प्रत्येक सदस्य के भाषायी कोश में एक से अधिक कोड हैं। एक स्थानीय बोली का कोड, दूसरा उपभाषा या स्थानीय बोली के मानक रूप का कोड, और तीसरा मानक हिंदी का कोड। इन सभी का उपयोग सामाजिक संरचना के अनुसार होता है।

हिंदी के प्रति निष्ठा के कारण कोडों में परिवर्तन स्वभावतः हो जाता है और हिंदी के प्रयोग से इस समुदाय का सदस्य अपने आप को एक बड़े समाज का सदस्य अनुभव करता है। आजकल सारे हिंदी भाषी समुदाय में साहित्य की भाषा हिंदी ही है। साहित्य के लिए बोली का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। इस प्रकार के बोली प्रयोग जब कभी भी किए जाते हैं तो साहित्यकार को सारे भाषा-भाषी समुदाय तक पहुँचने के लिए बोली प्रयोगों के अर्थ भी देने पड़ते हैं। (देखिए, फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल')

शैली की दृष्टि से हिंदी-भाषा-भाषी समुदाय की दो आरोपित शैलियाँ हैं। आधारभूत शैली को बोलचाल की हिंदी या हिंदुस्तानी कह सकते हैं। आरोपित शैलियाँ हैं—उच्च हिंदी अर्थात् संस्कृत-निष्ठ हिंदी और अरबी फ़ारसी युक्त हिंदी, अर्थात् उर्दू। इन दोनों शैलियों का मुख्य भेद लिपि है। हिंदी देवनागरी में और उर्दू अरबी-फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। शब्दकोश में भी कुछ अंतर है, पर वाक्य रचना में बहुत कम। इसी प्रकार की स्थिति योगोस्लाविया में सरबियन और क्रोशियन में है। परंतु ये दो भाषा-भाषी समुदाय नहीं माने जाते। हिंदी-भाषा-भाषी समुदाय में इन शैलियों का निराकरण सांस्कृतिक अथवा धार्मिक आधारों पर अधिक है। सामान्य बोलचाल में दोनों में कोई अंतर नहीं है। परंतु यदि वार्तालाप विशिष्ट हो जाए तो शब्दकोश में सांस्कृतिक, धार्मिक अथवा तकनीकी संदर्भों के अनुसार परिवर्तन होता है।

हिंदी की केंद्रापसारी शक्ति हिंदी को अपने क्षेत्र की सीमाओं के बाहर ले जाती है और इस का व्यवहारक्षेत्र भाषासमुदाय की भौगोलिक सीमा रेखा को पार करता हुआ सारे भारत में व्याप्त हो जाता है। वाणिज्य-व्यापार तथा लोक-मनोरंजन के क्षेत्रों में संपूर्ण भारत में हिंदी का प्रयोग होता है। हिंदी फिल्में सारे भारत में पूरे उत्साह के साथ देखी जाती हैं। इस क्षेत्र में काम करने वालों का बहुमत अहिंदी प्रदेशों के व्यक्तियों का है। साहित्य के क्षेत्र में भी हिंदी पूरे देश में व्याप्त है। हिंदी के अनेक प्रमुख साहित्यकार अहिंदी भाषी क्षेत्रों के हैं। अहिंदी प्रदेशों में हिंदी भाषा में साहित्य रचना की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन बढ़ रही है।

हिंदी का प्रयोग मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भाषा-भाषी क्षेत्रों के प्रमुख नगरों में दिन प्रतिदिन के कार्यों में भी होता है। इन नगरों में हिंदी

का रूप कुछ बदल कर 'पिजन' के रूप में प्रयुक्त होता है। पिजन की आधार भाषा का काम हिंदी करती है और मराठी भाषा-भाषी प्रदेश में मराठी-हिंदी और बंगाली भाषा-भाषी प्रदेश में बंगाली-हिंदी कहलाती है। संपर्क भाषा के रूप में भी इसका प्रयोग सारे भारत में होता है। भारत-ईरानी भाषाओं की सीमाओं के बाहर भी संपर्क की भाषा हिंदी ही है। लद्दाखी भाषी क्षेत्र लेह में सरकारी कर्मचारियों के रूप में अधिकांश कश्मीरी भाषा-भाषी लोग कार्य करते हैं। स्थानीय लोगों के साथ भाषायी संपर्क स्थापित करना है तो हिंदी का ही सहारा लिया जाता है। इसी प्रकार कन्याकुमारी में भी उत्तर भारत के पर्यटक हिंदी को ही संपर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

भारत से बाहर कुछ देशों में भी हिंदी का पर्याप्त प्रयोग होता है। पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा उर्दू है। वहाँ औपचारिक कार्य अंग्रेजी के साथ उर्दू में भी किये जाते हैं। बहुभाषी राष्ट्र होने के कारण वहाँ उर्दू का स्थान लगभग वही है जो भारत में हिंदी का है। अंतर केवल यह है कि उर्दू को मातृभाषा के रूप में स्वीकार करने वालों की संख्या पाकिस्तान में नहीं के बराबर है जबकि भारत में हिंदी को मातृभाषा के रूप में स्वीकार करने वालों की संख्या काफी है। नेपाल की राष्ट्र भाषा वास्तव में हिंदी की एक बोली ही है। जिस प्रकार भारत के कुमाऊँ प्रदेश मे हिंदी समझी और बोली जाती है, लगभग उसी प्रकार नेपाल के बड़े-बड़े नगरों में हिंदी समझी और बोली जाती है। कुमाऊँ में तो सरकारी भाषा के रूप में भी हिंदी ही प्रतिष्ठित है, परंतु नेपाल के बड़े-बड़े नगरों में ऐसा नहीं है। लंका, बंगलादेश और अफगानिस्तान के बड़े-बड़े नगरों में भी हिंदी समझने वाले लोगों की संख्या कम नहीं है।

इन पड़ोसी देशों के अतिरिक्त दूरस्थ देशों में भी हिंदी का प्रयोग होता है। फिजी के 50 प्रतिशत से अधिक लोगों की भाषा हिंदी है। ट्रिनिदाद, सुरीनाम और मारिशस में हिंदी प्रमुख भाषा है। गयाना में भी हिंदी का प्रयोग होता है। वहाँ पर शुगर एस्टेट्स में रहने वाले हिंदुस्तानी मूल के लोग हिंदी में ही बातचीत करते हैं। हिंदी फिल्में तो इन सब देशों में बहुत लोक-प्रिय हैं। इन देशों के अन्य जातीय लोग भी हिंदी फिल्में देखते हैं और हिंदी गीत गुनगुनाते हैं। फिल्मों के प्रदर्शन के आधार पर यह दावा किया जा

सकता है कि संसार के सभी प्रमुख नगरों में, सीमित परिमाण में, हिंदी-भाषा भाषी समुदाय है। निष्कर्ष यह है कि—

(1) वर्तमान स्थिति में हिंदी-भाषी समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र है।

(2) यह एक बहु-बोली समुदाय है जिसकी एक बोली सम्मानित बोली बन कर समुदाय की भाषा बनी है।

(3) यह भाषा अपने बोली के क्षेत्र की सीमाओं को तोड़कर अन्य बोली क्षेत्रों तक प्रसार पा चुकी है।

(4) हिंदी-भाषी समुदाय का निश्चित क्षेत्र होते हुए भी यह भाषा अपनी केंद्रापसारी शक्ति से अपने भाषाक्षेत्र की सीमा का अतिक्रमण करके सारे भारत की भाषा बनी है। इस दृष्टि से यह भाषा अक्षेत्रीय है।

(5) हिंदी प्रसार पाकर अपने देश की सीमाओं का अतिक्रमण करके विश्व के अन्य देशों में भी पहुँची है।

## पाद टिप्पणियाँ

1. The totality of speech habits of a single person at a given time constitutes an idiolect, (Hockett. 1958 : 321).

2. A language.........is a collection of more or less similar idiolects. A dialect is just the same thing, with the difference when both terms are used in a single discussion, the degree of similarity of the idiolects in a single dialect is presumed to be greater than that of the idiolects in the language (Hockett, 1958 : 322).

3. Language is homogeneous only in abstraction. In it actualization it is regulated by different communicative roles. (Srivastava, 1975 A: 27).

4. "Speech varieties employed within a speech community form a system because they are related to a shared set of social norms" (Gumperz, 1971 : 116. in Anwar S. Dil 1971).

## संदर्भ ग्रंथ

Bloomfield, Leonard. 1935 (1963) : *Language*. Delhi, Motilal Banarasi Dass.

Dil, Anwar S. (Ed.) 1971 : *Language in Social Group* (Essays by John Gumperz). California, Stanford Univ. Press.

Emeneau, Murry B. 1964 : "India as a linguistic area," in *Languages, Culture & Society*. New York, Harper & Row.

Hockett, C. F. 1950 : *A Course in Modern Linguistics*. New York,. The Macmillan.

Kelkar Ashok R. 1968 : *Studies in Hindi-Urdu I, Introduction & Word Phonology*. Poona, Deccan. College.

Kelly, G. 1966 : "The Status of Hindi as Lingua franca" in Bright . W (Ed.) *Sociolinguistics*. The Hague, Mouton.

Pride, J. B. 1972 : *Social Meaning of Language. London*. Oxford University Press.

Srivastava, R. N. 1975 A : The Sociology of Functional Hindi" in **प्रयोजनमूलक हिंदी**, आगरा, केंद्रीय हिंदी संस्थान ।

श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ. 1975 B : "बहुभाषिकता और हिंदी समाज". **भाषा, विश्व हिंदी सम्मेलन अंक**, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली ।

वर्मा, व्रजेश्वर. 1971 : "हिंदी और उसका व्यवहार क्षेत्र" **गवेषणा**, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा ।

———

# बोली-भाषा संपर्क एवं मानकीकरण की प्रक्रिया

—सतीशकुमार रोहरा

### हिंदी—कुछ उलझे हुए प्रश्न

हिंदी से क्या तात्पर्य है–पूर्वी एवं पश्चिमी हिंदी, केवल पश्चिमी हिंदी या मात्र खड़ी बोली ? बिहारी, राजस्थानी आदि को हिंदी के अंतर्गत रखा जाए तो क्यों ? न रखा जाए तो क्यों ? हिंदी-उर्दू दो विभिन्न भाषाएँ हैं या एक ही भाषा की दो विभिन्न शैलियाँ ? यदि हिंदी-उर्दू एक ही भाषा है तो कौन किसकी बोली या शैली है और क्यों ? हिंदी किस क्षेत्र की भाषा है ? किस की मातृभाषा है ? हिंदी का कोई मानक रूप है—यदि हाँ, तो कौन-सा ? विकास की दृष्टि से हिंदी किस स्तर की भाषा है—अविकसित, विकासशील, विकसित ?

उपर्युक्त प्रश्नों के अतिरिक्त और भी कई प्रश्न हैं जो हिंदी के संदर्भ में पूछे जाते हैं तथा जिनके तर्कसंगत एवं संतोषजनक उत्तर नहीं होते ।

हिंदी के संबंध में पूछे गये प्रश्न मुख्य रूप से बोली-भाषा संपर्क तथा मानकीकरण की संकल्पना से जुड़े हुए हैं । अतः इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढने के पूर्व बोली-भाषा संपर्क एवं मानकीकरण की चर्चा करना आवश्यक है ।

### बोली-भाषा—सामान्य संदर्भ

'बोली' (dialect), 'भाषा' (language) शब्द जैसे एक-दूसरे से अलग लगते हैं, वैसे अलग-अलग वे हैं नहीं । असल में उनकी प्रकृति ही ऐसी है कि कोई विभाजक रेखा खींच कर उन्हें पूर्णरूप से अलग किया भी नहीं जा सकता । इसका कारण यह है कि बोली-भाषा शब्द की परस्पर विपरीत स्थितियों के नहीं वरन् सापेक्ष स्थिति के द्योतक हैं । ब्लूमफ़ील्ड ने (1933 : 54) इन शब्दों की सापेक्ष स्थिति को स्वीकार किया था और आज भाषावैज्ञानिक भी इस तथ्य को नकारते नहीं हैं ।

बोली-भाषा का संपर्क उलझा हुआ एवं जटिलतापूर्ण है । इस संबंध की जटिलता को ध्यान में रखकर ही फ़िलिप डल ने बोली अध्ययन को चुनौती भरा अध्ययन कहा है ।

इस अध्ययन की जटिलता के दो मुख्य कारण हैं। एक तो बोली-भाषा शब्दों का प्रयोग साधारण शब्दों के समान भी होता है तो विशिष्ट अथवा पारिभाषिक शब्दों के रूप में भी। दूसरा कारण यह है कि पारिभाषिक शब्दों के रूप में प्रयुक्त होने पर इन शब्दों की संकल्पना पूर्णरूप से स्पष्ट एवं सुनिश्चित नहीं है।

साधारण शब्दों के रूप में प्रयुक्त होने पर कभी ये शब्द एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं; कभी भाषा के साहित्यिक रूप को 'भाषा' एवं उसके बोलचाल के रूप को 'बोली' कह दिया जाता है और कभी 'भाषा' से तात्पर्य शिष्ट शालीन भाषा से तथा बोली से तात्पर्य 'गँवारू' भाषा से होता है।

यदि बोली एवं भाषा के प्राचीन प्रयोग पर ध्यान दिया जाए तो स्थिति इससे बिल्कुल विपरीत दिखाई देगी। प्राचीन ग्रीस में लिखित भाषा का एक रूप नहीं था। लेखन में अलग-अलग विषयों के लिए अलग-अलग भाषारूपों का प्रयोग होता था। यथा, इतिहास लेखन में आयोनिक (Ionic), समूह गीत लिखने में डोरिक (Doric) तथा दुःखांत नाटक लिखने में एटिक (Attic) भाषारूप का प्रयोग किया जाता था। लिखने के इन विभिन्न भाषा रूपों को ही उस समय 'बोलियाँ' कहा जाता था और ग्रीक भाषा उस समय उन विभिन्न साहित्यिक बोलियों का समूह-नाम था। उत्तर प्राचीन काल में ग्रीस की राजधानी एवं सांस्कृतिक नगर एथेन्स का भाषा-रूप कोइने (Koine) ही ग्रीक नाम से प्रचलित हुआ जिसके फलस्वरूप ग्रीस की अन्य साहित्यिक बोलियों का ह्रास हो गया तथा वे बोल-चाल तक सीमित रह गयीं।

ग्रीस में उत्तर प्राचीन काल में जो बोली-भाषा की स्थिति थी, प्रायः वही स्थिति बोली-भाषा के संपर्क में आज भी है। समानांतर चलने वाले विभिन्न भाषारूपों में से किसी एक रूप को प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है, तब अन्य भाषा रूप अपनी साहित्यिक विशेषताएँ खोने लगते हैं तथा कालांतर में वे मात्र बोल-चाल के रूप अर्थात् बोलियाँ रह जाती हैं। उदाहरणार्थ, एक समय में ब्रज, अवधी, खड़ी आदि भाषा रूप साहित्य के क्षेत्र में समानांतर चल रहे थे। जैसे ही खड़ी बोली को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, अन्य भाषारूपों की साहित्यिक परंपरा छिन्न-भिन्न होने लगी तथा अब ये भाषारूप बोलियाँ बन कर रह गए हैं।

बोली-भाषा श्रेणी के अन्य शब्द हैं—स्थानीय भाषा (local dialect), क्षेत्रीय भाषा (regional language), मानक भाषा (standard language)।

कभी-कभी बोली-भाषा संदर्भ में उपभाषा, विभाषा, उपबोली आदि शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है जबकि प्रयोग में उनकी भिन्न प्रकृति या भाषायी स्थिति का स्पष्ट संकेत नहीं रहता।

**बोली-भाषा की भाषावैज्ञानिक संकल्पना**

भाषाविज्ञान की दो मुख्य शाखाएँ हैं समकालिक भाषाविज्ञान (synchronic linguistics) तथा कालक्रमिक भाषाविज्ञान (diachronic linguistics)। भाषाविज्ञान की इन दोनों शाखाओं में बोली भाषा की संकल्पना समान नहीं है।

समकालिक भाषाविज्ञान में 'भाषा' उन एक या अनेक समसंरचनात्मक भाषा-रूपों का समूह है जो भाषारूप परस्पर बोधगम्य हैं। एक ही भाषा की इन बोधगम्य इकाइयों को उस भाषा की बोलियाँ कहा जाता है। इस प्रकार समकालिक भाषाविज्ञान में भाषा समूह-सूचक और बोली, सम-समूह इकाई सूचक शब्द है।

समकालिक भाषाविज्ञान में विभिन्न भाषारूपों (बोलियों) को भाषा-समूहों (भाषाओं) में रखने के लिए 'बोधगम्यता' को आधार बनाया जाता है और ऐसा माना जाता है कि उन भाषा रूपों में पायी जानेवाली बोधगम्यता, उनमें विद्यमान संरचनात्मक समानता के फलस्वरूप है। मिसाल के तौर पर ब्रज, अवधी आदि को हिंदी की बोलियाँ मानने का अर्थ यह हुआ कि इन भाषारूपों में इतनी संरचनात्मक समानता है कि इसके बोलने वाले बिना पूर्व शिक्षण के एक-दूसरे की बात समझ सकते हैं।

कालक्रमिक भाषाविज्ञान में 'भाषा' से तात्पर्य 'स्रोत' से है। एक ही स्रोत से उत्पन्न भाषारूपों को परस्पर 'संबंधित' समझा जाता है। इन संबंधित समझे जानेवाले भाषारूपों को उस स्रोत भाषा की बोलियाँ कहा जाता है। इस प्रकार कालक्रमिक भाषाविज्ञान में 'भाषा' स्रोत तथा 'बोली' समस्रोतीय धारा के भाव को अभिव्यक्त करती हैं।

कालक्रमिक भाषाविज्ञान में बोलियों को भाषाओं में विभाजित करने का आधार बोधगम्यता नहीं है। इस कारण ऐसे भाषारूप जो पूर्णरूप से अबोधगम्य हैं (अर्थात् पूर्णरूप से अलग भाषाएँ हैं) उन्हें भी एक ही भाषा की बोलियाँ समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, ग्रीक, लैटिन और संस्कृत, जो पूर्णरूप से भिन्न भाषाएँ हैं, उन्हें भारोपीय भाषा की बोलियाँ समझा जात

है। इसी प्रकार आधुनिक आर्यभाषाओं—गुजराती, मराठी, हिंदी (पश्चिमी) को शौरसेनी अपभ्रंश की बोलियाँ समझा जाता है।

गहराई से देखा जाए तो भाषा-बोली संपर्क के संबंध में समकालिक एवं कालक्रमिक भाषाविज्ञान में केवल 'समय' का अंतर है। समकालिक भाषाविज्ञान एक भाषा की सीमित स्थान में फैली हुई बोलियों में तात्कालिक संरचनात्मक समानता देखता है; जबकि कालक्रमिक भाषाविज्ञान में यह माना जाता है कि एक ही स्रोत से उत्पन्न जो भाषाएँ आज परस्पर भिन्न लगती हैं वे कभी उस स्रोत भाषा की बोलियाँ रही होंगीं तथा उनकी संरचनाओं में समानता तथा उनमें परस्पर बोधगम्यता रही होगी। इस प्रकार देखा जाए तो भाषाविज्ञान में भाषा-बोली की संकल्पना तथा उसके संबंध का आधार संरचनात्मक समानता एवं उसके परिणामस्वरूप उनमें पायी जाने वाली बोधगम्यता है।

**बोधगम्यता—सापेक्ष एवं अस्थिर**

वास्तव में बोधगम्यता कोई ऐसी स्थिति नहीं है, जिसे एक सीमा-रेखा द्वारा 'है/नहीं है' के वर्गों में विभाजित किया जा सके (राबिन्स, 1966)। बोधगम्यता एक सापेक्ष स्थिति है, इसलिए अलग-अलग अवस्थाओं में बोधगम्यता की मात्रा अलग होती है। इसके सिवाय बोधगम्यता की मात्रा निर्धारित करने का कोई ठोस एवं सुनिश्चित आधार अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। फिर यह सिद्धांत उस देश में प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है, जो देश भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से कई इकाइयों में बँटा हुआ हो तथा उन इकाइयों में संचार-संपर्क उतना दृढ़ न हो। भारत जैसे देश में जहाँ भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकता बहुत सीमा तक बनी हुई है तथा प्रत्येक भाग में संचार-संपर्क बना हुआ है, वहाँ यह सिद्धांत उतना प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकता। मिसाल के तौर पर उत्तर भारत में पश्चिम में सिंध प्रदेश से लेकर पूर्व में असम तक बोलियों की एक ऐसी क्रमिक शृंखला है जिसमें संपर्क के किसी भी बिंदु पर बोधगम्यता विच्छिन्न नहीं होती (गंपर्ज; 1960)। अर्थात्, यदि आप पैदल एक गाँव से दूसरे गाँव होते हुए सिंध से असम तक चले जाएँ तो आपको कहीं पर भी संचार टूटने का अनुभव नहीं होगा। अतः यदि बोधगम्यता को भाषा-बोली निर्धारण का आधार माना जाए तो फिर संपूर्ण उत्तर भारत की एक ही भाषा माननी होगी तथा उत्तर भारत की वर्तमान भाषाओं (सिंधी, पंजाबी, बंगला

आदि) को उसकी बोलियां मानना होगा, जो बात भाषावैज्ञानिक दृष्टि से स्वीकार्य नहीं होगी।

बोधगम्यता के आधार पर इस स्थिति का विश्लेषण करने का यही उपाय है कि भाषा की संकल्पना को विस्तृत कर प्रत्येक बोली को एक भाषा माना जाए तथा उस बोली की कई और बोलियाँ स्वीकार की जाएँ। यह भी स्वीकार किया जाए कि उनमें से कुछ परस्पर बोधगम्य हैं और कुछ नहीं। इस स्थिति को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है—
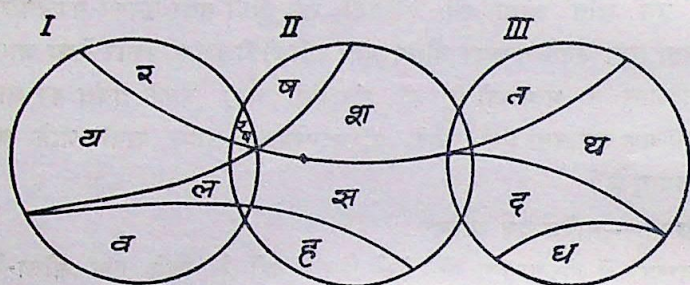
इस रेखाचित्र I, II, III तीन भाषाएँ हैं। य, र, ल, व, I भाषा की बोलियाँ हैं; श, ष, स, ह, II भाषा की बोलियाँ हैं; भाषा III की त, थ, द, ध, बोलियाँ हैं। भाषा I की र बोली तथा भाषा II की ष बोली में जहाँ संपर्क हैं वहाँ बोधगम्यता है। ऐसी ही आंशिक बोधगम्यता अन्य भाषाओं की बोलियों में भी है। अब य, र, ल, व आदि को बोलियाँ न मानकर, भाषाएँ माना जाए तथा यह कहा जाए कि उनकी कुछ बोलियाँ परस्पर बोधगम्य हैं, दूसरी नहीं। उदाहरणार्थ, 'र' 'ष' को भाषाएँ माना जाए तथा यह कहा जाए कि र भाषा की र, $र^1$ बोलियाँ हैं, तथा 'ष' भाषा की ष, $ष^1$, $ष^2$ बोलियाँ हैं। $र^1$ एवं $ष^1$, परस्पर बोधगम्य हैं लेकिन र, ष, $ष^2$ परस्पर बोधगम्य नहीं हैं।

बोधगम्यता के सिद्धांत को सार्थक बनाने के लिए उपर्युक्त युक्ति काम में लाई जा सकती है किंतु यह बोधगम्यता के बुनियादी सिद्धांत का खंडन करती है। बोधगम्यता के सिद्धांत के अनुसार यह मानकर चलना पड़ता है कि जिन बोलियों की संरचनाओं में समानता होगी उनमें बोधगम्यता भी होगी, किंतु उपर्युक्त स्थिति में एक ही बोली (जिसे सुविधा के लिए भाषा माना गया है) के विभिन्न प्रकारों को बोधगम्य एवं अबोधगम्य वर्गों में विभाजित किया जाता है जबकि संरचनात्मक दृष्टि से उनमें कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं होता।

इस अंतर्विरोधी स्थिति का कारण यह है कि बोधगम्यता को संरचनात्मक समानता से जोड़ा जाता है। बोधगम्यता का आधार जितना 'निकट संपर्क' पर है उतना संरचना की समानता पर नहीं। निकट संपर्क के कारण ही पंजाबी एवं हिंदी (मानक रूप) में जितनी बोधगम्यता है उतनी हिंदी (मानक रूप) एवं उसकी बोली अवधी में भी नहीं है।

**संरचनात्मक समानता एवं सामाजिक संदर्भ**

ऊपर जिस भारतीय स्थिति का वर्णन किया गया है उसके विश्लेषण का दूसरा उपाय यह है कि भाषा-बोली का संबंध निर्धारित करने के लिए 'संरचना' के साथ 'प्रयोग' या 'सामाजिक संदर्भ' को ही आधार बनाया जाए और क्षेत्रीय विभाजन के साथ सामाजिक स्तरीकरण को भी बोलियों के वितरण या विकास का कारण समझा जाए। असल में क्षेत्रीय विभाजन एवं 'सामाजिक वर्गभेद' किसी भी भाषा के क्षैतिज (horizontal) एवं उदग्र (vertical) व्यतिरेकी निर्देशांक (contrastive coordinates) हैं (बॉलिजर 1968)। इस द्वि-आयामी आधार पर प्रत्येक भाषा की दो प्रकार की बोलियाँ हैं—क्षेत्रीय एवं सामाजिक। क्षेत्रीय बोलियाँ संबंधित भाषा का भौगोलिक विभाजन बतलाती हैं तथा सामाजिक बोलियाँ उस भाषा-समुदाय के विभिन्न सामाजिक समूहों (जिनका आधार जाति, धर्म, शिक्षा, व्यवसाय आदि हो सकते हैं) को इंगित करती हैं। उदाहरणार्थ, हिंदी की क्षेत्रीय बोलियाँ हैं—ब्रज, अवधी, खड़ी आदि तथा उसकी सामाजिक बोलियाँ हैं—साधु अथवा परिनिष्ठित हिंदी, उर्दू, बोलचाल की हिंदी आदि। इन दोनों आयामों (संरचनात्मक एवं सामाजिक) को आधार बनाये बिना किसी भी भाषा का पूर्ण विश्लेषण हो ही नहीं सकता; क्योंकि भाषा उन एक या अनेक समसंरचनात्मक एवं समसामाजिक भाषारूपों का समूह नाम है जो समूह, भाषायी स्तर पर आंतरिक एकता एवं बाह्य विभिन्नता की स्थिति में हैं। उसमें जितनी संरचनात्मक समानता की आवश्यकता है उतनी ही भाषायी अस्मिता (identity) की। यही कारण है कि पंजाबी एवं मानक हिंदी बोधगम्य होने पर भी अलग-अलग भाषाएँ हैं क्योंकि इन भाषा-भाषियों में भाषायी अस्मिता नहीं है। इसके विपरीत अवधी एवं मानक हिंदी में भाषायी अस्मिता है इस कारण वे एक ही भाषा के अंतर्गत आती हैं। राजस्थानी तथा बिहारी को हिंदी के अंतर्गत रखने का आधार भाषायी अस्मिता है। कल यदि राजस्थानी अथवा मैथिली के बोलने वाले हिंदी के साथ अपने को एकात्म नहीं

कर पाते तो ये भाषाएँ भिन्न हो जाएँगी (कुछ समय पूर्व पंजाबी को भी हिंदी के अंतर्गत समझा जाता था)। हिंदी-उर्दू के संबंध को भी इसी प्रकाश में समझा जा सकता है। संरचनात्मक दृष्टि से हिंदी-उर्दू में कोई विशेष अंतर नहीं है। लिपि अथवा शब्दावली की भिन्नता उन्हें दो अलग भाषाएँ सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं ; फिर भी उर्दू बोलनेवाले उर्दू को हिंदी के अंतर्गत रखने को तैयार नहीं हैं। कारण क्या है ? कारण है, भाषायी अस्मिता का अभाव।

यहाँ यह सवाल उठाया जा सकता है कि हिंदी को उर्दू की एक बोली अथवा शैली क्यों न माना जाए (हाल ही में एक प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक ने कहा भी है कि हिंदी को उर्दू की एक शैली मानना चाहिए) ? अब पहले बोली की बात की जाएगी, बाद में शैली की चर्चा की जाएगी। इस प्रश्न का आधार संभवतः यह ऐतिहासिक तथ्य है कि खड़ी बोली पर आधारित वर्तमान साहित्यिक हिंदी की अपेक्षा उर्दू का विकास पहले हुआ है। यदि साहित्यिक विकास को बोली-भाषा विभाजन का आधार बनाया जाए तो वर्तमान साहित्यिक हिंदी को ब्रज या अवधी की एक बोली मानना होगा क्योंकि ब्रज, अवधी का साहित्यिक विकास हिंदी की अपेक्षा पहले हुआ था। लेकिन भाषा जैसे मात्र संरचनात्मक व्यवस्था नहीं है वैसे ही भाषा साहित्य के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया मात्र नहीं है। भाषा एक अधि-संरचना (super-ordinate structure) है। वह उन समस्त अधीनस्थ संरचनाओं (subordinate structures) का सामूहिक नाम है जो उस समूह से जुड़े रहने की भावना रखती हैं। हिंदी को उर्दू की बोली मानने का अर्थ हुआ उर्दू को महासंरचना अथवा अधि संरचना स्वीकार करना। ऐसी स्थिति में वे सारी अधीनस्थ सरचनाएँ, जो हिंदी के अंतर्गत गिनी जाती हैं (यथा ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी आदि), उन्हें उर्दू के अंतर्गत मानना होगा तथा ब्रज आदि के संपूर्ण साहित्य को उर्दू का साहित्य स्वीकार करना होगा ; जो बात वास्तविकता से बहुत दूर तो होगी ही, भाषायी अस्मिता की दृष्टि से स्वीकार नहीं होगी।

अब शैली की स्थिति देखिए। एक ही बोली में पाये जाने वाले प्रयोगगत भेद ही शैली भेद अथवा किसी बोली की विभिन्न शैलियाँ कहलाती हैं। हिंदी को उर्दू की एक शैली मानने का अर्थ हुआ उर्दू-हिंदी को एक बोली के अंतर्गत रखना। यदि उर्दू-हिंदी दोनों मिलकर एक बोली बनाती हैं तो वह फिर

किस भाषा की बोली कही जाएगी ? 'हिंदू' (केलकर, 1968) की ? असल में यह कठिनाई इसलिए पैदा होती है क्योंकि 'हिंदी' एवं 'साहित्यिक हिंदी' या 'उच्च हिंदी' को समान या एक-दूसरे का पर्याय समझ लेते हैं। 'साहित्यिक हिंदी' भी हिंदी की एक इकाई है। 'हिंदी' एक समूह-नाम है, इस कारण, उसकी कोई भी इकाई उसके समानांतर नहीं हो सकती। उर्दू को साहित्यिक हिंदी के समानांतर समझा जा सकता है (क्योंकि वह भी हिंदी समूह की इकाई है), लेकिन संरचनात्मक दृष्टि से उर्दू हिंदी के समानांतर या हिंदी की अधि संरचना नहीं हो सकती। जहाँ तक भाषायी अस्मिता का प्रश्न है उर्दू एक अलग भाषा है तथा उस दृष्टि से हिंदी की समानांतर भाषा होने का दावा कर सकती है।

**भाषा का मानक रूप तथा मानकीकरण**

अभी तक परिनिष्ठित अथवा मानक हिंदी शब्द का प्रयोग बिना किसी स्पष्टीकरण के किया गया है। इस परिच्छेद में उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाएगा।

'मानक हिंदी' की चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि 'मानक भाषा' एवं मानकीकरण की संक्षेप में चर्चा की जाए।

'मानकता' से तात्पर्य उस सापेक्ष स्थिति से है जो संबंधित कई समान स्थितियों में 'मान' अथवा 'आदर्श' के रूप में ग्राह्य अथवा स्वीकार्य होती है। अत: 'मानक भाषा' से तात्पर्य किसी भाषा-समूह के उस भाषा रूप से है जो उस भाषा के अन्य समस्त भाषा रूपों को 'मानक' के रूप में स्वीकार हो; अर्थात् उस भाषा के बोलने वाले उस भाषारूप का प्रयोग अन्य भाषा-भाषियों के साथ करें और अपनी अधीनस्थ बोली के प्रयोग करने वालों के साथ उस रूप का प्रयोग करते समय 'प्रतिष्ठा' का अनुभव करें। इस प्रकार मानक भाषा, किसी भी भाषा की उस सामाजिक बोली (या भाषारूप) से है जो उस भाषा के बोलने वालों के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक है। अत: 'मानक भाषा' की संकल्पना मुख्य रूप से 'सामाजिक' है, 'संरचनात्मक' नहीं। इसी से देश की राजधानी अथवा अन्य किसी महत्वपूर्ण केंद्र के पढ़े-लिखे अथवा सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण लोगों की बोली को ही सामान्य रूप से 'मानक भाषा' का नाम दिया जाता है (रॉबिन्स, 1966)। सरल शब्दों में कहा जाए तो समाज के मानक वर्ग की भाषा ही मानक भाषा है। अपनी

मानकता अर्थात् प्रतिष्ठा के कारण कभी मानक भाषा ही राष्ट्रभाषा बन जाती है।

**मानक भाषा की प्रकृति एवं अभिलक्षण**

संरचनात्मक दृष्टि से मानक भाषा भी अपनी भाषा के विभिन्न रूपों में से एक रूप अर्थात् एक बोली होती है, किंतु मानक बनते ही उसकी विशिष्ट बोलीगत विशेषताएँ निरस्त होने लगती हैं तथा वह 'क्षेत्रीय' से 'अक्षेत्रीय' बनना शुरू करती है। इस प्रक्रिया में एक ऐसी स्थिति भी आती है जब वह 'बोली विशेष' नहीं रह जाती और इस कारण कुछ विशेष परिस्थितियों में वह किसी की मातृभाषा नहीं रह जाती। यह उन स्थितियों में तो और भी अवश्यंभावी है जहाँ किसी भाषा का प्रयोग क्षेत्र काफी बड़ा हो, जैसे हिंदी का। हिंदी का मानक रूप यद्यपि मूलरूप से खड़ी बोली पर ही आधारित है किंतु आज हिंदी का मानक रूप खड़ी बोली से पर्याप्त मात्रा में भिन्न पड़ गया है और यह भिन्नता बढ़ती ही जाएगी और एक ऐसी स्थिति आएगी जब मानक हिंदी खड़ी बोली बोलने वालों के लिए उतनी ही भिन्न होगी जितनी कि अवधी अथवा ब्रज बोलने वालों के लिए। 'अक्षेत्रीय' तथा 'अबोली' बनना मानक भाषा की अनिवार्यता है क्योंकि मानक भाषा किसी एक क्षेत्रीय बोली की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होती है तथा उसे एक समूह-विशेष की बोली के सामान्य प्रयोग की अपेक्षा एक से अधिक समूहों के विभिन्न प्रयोगों के लिए उपयुक्त होना पड़ता है। इस आवश्यकता के फलस्वरूप मानक भाषा की प्रकृति का विकास दो परस्पर विपरीत दिशाओं में होता है। इस प्रक्रिया का लक्ष्य होता है आंतरिक अर्थात् संरचनात्मक दृष्टि से संसंजन (structural cohesion) तथा बाह्य अर्थात् प्रयोग की दृष्टि से क्षेत्र विस्तार (functional diversity)। संरचनात्मक संसंजन के कारण ही विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने पर भी उसमें एकरूपता संभव हो सकती है। प्रयोग-क्षेत्र के विस्तार के कारण वह जीवन से जुड़े हुए विभिन्न भाषायी प्रयोगों के लिए सक्षम बनती है। इस प्रकार संरचना की दृष्टि से अधिकतम बहुरूपता और बाह्य या प्रयोगात्मक दृष्टि से अधिकतम बहुरूपता प्राप्त करना मानक भाषा का चरम लक्ष्य होता है।

संरचनात्मक एकरूपता का आदर्श रूप तो वह है जिसमें किसी एक शब्द का एक ही उच्चारण तथा एक ही वर्तनीगत रूप हो, प्रत्येक शब्द के लिए एक भिन्न शब्द तथा प्रत्येक शब्द का एक अलग अर्थ हो तथा समस्त कथनों

के लिए अपवाद रहित एक ही व्याकरणिक ढाँचा हो। यह तभी संभव है जब कि भाषा स्थिर हो अर्थात् उसमें किसी प्रकार का भाषायी परिवर्तन न आ पाए। यह स्थिति व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है क्योंकि किसी भी जीवित भाषा के लिए अपरिवर्तनशील रहना संभव नहीं है।

प्रयोग की अधिकतम सीमा निश्चित करना तो संभव ही नहीं है क्योंकि जहाँ तक मनुष्य के विचार एवं चिंतन की सीमा है वहाँ तक भाषा की सीमा है।

संरचनात्मक एकरूपता तथा प्रयोगात्मक बहुरूपता की परस्पर विपरीत प्रवृत्तियाँ कभी-कभी एक-दूसरे की गति की अवरोधक बन जाती हैं। रूप या संरचना की स्थिरता भाषा के बाह्य व्यवहार को सीमित कर सकती हैं या प्रयोग अथवा व्यवहार का विस्तार संरचना की एकरूपता को खंडित कर सकता है। पहली स्थिति का उदाहरण संस्कृत है, जिसे लोक-व्यवहार से इसलिए हटना पड़ा क्योंकि उसकी रचना स्थिर बन गई थी; और दूसरी स्थिति का उदाहरण हिंदी है, जिसमें क्षेत्र विस्तार के कारण उतनी संरचनात्मक एकरूपता नहीं है; कहीं वह बंबइया हिंदी है तो कहीं कलकतिया; दिल्ली में वह पंजाबीपन लिए हुए है तो बनारस और बलिया में पूर्बीपन।

अतः मानक भाषा के लिए मध्य मार्ग अपनाना आवश्यक है जिससे वह एकरूपता (संरचना) एवं बहुरूपता (प्रयोग) के दुहरे लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

इस दुहरे उद्देश्य को सिद्धि के लिए मानक भाषा में सतत लचीलेपन (constant flexibility) और बौद्धिकीकरण (rationality) के गुण होने चाहिए (गार्विन, 1959), जिससे वह सांस्कृतिक परिवर्तनों के अनुकूल अपने को ढाल सके तथा आधुनिक औद्योगिक, बहुधर्मी, बहुजातीय तथा बहुभाषीय समाज में अन्य भाषाओं के साथ विषयगत तथा शैलीगत दृष्टि से आदान-प्रदान का ऐसा संपर्क स्थापित कर सके जिसे परस्पर 'अनुवादकता' (translatibility) का नाम दिया जा सकता है (फर्ग्यूसन, 1968)।

**मानकीकरण, लेखन और विकासशीलता**

मानकीकरण के चार सोपान हैं—चुनाव, संसंजन, प्रयोग और स्वीकृति (हॉगन, 1966)।

मानकीकरण की प्रक्रिया उस समय शुरु हो जाती है जब किसी भाषा के विभिन्न रूपों (बोलियों) में से किसी एक रूप को मानक रूप बनने के लिए चुन लिया जाता है । इस चुनाव के अनेक कारण हो सकते हैं, यथा शासन का बल, धर्म का आश्रय, साहित्य की श्रेष्ठता आदि । जैसे, खड़ी बोली का मानक रूप के लिए चुने जाने का आरंभिक कारण था उस समय के शासक वर्ग द्वारा, आसपास के लोगों से संपर्क हेतु उनको अपनाया जाना तथा उसके पश्चात् सामान्य जनता द्वारा इसके संपर्क का साधन बनाना ।

चुनाव के पश्चात् संबंधित बोली में संरचनात्मक संसंजन तथा प्रयोगात्मक विस्तार शुरू हो जाता है; जिसके फलस्वरूप वह किसी क्षेत्र विशेष की बोली न रहकर अक्षेत्रीय बन जाती है । तब उसे संपूर्ण भाषा समुदाय प्रतिष्ठा का प्रतीक स्वीकार कर लेता है ।

'मानक भाषा' के लिए भाषा के किस रूप को चुना जाए, इसके लिए कोई विशेष बंधन नहीं है। उदाहरणार्थ, फिनलैंड में मानक भाषा का आधार वहाँ की एक बोलचाल की बोली को बनाया गया है जबकि इसराइल में क्लासिकल भाषा हिब्रू को मानक भाषा के रूप में स्थापित किया गया है ।

मानक भाषा के विकास के लिए बोलियों को अनिवार्य रूप से कुछ बलिदान करना पड़ता है; क्योंकि उनको अपना क्षेत्र सीमित ही रखना पड़ता है । यदि उनके क्षेत्र का विकास होने लगता है तो उसके बोलनेवालों की भाषायी वफादारी (linguistic loyality) मानक भाषा के प्रति न होकर उस बोली विशेष के प्रति होने लगती है और वे मानक भाषा को प्रतिष्ठा का प्रतीक नहीं मानते । यह बात मानक भाषा के विकास में बाधा उत्पन्न करती है । कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी की विभिन्न बोलियों के विकास का अनावश्यक प्रयत्न मानक हिंदी के विकास की गति को मंद करेगा ।

यह पहले बताया जा चुका है कि प्रतिष्ठा का प्रतीक एवं मानक वर्ग की भाषा होने के कारण मानक भाषा ही कभी-कभी राष्ट्रभाषा बन जाती है । राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता पड़ती है । मानक भाषा विभिन्न क्षेत्रों के लिए संपर्क का साधन होने के कारण राष्ट्रीय एकता में सहायक होती है । अतः देश में राष्ट्रीय भावना का जितना ज्यादा विकास होगा, मानक भाषा के विकास की गति उतनी ही तीव्र होगी ।

भाषा के मानकीकरण और 'लेखन' का आपस में गहरा संबंध है। लेखन भाषा को न केवल स्थिरता एवं स्थायित्व प्रदान करता है वरन् लेखन से भाषा के संरचनात्मक संसंजन या आकार की एकरूपता बनाने तथा बनाये रखने में बड़ी सहायता मिलती है। मानक भाषा का लिखित रूप आदर्शरूप बनकर, उच्चारण की भिन्नताओं को नियंत्रित करने में सहायता प्रदान करता है। मानक भाषा में प्रयोग की विविधता एवं बहुरूपता भी लेखन के माध्यम से ही आती है, इसलिए सामान्य रूप से भाषा का लिखित रूप ही 'मानक भाषा' कहलाता है।

लेखन के माध्यम से ही मानक भाषा विकास के विभिन्न स्तरों को पार करती है। मानक भाषा के संबंध में जब 'विकास' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसका उद्देश्य प्रयोग या व्यवहार के विस्तार से होता है। लेखन के संदर्भ में भाषा विकास की प्रक्रिया विवेचन करते हुए क्लॉस कहते हैं कि आरंभ में यह भाषा लोक साहित्य तथा हास्य-व्यंग्य का माध्यम रहती है; उसके पश्चात् उसमें सामान्य गीत-रचना आरंभ होती है; इसके पश्चात् सामान्य गद्य और गंभीर विवेचनपूर्ण गद्य की रचना होती है और विकास का अंतिम स्तर है -- वैज्ञानिक-तकनीकी रचनाओं तथा शासन-व्यवहार में उसका प्रयोग (क्लॉस, 1952)। इस संदर्भ में यदि हिंदी को देखा जाए तो लगेगा कि हिंदी लोक साहित्य, पद्य, गद्य, एवं गंभीर गद्य में प्रयुक्त होने के स्तर पार कर चुकी है तथा अब विकास के उस अंतिम चरण में आ पहुँची है जब भाषा का प्रयोग वैज्ञानिक विषयों की मौलिक रचनाओं एवं शासन में होने लगता है।

फर्ग्यूसन (1962) ने मानकीकरण एवं लेखन के दो आयामों के आधार पर मानक भाषाओं के विकास को दिखाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने मानकीकरण के तीन—0, 1, 2, तथा लेखन के चार बिंदुओं के आधार पर इस विकास को नापने का प्रयत्न किया है। शून्य (0) मानकीकरण का अर्थ है कि भाषा का प्रयोग सामान्य व्यवहार तक सीमित है तथा शून्य (0) लेखन इंगित करता है कि भाषा का लिखित रूप में प्रयोग नाम मात्र को है। मानकीकरण एक (1) सूचित करता है कि भाषा के एक से अधिक मानक रूप हैं तथा लेखन एक (1) का अर्थ है कि भाषा का प्रयोग समस्त सामान्य लिखित कार्यों में होता है। मानकीकरण का बिंदु दो (2) मानक भाषा के एक रूप को इंगित करता है जो रूप सामान्य परिवर्तनों के साथ समस्त व्यवहारों में प्रयुक्त

होता है तथा लेखन बिंदु दो (2) इंगित करता है कि भाषा का प्रयोग विभिन्न वैज्ञानिक रचनाओं तथा शोध-कार्य के लिए हो रहा है; लेखन बिंदु तीन (3) इस बात को सूचित करता है कि मानक भाषा की वैज्ञानिक रचनाओं का अन्य भाषाओं में अनुवाद हो रहा है।

उपर्युक्त आयामों के संदर्भ में हिंदी को देखने से ज्ञात होता है कि हिंदी मानकीकरण के बिंदु एक (1) पर पहुँची है जब उसके एक से अधिक रूप (साहित्यिक हिंदी एवं उर्दू) प्रयुक्त हो रहे हैं। मानकीकरण की दृष्टि से उसे एक कदम और बढ़कर बिंदु दो (2) तक पहुँचना है जब सामान्य परिवर्तनों के साथ उसका एक ही रूप सर्वत्र प्रयुक्त होने लगेगा। लेखन की दृष्टि से हिंदी बिंदु दो (2) तक पहुँच चुकी है अर्थात् उसमें न केवल विभिन्न वैज्ञानिक विषयों का अनुवाद हो रहा है बल्कि उसमें मौलिक वैज्ञानिक साहित्य की रचना हो रही है तथा उसका प्रयोग शोध-कार्य में भी हो रहा है। लेखन की दृष्टि से भी हिंदी को एक कदम आगे बढ़कर बिंदु तीन (3) तक पहुँचना है जब हिंदी की मौलिक वैज्ञानिक और शोधपूर्ण रचनाओं का अन्य भाषाओं में अनुवाद होने लगेगा।

## संदर्भ ग्रंथ

Bloomfield, 1933 : *Language*, New York, Holt, Rinehart & Winston.

Bolinger, D. 1968 : *Aspects of Language*. New York, Harcourt, Brace & World INC.

Ferguson C. A. 1962 : 'The Language Factor in National Development,' *A. L* Vol. 4 No. 1.

Ferguson C. A. 1968 : 'Language Development' in J. A. Fishman, C. A. Ferguson, and J. Dasgupta (Eds), *Language Problems of Developing Nations*, New York, Wiley.

Garvin. P. L. 1959 : 'The Standard Language Problems' in D. Hymes (Ed), *Language in Culture & Society*, New York, Harper & Row.

Gumperz, J. 1960 : 'Formal and Informal Standards in Hindi Language Area' in Anwar S. Dil (Ed.) *Language in Social Group* (1971) California, Stanford University Press.

Haugen, E. 1966 : 'Dialect, Language, Nation'. *American Anthropologist* Vol. 68.

Hockett, C. F. 1958 : *A Course in Modern Linguistics*. New York, MacMillan.

Kelkar, A. R. 1968 : *Studies in Hindi-Urdu*, Poona, Deccan College.

Kloss, H. 1952 : *Die Entwicklung Neuer*, Germanischen Kultur Sprachen von 1800 bis 1950. Pohl, Munich.

Robins, R. H. 1966 : *General Linguistics*. London, Longman's Linguistics Library.

———

# हिंदी का समान कोड तथा सर्वसमावेशी अभिरचना

—चन्द्रप्रभा

भाषावैज्ञानिक प्रारंभ से ही भाषा की विभिन्नता के बीच एकता के प्रश्न को लेकर जूझता रहा है। आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक सस्यूर की भाषा की संकल्पना उसकी समरूप वैविध्यरहित प्रकृति पर आधारित है। उन्होंने भाषा की विविधता को वाक् की विविधता के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। सस्यूर के मतानुसार वाक् की प्रकृति समूहपरक न होकर व्यक्तिपरक है और जातीय मानसिक संकलपना के आधार पर वैयक्तिक एवं व्यावहारिक है। व्यवहारजन्य होने के कारण वाक् परिस्थिति सापेक्ष होती है और उसमें पर्याप्त विभिन्नता एवं भेद-प्रभेद मिलते हैं।

भाषा और वाक् के अंतस्संबंधों के आधार पर एक दूसरे की प्रकृति को पारिभाषित करने का यत्न समय-समय पर होता रहा है। ब्लूमफ़ील्ड भाषा की समरूपता को स्वीकार करते हुए भी कहते हैं 'व्यक्ति-विशेष भी विभिन्न अवसरों पर विभिन्न रूपों में बोलता है।' यहाँ व्यक्ति विशेष विभिन्न अवसर एवं विभिन्न रूप भाषा की विभिन्नता एवं विभेदों की ओर संकेत करते हैं अर्थात् व्यवहार के धरातल पर भाषा में विभिन्नता देखने को मिलती है। संरचनावादी भाषावैज्ञानिकों ने भी इस व्यवहारजन्य विभिन्नता के परिहार के लिए कभी व्यक्ति बोली की संकलपना को सामने रखा तो कभी भाषा को शैली समुच्चय मानते हुए उसे शैली की धारणा के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। हॉकेट और ब्लॉक पहले वर्ग में आते हैं। उनके अनुसार 'एक व्यक्ति द्वारा एक समय पर उच्चरित वाक्यों का समुच्चय ही व्यक्ति बोली है'। दूसरे वर्ग में पाइक एवं फ़्रीज़ आते हैं। पाइक ने इस परिभाषा पर आपत्ति प्रकट करते हुए कहा है कि एक ही समय पर एक व्यक्ति बोली में पर्याप्त विभेद देखने को मिलते हैं। ये विभेद शैलीगत भी हो सकते हैं। ये शैलीगत भेद वैयक्तिक एवं यादृच्छिक नहीं होते बल्कि सामाजिक

मनुष्य के अंतःवैयक्तिक संबंधों, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा नियंत्रित होते हैं।

वास्तव में भाषा एक सामाजिक यथार्थ है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। भाषा (सामाजिक यथार्थ या वस्तु) सामाजिक मनुष्य के संप्रेषण का एक ऐसा माध्यम है जिसकी सहायता से वह विशेष परिस्थिति में विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि हेतु इसका प्रयोग करता है और वह प्रयोग उसी संदर्भ एवं परिस्थिति में अर्थ ग्रहण करता है। कौन, कब, किससे, किस विषय पर, कहाँ बातचीत कर रहा है ये सब भाषा के सामाजिक संदर्भ हैं जिन से भाषा संदर्भित होती है अर्थात् वय, लिंग, विषय, जाति, वर्ग, स्थान, संस्कृति एवं प्रयोजनों आदि के कारण भाषा में परिवर्तन होते हैं। कोई भी समाज इनसे मुक्त नहीं है। ये संदर्भ समाज-सापेक्ष होने के कारण विषम होते हैं। सच तो यह है कि जो समाज जितना अधिक जटिल एवं विषम होता है उसकी भाषा भी उतनी ही जटिल एवं विषम होगी। एक विषम समाज में भाषा को समरूप मानना तो केवल एक कल्पना मात्र है। "भाषा स्वभावतः विषम है" (Labov)। अतः भाषा एवं वाक् को पारिभाषित करते समय भाषा की इस विषमता एवं वैविध्य को प्रायः सभी भाषावैज्ञानिकों ने प्रयत्क्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। शुद्ध भाषावैज्ञानिकों दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले भाषावैज्ञानिक भी किसी न किसी रूप में भाषागत भेदों-प्रभेदों को स्वीकार तो करते हैं परंतु वे भाषा के अध्ययन विश्लेषण में इन विभिन्न रूपों को गौण मानते हैं। समाजभाषाविज्ञान तो भाषा की आंतरिक संरचना का विश्लेषण सामाजिक संदर्भों के बिना अधूरा मानता है। समाजभाषावैज्ञानिकों के अनुसार भाषा मानव-मस्तिष्क की वह आंतरिक प्रक्रिया है जिसका बाह्य अभिव्यक्त रूप उन सामाजिक परिस्थितियों एवं प्रयोजनों द्वारा नियंत्रित होता है जो स्वयं विविध एवं विषम होते हैं! चाम्स्की जिसे व्यवहार (performance) कहते हैं उसका क्षेत्र समाज है। व्यवहार वैयक्तिक है। भाषा सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिफलन है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का नियंत्रण तथा वैयक्तिकता इसे सीमित बनाते हैं। किसी भी भाषिक समुदाय के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य बहुमुखी होते हैं जो व्यवहार के धरातल पर भाषा को बहुमुखी एवं विषम बनाते हैं। भाषा इन्हीं मूल्यों का प्रतिफलन है। इसके विपरीत क्षमता (competence) का क्षेत्र मानव मन है। क्षमता मानसिक प्रक्रिया होने के कारण असीमित है। दूसरी ओर समुदायपरक होने के कारण

इसमें प्रक्रिया समस्त भाषिक समुदाय के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य समाहित होते हैं। इस समुदाय स्तर पर आकर भाषा सम या एक इकाई रूप हो जाती है।

इससे स्पष्ट है कि एक भाषिक समुदाय में भिन्न-भिन्न वाक् आचरण होते हैं। इनमें सामाजिक प्रयोजनों, वक्ता-श्रोता के संबंधों, एवं प्रयोजनों के अनुसार परिवर्तन होता है। इसी कारण एक समुदाय में एक से अधिक कोड मिलते हैं जिनका प्रयोग समाज-नियंत्रित होता है। कहने का तात्पर्य है कि प्रयोजन दृष्टि से भाषा के अनेक विभेद होते हैं जिनका प्रयोग वक्ता-श्रोता के संबंधों पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति जो डाक्टर का व्यवसाय करता है अपने रोगी, नौकर, पत्नी, बच्चों एवं मित्र आदि से विभिन्न कोडों में बात करता है।

इन विभिन्न कोडों के साथ-साथ एक भाषिक समाज में शैलीगत विभिन्नताएँ भी देखने को मिलती हैं। इन शैलियों के भी विशेष सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ होते हैं जो कि सामाजिक प्रयोजनों के साथ ही जुड़े रहते हैं। कोई भी भाषा इन सामाजिक प्रयोजनों एवं शैलीगत भेदों से मुक्त नहीं है। हिंदी के संदर्भ में देखें तो हिंदी की तीन शैलियाँ हैं (1) हिंदुस्तानी, (2) हिंदी अर्थात् संस्कृतनिष्ठ शैली, (3) उर्दू अर्थात् अरबी फ़ारसी निष्ठ शैली। हिंदुस्तानी शेष दो शैलियों का मूलाधार है। हिंदी एवं उर्दू हिंदुस्तानी की आरोपित शैलियाँ हैं जिनमें लिपि एवं शब्द चयन का अंतर है। हिंदी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और उर्दू की लिपि फ़ारसी है। शब्द-चयन की दृष्टि से भी दोनों शैलियों में विभिन्नता देखने को मिलती है। हिंदी में अधिकांश शब्द संस्कृत स्रोत के हैं जबकि उर्दू की अधिकांश शब्दावली अरबी-फ़ारसी से आई है। हिंदुस्तानी दोनों ही लिपियों में लिखी जा सकती है। इसमें दोनों स्रोतों अर्थात् हिंदी एवं अरबी-फ़ारसी में शब्द मिलते हैं जो कि उसकी प्रकृति के अनुरूप परिवर्तित हो गए हैं इन शैलियों में से किसी एक का भी चयन वक्ता की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को व्यक्त करता है। इनमें से हिंदुस्तानी निरक्षर, अशिक्षित एवं निम्न वर्ग की भाषा है। हिंदी एवं उर्दू शिक्षित वर्ग के हिंदू एवं मुसलमान औपचारिक अवसरों पर प्रयुक्त करते हैं एवं यह शिक्षा का माध्यम भी है।

भाषा की विभिन्न कोडों तथा शैलीगत भेदों के साथ-साथ क्षेत्रीय रूप या बोलीगत भेद भी मिलते हैं। ये बोलीगत या स्थानीय रूप उस भाषा को बोलने

वाली जनसंख्या के घनत्व पर निर्भर करते हैं अर्थात् जिस भाषा के बोलने वाले अधिक होते हैं उसके स्थानीय रूप भी अधिक होते हैं। हिंदी भारत के एक बहुत बड़े भू-भाग में बोली जाती है। इसी कारण भारत की अन्य भाषाओं की अपेक्षा इसके सबसे अधिक क्षेत्रीय रूप मिलते हैं। बहुत बड़े भू-भाग में बोली जाने के कारण एक छोर पर रहने वाले व्यक्ति का दूसरे छोर पर रहने वाले व्यक्ति से संपर्क नहीं के बराबर होता है। इस कारण भाषा विभिन्नता भी अधिक मिलती है। ये दूरी जितनी अधिक बढ़ती है इन क्षेत्रीय रूपों में परस्पर बोधगम्यता उतनी कम होती जाती है। स्थानीय रूपों की दृष्टि से भी हिंदी के विभिन्न रूप हैं जिन्हें हिंदी की बोलियाँ कहा जाता है। उदाहरण के लिए अवधी, ब्रज, बुन्देली, आदि हिंदी की बोलियाँ या क्षेत्रीय रूप हैं।

किसी भी भाषा के भाषायी कोश में इन सामाजिक प्रयोजनों, शैलीगत विभेदों तथा स्थानीय रूपों पर आधारित भेदों प्रभेदों के साथ-साथ समाज के बहुभाषी होने के कारण उसमें वे सब भाषाएँ भी आती हैं जो भाषा की आंतरिक व्यवस्था को प्रभावित करती हैं। विदेशी तत्व आरंभ में द्वि-भाषिक लोगों के माध्यम से भाषा में प्रवेश पाते हैं परंतु धीरे-धीरे भाषा उन्हें अपने में आतमसात कर लेती है। ये तत्व भाषा का अंग-उपांग बन जाते हैं और बाद में इस प्रकार सहज रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं कि विदेशी प्रतीत नहीं होते। अन्य भाषा-भाषी इनको या तो यथावत् ग्रहण कर लेते हैं या अपनी भाषा को प्रकृति के अनुरूप ढाल लेते हैं। इन प्रयोजनबद्ध रूपों, शैलीगत भेदों एवं अन्य भाषाओं से प्रभावित होने के कारण यदि हम किसी भी भाषा का अध्ययन करें तो भाषा एक समरूप इकाई न रहकर अनेक उपव्यवस्थाओं की एक व्यवस्था के रूप में दिखलाई देती है। उस भाषिक समुदाय का कोई भी व्यक्ति बोलते समय इन विभिन्न रूपों में से किसी एक का चयन कर सकता है। इनका चयन वक्ता का समाज में स्तर, पद, प्रयोजन मानसम्मान, क्षेत्र एवं शिक्षा को द्योतित करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इन भेदों प्रभेदों का प्रयोग लोग संदर्भ के अनुसार करते हैं। एक व्यक्ति अपने घर में क्षेत्रीय या स्थानीय बोली का प्रयोग करता है तो समाज में आकर अनौपचारिक स्तरों पर हिंदुस्तानी का प्रयोग करता है, औपचारिक स्तर पर हिंदी की आरोपित शैलियों में से किसी एक का प्रयोग करता है। उच्च शिक्षा या न्यायालय आदि में अंग्रेजी का प्रयोग करता है। ये कोड एवं

शैलीगत अन्य परिवर्तन सामाजिक बंधनों से नियंत्रित होने के बावजूद एक सहज एवं स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में देखने को मिलते हैं। किसी भी भाषा की सर्वसमावेशी अभिरचना में भाषा के ये सब विभिन्न रूप आते हैं। हिंदी भाषी समाज के बहुभाषी होने के कारण उसके भाषायी कोश में उन भाषाओं के कोड भी आएंगे जिनसे वह प्रभावित होती हैं। पाइक ने इन समाज संदर्भित भेदों-प्रभेदों, शैलीगत एवं क्षेत्रीय रूपों, विभिन्न कोडों तथा अन्य भाषाओं से प्रभावित भाषा समुच्चय को ही भाषा की संज्ञा दी है, यही भाषा का वास्तविक स्वरूप है।

इन सब भेदों-प्रभेदों, संकल्पनाओं एवं सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में ही हम हिंदी की सर्वसमावेशी अभिरचना एवं समान क्रोड का निर्धारण करेंगे। यहाँ हिंदी भाषा से तात्पर्य उस भाषा से है जो सारे उत्तर भारत में बोली जाती है, जिसमें एक ओर तो अन्य भाषाओं जैसे—अंग्रेजी, संस्कृत, अरबी-फ़ारसी, तुर्की, पुर्तगाली आदि भाषाओं के शब्द आते हैं जो निरक्षर एवं अशिक्षित लोगों द्वारा भी सहजता से प्रयुक्त किये जाते हैं या जो भाषा की प्रकृति के अनुरूप ढलकर उसका अंग बन चुके हैं, दूसरी ओर उसके तीनों शैलीगत भेद अर्थात्—हिंदुस्तानी, हिंदू एवं उर्दू तथा उसके सामाजिक प्रयोजनों के अनुसार समस्त बोलियों (ब्रज, अवधी आदि) एवं विभिन्न कोड आते हैं। भाषा के ये विभिन्न रूप भाषा की स्थिति को जटिल एवं विषम बनाते हैं। इनमें विभिन्नता होते हुए भी किसी न किसी स्तर पर समानता है। इन समान तत्वों के कारण इन भेदों में परस्पर बोधगम्यता है जिसके कारण समाज के विभिन्न स्तर एवं वर्ग के लोगों में संप्रेषण संभव होता है। इन समान तत्वों के कारण कूट रव (channel noise) या अन्य किसी प्रकार का शोर होते हुए भी श्रोता को कथ्य ग्रहण करने में कठिनाई नहीं होती। ये समान तत्व ही भाषा की समान कोड कहलाते हैं। यों तो भाषा के सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूपों एवं विभेदों के आधार पर उसके समस्त अंगों-उपांगों की सर्वसमावेशी अभिरचना एवं समान क्रोड का निर्धारण हो सकता है परंतु मेरे अध्ययन का विषय हिंदी भाषा की स्वन प्रक्रिया के आधार पर भाषा की सर्वसमावेशी अभिरचना के निर्धारण तक ही सीमित है अर्थात् हिंदी के स्वनिम संग्रह का निर्धारण कर यह देखना कि हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के समान क्रोड में कितने स्वनिम हैं, इन तीनों शैलियों में कितने स्वनिम हैं, तथा विभिन्न व्यवस्थाओं एवं उपव्यवस्थाओं के प्रभाव से उनमें कितनी वृद्धि हुई है।

हिंदी की मूल भाषा हिंदुस्तानी में निम्न स्वनिम हैं—

**व्यंजन स्वनिम**

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| स्पर्श | प् | त् | ट् | च् | क् |
| | फ् | थ् | ठ् | छ् | ख् |
| | ब् | द् | ड् | ज् | ग् |
| | भ् | ध् | ढ् | झ् | घ् |
| नासिक्य | म् | न् | | | |
| | म्ह | न्ह | | | |
| संघर्षी | | स् | | | |
| पार्श्विक | | ल् | | | |
| | | ल्ह | | | |
| कम्पित | | र् | | | |
| अर्ध स्वर | व् | य् | | | ह् |

**स्वर स्वनिम**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ई | | | ऊ |
| | इ | उ | |
| ए | अ | | ओ |
| ऐ | | | औ |
| | आ | | |

सहउच्चारण — अनुनासिकता

हिंदुस्तानी में ये सभी स्वनिम व्यतिरेकी वितरण में हैं। किंतु हिंदी की अन्य शैलियों अर्थात् संस्कृतनिष्ठ शैली—हिंदी, अरबी-फ़ारसी निष्ठ शैली—उर्दू तथा अन्य भाषाओं जैसे संस्कृत, अरबी-फ़ारसी, अंग्रेजी के प्रभाव के कारण भाषा के स्वनिम कोश में पहले से वृद्धि हो गई है। संस्कृत शब्दों के माध्यम से /ण्, श्, ष्/ स्वनिम आए (कुछ विद्वान ङ् को भी स्वनिम मानते हैं लेकिन उसका वितरण सीमित है), अरबी-फ़ारसी के माध्यम से भाषा में /क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़्, श्, ?/ स्वनिमों की वृद्धि हुई तथा अंग्रेजी भाषा से /ज़्, फ़्, व़्, ऑ, ऍ, ए/ स्वनिमों की वृद्धि हुई। अंग्रेजी से आगत शब्दों के कारण भाषा की स्वनिम-व्यवस्था में नए स्वनिमों की वृद्धि के साथ-साथ

कुछ उपस्वनों में व्यतिरेक भी आ गया। हिंदुस्तानी में [ड़, ढ़ ] /ड, ढ/ के उपस्वन थे। इनमें परिपूरकता की स्थिति समाप्त हो गई और ये दोनों स्वनिम हो गए। इस प्रकार भाषा की परिवर्द्धित स्वनिम व्यवस्था में स्वनिमों की संख्या में वृद्धि हो गई।

हिंदी की परिवर्द्धित स्वनिम व्यवस्था में निम्न स्वनिम हैं—

## व्यंजन स्वनिम

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्पर्श | प् | त् | ट् | च् | क् | क़् | ? |
| | फ् | थ् | ठ् | छ् | ख् | | |
| | ब् | द् | ड् | ज् | ग् | | |
| | भ् | ध् | ढ् | झ् | घ् | | |
| नासिक्य | म् | न् | ण् | | (ङ्) | | |
| | म्ह | न्ह | | | | | |
| संघर्षी | | स् | श् | | | | |
| | फ़् | ज़् | | | ख़् | | |
| | व़् | | | | । | | |
| पार्श्विक | | ल् | | | | | |
| | | ल्ह् | | | | | |
| कम्पित | | र् | | | | | |
| | | | ड़् | | | | |
| अर्धस्वर | व् | य् | | | | | |

## स्वर स्वनिम

ई ऊ

इ उ

ए ओ

ए॒

ऍ अ ओ

ऐ ऑ

आ

सह उच्चारण—अनुनासिकता

संस्कृत, अरबी-फ़ारसी एवं अंग्रेजी की उपव्यवस्थाओं के प्रभाव से हिंदी की परिवर्धित व्यवस्था में ये सब स्वनिम व्यतिरेक में है। इन विभिन्न भाषाओं एवं शैलीगत भेदों के प्रभाव से एक ओर तो भाषिक कोश में नए स्वनिम आए दूसरी ओर इनके प्रभाव से मूल भाषा की आंतरिक व्यवस्था भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। /ड़, ढ़, ण्/ आदि जो मूल भाषा में पृथक स्वनिम न होकर परिपूरक वितरण में थे इन उपव्यवस्थाओं के प्रभाव के कारण स्वनिम बन गए। इस प्रकार भाषा के परिवर्तित स्वनिम संग्रह कोश में निम्न स्वनिम और आ गए—/ण्, श्, क़, ख़्, ग़, ज़, फ़, व, (दंत-ओष्ठ्य), ड़्, ऑ, ऍ, ए, ?/ इन स्वनिमों में से /ज़्, फ़्/ हिंदी में दो स्रोतों से आए—अंग्रेजी शब्दों के माध्यम से एवं अरबी-फ़ारसी शब्दों के माध्यम से। इसी प्रकार/श्/ भी दो स्रोतों से (संस्कृत एवं अरबी फ़ारसी से आया) तथा व् संस्कृत तथा अंग्रेजी माध्यम से हिंदी में आया। इन सब स्वनिमों का प्रयोग भी सामाजिक—जैसे शिक्षा, स्तर आदि एवं सांस्कृतिक—जैसे हिंदू, मुस्लिम आदि संदर्भों द्वारा नियंत्रित है। अंग्रेजी, संस्कृतनिष्ठ शैली (हिंदी) व अरबी-.फारसी निष्ठ शैली (उर्दू) से परिचित, शिक्षित बहुभाषी लोग ही इनका यथावत् उच्चारण कर पाते हैं। उदाहरण के लिए, निरक्षर, अशिक्षित या मुस्लिम लोग जो संस्कृत-निष्ठ शैली (हिंदी) से परिचित नहीं हैं वह संस्कृत स्रोत से आए शब्दों में संस्कृत से आए स्वनिमों के स्थान पर मूल भाषा के स्वनिमों का ही प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार उर्दू से अनभिज्ञ संस्कृत-निष्ठ हिंदी जानने वाले लोग भी अरबी-फ़ारसी के स्वनिमों का ज्यों का त्यों उच्चारण नहीं कर पाते और उनके स्थान पर मूल भाषा के स्वनिमों का प्रतिस्थापन करते हैं। उदाहरण के लिए, /.क् ख़् .ग्/ के स्थान पर वे /क्, ख्, ग्/ बोलते हैं। यही स्थिति अंग्रेजी भाषा से आए स्वनिमों की है। केवल अंग्रेजी पढ़े उच्च शिक्षा प्राप्त लोग ही इन अंग्रेजी स्रोतों से आए स्वनिमों का यथावत् उच्चारण कर पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन विभिन्न उपव्यवस्थाओं एवं शैलीगत भेदों से परिचित बहुभाषी लोग ही इनका सही उच्चारण कर पाते हैं। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो हिंदी के इन सब परिवर्धित स्वनिमों का अपनी बोलचाल की भाषा में प्रयोग करते हैं। मूल भाषा-भाषी, निरक्षर या भाषा की केवल एक शैली से परिचित लोग इनका सही-सही उच्चारण नहीं कर पाते। वे इनके स्थान पर मूल भाषा के स्वनिमों का प्रतिस्थापन करते हैं। नीचे के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

| | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| /श/ | | | |
| संस्कृत (सं) | शोभा | सोभा | शोभा |
| फ़ारसी ( फा) | शीशा | सीसा | शीशा |

/ण/ — यह केवल संस्कृत-निष्ठ शैली (हिंदी) में ही मिलती है। हिंदी की अन्य शैलियों में संस्कृत स्रोत से आए शब्दों में ण् के स्थान पर न् मिलता है। उदाहरण—

| हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|
| बाण | बान | बान |
| गुण | गुन | गुन |

/ङ्/—इस का वितरण सीमित है। यह केवल संस्कृत-निष्ठ शैली में संस्कृत स्रोत से आए शब्दों में मिलता है। हिंदी की अन्य शैलियों में यह /न्/ में साथ परिपूरक वितरण में है। उदाहरण:—/ङ्/ : /न्/ /पंखी :/कनखी/। इसी प्रकार /ङ्/ और /ण्/ भी हिंदी की संस्कृत-निष्ठ शैली में व्यतिरेक के हैं। उदाहरण —/वाङ्मय/ : /मृण्मय/ है।

हिंदी की सर्वसमावेशी अभिरचना में /क़्, ख़्, ग़्/ स्वनिम हैं। ये तीनों स्वनिम हिंदी की अरबी-फ़ारसी-निष्ठ शैली अर्थात् उर्दू में ही मिलते हैं। हिंदी की अन्य दो शैलियों—हिंदुस्तानी तथा संस्कृत-निष्ठ शैली (हिंदी) बोलने वाले इनके स्थान पर अपनी मूल भाषा के स्वनिमों का प्रतिस्थापन करते हैं या हिंदी की इसी शैली को बोलने वाले द्विभाषी लोग ही केवल औपचारिक अवसरों पर इसका सही उच्चारण कर पाते हैं। जैसे :—

| | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| /क़/ | कातिल | कातिल | क़ातिल |
| | बाकी | बाकी | बाक़ी |
| /ख़्/ | खुद | खुद | ख़ुद |
| | नाखून | नाखून | नाख़ून |
| /ग़्/ | बाग | बाग | बाग़ |
| | मुगल | मुगल | मुग़ल |

हिंदी सर्वसमावेशी अभिरचना में /ज़्, फ़्/ स्वनिम हैं जो अंग्रेजी तथा अरबी-फ़ारसी के शब्दों के माध्यम से आए हैं। अंग्रेजी शब्दों में आए

/ज़् फ़्/ का तीनों शैलियों के बोलने वाले लोग जिन्हें अंग्रेजी का ज्ञान नहीं है इनके स्थान पर /ज्, फ्,/ बोलते हैं। केवल अंग्रेजी जानने वाले लोग कुछ ही द्विभाषी लोग इनका सही उच्चारण करते हैं। उदाहरण के लिए—

| | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| /ज़्/ अंग्रेजी | टेलीविजन | टेलीविजन | टेलीविजन |
| /फ़्/ अंग्रेजी | फीस | फीस | फीस |

अरबी-फ़ारसी से आए /ज़् फ़्/ की स्थिति इससे भिन्न है। हिंदी की संस्कृत-निष्ठ शैली तथा हिंदुस्तानी बोलने वाले लोग इनका उच्चारण /ज् फ्/ करते हैं लेकिन अरबी-फ़ारसी निष्ठ (उर्दू) बोलने वाले लोग इन शब्दों में /ज़् फ़्/ ही बोलते हैं। उदाहरण :—

| | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| /फ़्/ (अरबी फ़ा) | साफ | साफ | साफ़ |
| /ज़/ (अरबी फ़ा) | चीज | चीज | चीज़ |

/व़्/ (दंत ओष्ठ्य) भी हिंदी संस्कृत शब्दों के माध्यम से तथा अंग्रेजी शब्दों के माध्यम से आया है। परंतु संस्कृत /व़/ का हिंदुस्तानी तथा उर्दू बोलने वाले लोग उसका /ब्/ से प्रतिस्थापन करते हैं। जैसे :—

| | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| /व़/ (सं) | वन | बन | बन |
| | सोमवार | सोमवार | सोमबार |

अंग्रेजी से आए /व़्/ के स्थान पर इन तीनों शैलियों के बोलने वाले अर्ध स्वर /व्/ का उच्चारण करते हैं। अंग्रेजी पढ़े हुए लोग भी इसके स्थान पर कहीं पर दंत ओष्ठ्य /व्/ का उच्चारण करते हैं तो कभी अर्धस्वर /व्/का उदाहरण—

| /व़्/ (अंग्रेजी) | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| | वैगन | वैगन | वैगन |
| | वायलिन | वायलिन | वायलिन |

इसी प्रकार अरबी फ़ारसी के शब्दों के माध्यम से हिंदी भाषा को सर्वसमावेशी अभिरचना में /ʔ/ स्वनिम की अभिवृद्धि हुई है परंतु उर्दू शैली का प्रयोग करने वाले लोग ही इसका यथावत् उच्चारण करते हैं तथा हिंदी

हिंदुस्तानी बोलने वाले लोग इसका उच्चारण कर ही नहीं पाते अर्थात् हिंदी की अन्य दो शैलियों में इसका लोप हो गया है। उदाहरण :—

| हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
| --- | --- | --- |
| एलान | एलान | ए'लान |

इन व्यंजन स्वनिमों की भाँति अंग्रेजी के प्रभाव से हिंदी में /ऑ, ऍं, ए/ स्वनिमों की अभिवृद्धि हुई है, किंतु अंग्रेजी पढ़े हुए द्विभाषी ही इनका सही-सही उच्चारण कर पाते हैं अन्यथा हिंदी की अन्य तीनों शैलियाँ जानने वाले लोग /ऑ/ के स्थान तर /आ/ का तथा/ ऍं, ए/ के स्थान पर /ए, ऐ/ का उच्चारण करते हैं। जैसे -—

| /ऑ/ (अंग्रेजी) डॉक्टर | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
| --- | --- | --- | --- |
| | डाक्टर | डाक्टर | डाक्टर |
| /ऍं→ए/हऍड्/ (Head) | /ह्‌एड्/ | /ह्‌ऐड्/ | /ह्‌एड्/ |
| /ए→ए/ फऑरएन/ (foreign) | /फ़आरएन्/ | /फ़्आर्‌एन्/ | /फ़आरएन्/ |

मूल भाषा में [ड्, ड़्], [ढ्, ढ़्] परिपूरक वितरण में थे। लेकिन अंग्रेजी शब्दों—मूड, रेडियो, सोडा आदि के कारण तथा देशी शब्द अडिग सुडौल आदि के कारण स्वनिमिक एवं रूपस्वनिमिक स्तर पर दोनों स्वनों में व्यतिरेक आ गया। हिंदी की परिवर्धित शैली में दोनों दो पृथक स्वनिम हैं। उदाहरण :—/ड् : ड़्/ /मूड/ : /मूड़/ । यद्यपि कुछ शब्दों में दोनों मिलते हैं। जैसे—/मेड्~मेड़्।/ ।

स्वर और व्यंजनों के हिंदी की विभिन्न शैलियों में विभिन्न रूप मिलते हैं। यही स्थिति व्यंजन गुच्छों की है। अन्य भाषाओं तथा शैलियों से आए व्यंजन गुच्छों का भाषा की विभिन्न शैलियों में उनकी प्रकृति के अनुरूप परिवर्तन हो गया है। केवल ये शैलियाँ या भाषाएँ जानने वाले लोगों की बोलचाल में या साहित्य में ही इनका सही रूप मिलता है। इसको भी हम उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। जैसे, हिंदी के भाषाई कोश में व्यंजन-गुच्छ संस्कृत शब्दों के माध्यम से आए हैं उनका संस्कृतनिष्ठ शैली (हिंदी) बोलने वाले लोग सही उच्चारण करते हैं लेकिन वही व्यंजन गुच्छ यदि अरबी फ़ारसी के माध्यम से आया है तो इसके स्थान पर यही लोग अपनी मूल भाषा हिंदुस्तानी की प्रकृति के अनुरूप परिवर्तन कर डालते हैं। यही स्थिति अरबी फ़ारसी निष्ठ शैली अर्थात् उर्दू बोलने वालों की है। उर्दू

बोलने वाले लोग अरबी फ़ारसी शब्दों द्वारा आये उसी व्यंजन गुच्छ का ज्यों का त्यों उच्चारण करते हैं परंतु यदि वही व्यंजन गुच्छ यदि संस्कृत शब्दों के माध्यम से आया है तो वे उसका हिंदुस्तानी की प्रकृति के अनुरूप उच्चारण करते हैं। हिंदुस्तानी में सभी भाषाओं से आए व्यंजन गुच्छों का स्वरागम या श्रुति आ जाने के कारण लोप हो जाता है। उदाहरण :—

| व्यंजन गुच्छ | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| /स्म्/ (सं) | भस्म | भसम | भसम |
| /स्म्/ (अरबी-फ़ा) | रसम | रसम | रसम |

परंतु अंग्रेजी व्यंजन गुच्छों का हिंदी की तीनों शैलियो में लोप हो गया। केवल अंग्रेजी जानने वाले लोग ही इनका सही उच्चारण करते हैं जैसे :—

| | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| /स्कू/ | इ<br>स्कूल<br>∽<br>स्कूल | इ<br>स्कूल<br>∽<br>अ स्कूल<br>∽<br>सकूल | इ<br>स्कूल |

इसी प्रकार संस्कृत शब्दों का अनुस्वार उर्दू तथा हिंदुस्तानी में अनुनासिकता में परिवर्तित हो गया है परंतु हिंदी की संस्कृतनिष्ठ शैली में हमें दोनों इस व्यतिरेक में मिलते हैं। जैसे :—

| | हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|---|
| चन्द्र (सं) | /चन्द्र/<br>/चाँद/ | चाँद | चाँद |
| दन्त (सं) | /दन्त/<br>/दाँत/ | दाँत | दाँत |

संस्कृत क्+ष् व्यंजन गुच्छों की भी हिंदी की विभिन्न शैलियों में विभिन्न स्थिति मिलती है संस्कृत निष्ठ शैली में क्+ष् ही मिलता है उर्दू में इसका /ख/ में परिवर्तन हो गया है लेकिन हिंदुस्तानी में हमें /छ्, ख्/ दोनों रूप मिलते हैं।

| हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|
| लछमी | लछमी∽लखमी | लखमी∽लछमी |

इन सबके अतिरिक्त अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं क्योंकि हिंदी की विभिन्न शैलियों में इनके विभिन्न रूप मिलते हैं। जैसे :—

| हिंदी | हिंदुस्तानी | उर्दू |
|---|---|---|
| गुम्मट | गुम्बद | गुम्बद |
| ⤷ | ⤷ | |
| गुम्बद | गुम्बज | |

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिंदी की विभिन्न शैलियों में स्वनिमों और शब्दों के विभिन्न रूप मिलते हैं। इन शैलीगत भेदों का कारण वक्ता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। इन विभिन्न रूपों का एक कारण वक्ता की शिक्षा भी है जो एक सामाजिक प्रयोजन है। भाषा की सर्वसमावेशी अभिरना में ये सब विभिन्न रूप से समाहित हैं। इन विभिन्नताओं के होते हुए भी हिंदी भाषी समाज के लोग एक दूसरे को समझ लेते हैं। इसका कारण उस भाषा की व्यक्ति बोलियों, शैलियों और विभिन्न रूपों में कुछ ऐसे समान तत्व हैं जिनके कारण संप्रेषण संभव होता है। दो व्यक्ति-बोलियाँ (idiolects) जितनी अधिक निकट होंगी, व्यक्तियों में आपसी संप्रेषण जितना ही अधिक होगा, उनमें समान तत्व भी अधिक होंगे और जितने अधिक समान तत्व होंगे उनमें उतनी ही अधिक परस्पर बोधगम्यता होगी। ये समान तत्व ही भाषा की समान कोड हैं। शैलियों के आधार पर देखें तो हिंदुस्तानी दोनों आरोपित शैलियों की मूल भाषा है। विदेशी तत्व या तो द्विभाषी लोगों के माध्यम से भाषा में पहुँचते हैं या हिंदुस्तानी की प्रकृति के अनुरूप परिवर्तित होकर दोनों शैलियों में पहुँच कर भाषा का अंग बन गए हैं। हिंदी की सर्वसमावेशी अभिरचना में एक ओर तो हिंदी की तीनों शैलियाँ—हिंदुस्तानी, संस्कृत-निष्ठ शैली अर्थात् हिंदी तथा अरबी-फ़ारसी, निष्ठ शैली अर्थात् उर्दू, समाहित है तो दूसरी ओर संस्कृत, अरबी-फ़ारसी, अंग्रेजी आदि अन्य भाषाएँ जिनके तत्व द्विभाषी लोगों के अतिरिक्त अन्य भाषियों द्वारा भी सहज रूप से प्रयुक्त होकर भाषा का अंग बन चुके हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी भाषा की समस्त सर्वसमावेशी रचना को व्यवहार में नहीं लाता। उसमें उनकी क्षमता (competence) तो होती है अर्थात् वह भाषा के किसी भी क्षेत्र में आने वाले शब्द को संदर्भ में समझ तो लेता है लेकिन उनका व्यवहार नहीं करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा के उन सभी रूपों का वह व्यवहार नहीं करता जिन्हें वह जानता है। वह केवल क्षमता क्षेत्र की भाषा के केवल कुछ तत्वों का ही सक्रिय रूप से प्रयोग करता है। इस प्रकार वह आयुपर्यन्त अपनी भाषा सीखता रहता है और

धीरे-धीरे उसके इस भाषाई क्षमता में परिवर्तन होता रहता है। क्षमता क्षेत्र व्यवहार क्षेत्र में परिवर्तित होता रहता है। व्यक्ति परिवार से निकल कर जैसे-जैसे समाज में आगे बढ़ता है उसकी भाषा भी अद्र्ध-द्विभाषिता (semi-bilingualism) की ओर बढ़ती है अर्थात् व्यापक दायरे में आकर वह अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि के अनुरूप किसी एक शैली का ही प्रयोग करता है। सर्वसमावेशी अभिरचना में भाषा के ये सभी विभिन्न रूप समाहित होने के कारण भाषा सम, एक इकाई रूप में दिखलाई पड़ती है। इस (समस्त) भाषा का कोई भी व्यक्ति व्यावहारिक रूप में प्रयोग नहीं करता। इस क्षमता स्तर पर आकर भाषा संदर्भ मुक्त हो जाती है। व्यवहार में ही वह केवल समाज द्वारा नियंत्रित हो जाने के कारण वह विषम एवं सीमित हो जाती है। इस स्तर पर आकर व्यक्ति की अपनी सीमाएँ भी सामने आ जाती हैं। हिंदी की इस सर्वसमावेशी अभिरचना को आरेख द्वारा स्पष्ट किया जाता है।
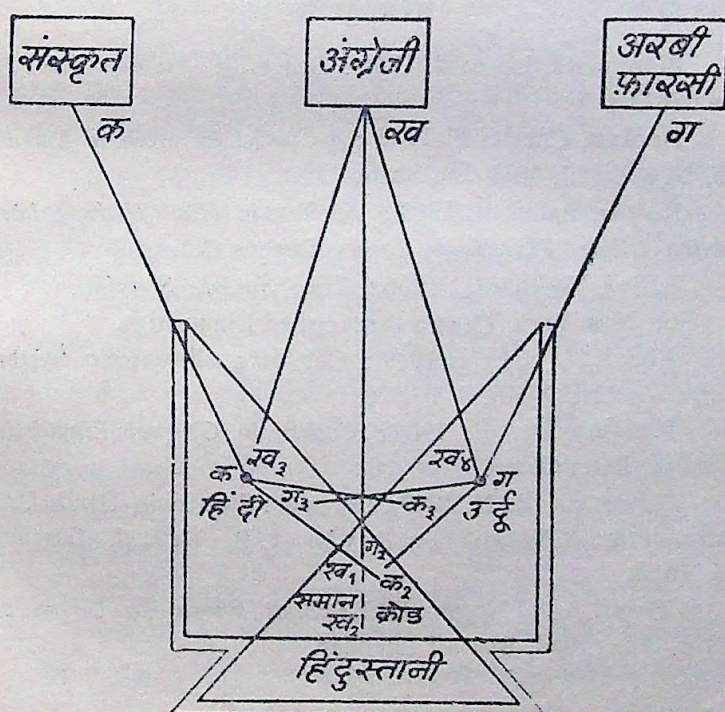
इस आरेख में दोहरी रेखा भाषा की विभिन्न कोडों तथा शैलियों के आधार

पर निर्धारित भाषा की सर्वसमावेशी अभिरचना को व्यक्त करती है।

$क_1$—हिंदी पर संस्कृत का प्रभाव।

$क_2$—समान कोड में संस्कृत के तत्व जो या तो उसी रूप में मिलते हैं या भाषा की प्रकृति के अनुरूप परिवर्तित रूप में मिलते हैं।

$क_3$—उर्दू में हिंदी से आए भाषाई तत्व।

$ख_1$—$_2$—समान कोड में अंग्रेजी के तत्व।

$ख_3$—हिंदी में अंग्रेजी के तत्व।

$ख_4$—उर्दू में अंग्रेजी के तत्व।

$ग_1$—उर्दू में अरबी-फ़ारसी के तत्व।

$ग_2$—समान कोड में अरबी-फ़ारसी के तत्व, जो कि यथावत एवं परिवर्तित दोनों रूपों में मिलते हैं।

$ग_3$—हिंदी में उर्दू से आए तत्व।

## संदर्भ पुस्तकें

Bloomfield. Leonard. 1964 : *Language.* Delhi, Moti Lal Banarsi Dass.

Hockett, Charles F. 1973 : *A Course in Modern Linguistics*, New Delhi, IBH Publishing.

Kelkar, Ashok R. 1968 : *Studies in Hindi-Urdu I Introduction & Word Phonology.* Poona, Deccan College.

Labov, William. 1966 : *The Social Stratification of English.* New York, Centre for Applied Linguistics.

Pike K. L. & Fries 1949 : 'Coexistent Phonemic System' *Language* 25 (29–50).

Saussure, De. F. 1964 : *Course in General Linguistics*, London, Peter Owen.

Srivastava, R. N. 1969 : 'Review : Studies in Hindi Urdu Introduction & Word Phonology by A. R. Kelkar', *Language* 45 No. 4.

Tiwari, Udai Narain 1961 : *Hindi Bhasa ka Udgam aur Vikas*, Allahabad, Bharati Bhandar.

———

# भाषा का सामाजिक परिप्रेक्ष्य

—पुष्पा श्रीवास्तव

मानव का अनुभव, उसका चिंतन तथा व्यवहार अपने सामाजिक परिप्रेक्ष्य से संबंधित होता है। समाज से मानव का संबंध भाषा द्वारा संपन्न होता है जो उसके अनुभव के क्षेत्र, चिंतन प्रक्रिया और व्यवहार को न केवल प्रेरित करती है वरन संयोजित और पुष्टि भी करती है। मानव का सामाजिक परिप्रेक्ष्य उसे अन्य सभी दिशाओं में से एक विशिष्ट दिशा में और विशिष्ट ढंग से ही विचारों को व्यक्त करने के लिए बढ़ावा देता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि व्यक्ति किसी अन्य दिशा में विचार नहीं कर सकता या समाज-निर्धारित ढंग के अतिरिक्त किसी दूसरे ढंग से व्यवहार नहीं कर सकता। इसका अर्थ केवल यह लगाना है कि मानव के चिंतन और व्यवहार को उसके समाजिक अनुभव एक सुनिश्चित दिशा प्रदान करते हैं और दूसरी दिशा में जाने से रोकते भी हैं।

इस कथन की सत्यता और महत्व शिक्षा में पिछड़े हुए बालकों की समस्या का अध्ययन करने वाले मनोवैज्ञानिक बर्नस्टीन (1958 : 78) ने भलीभाँति समझा है। उन्होंने कई अनुसंधानों के आधार पर लिखे गये अपने लेखों में सामाजिक परिप्रेक्ष्य पर विशेष बल दिया है और उस पर आधारित उनके 'व्यापक' (elaborated) कोड और सीमित (restricted) कोड के संप्रत्ययों ने शिक्षा जगत और समाज-भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र में रत विद्वानों और शोधकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है और उसके द्वारा किए गए प्रयोगों को अमरीका में विभिन्न सामाजिक परिप्रेक्ष्य में करके बर्नस्टीन के सिद्धांतों की पुष्टि या आलोचना की गई है। बर्नस्टीन के (1960, 1962 ए, 1962 बी) द्वारा किए गए अनुसंधानों को और अधिक देशों में अधिक विस्तार के साथ कार्यान्वित करने की आवश्यकता है।

बर्नस्टीन के सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए उनके सिद्धांत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा

जैसा कि बर्नस्टीन ने स्वयं स्वीकार किया है उसके सिद्धांत पर नृविज्ञानी केसीरेर Cassairer), सपीर, भाषावैज्ञानिक चाम्स्की और व्हार्फ, समाजशास्त्री दुर्खीम और विचारवेत्ता कार्ल मार्क्स के विचारों का प्रभाव पड़ा है। दुर्खीम ने उन्हें प्रतीकात्मक व्यवस्था, सामाजिक संबंध और अनुभवों की संरचना का परस्पर संबंध पता लगाने में एक अनूठा दृष्टिकोण प्रदान किया है। दुर्खीम ने सामाजिक संबंधों के आधार पर विभिन्न कोटियों की संरचना प्राप्त करने का प्रयास किया और प्रतीकात्मक व्यवस्था के फार्म्स (साँचे) और अनुभव के गठन (structuring) के संबंधों को जानने का प्रश्न उठाया है। सामाजिक एकीकरण के विभिन्न रूपों के अध्ययन में उसने यांत्रिक तादात्म्य की अंतर्निहित (implicit) गहन (condensed) प्रतीकात्मक संरचना और अवयवी तादात्म्य की अधिक व्यक्त (explicit) और विविधतापूर्ण प्रतीकात्मक संरचनाएँ पायी हैं।

केसीरेर और सपीर के अध्ययन बर्नस्टीन की भाषा के सांस्कृतिक पक्ष और संस्कृति का व्याकरण और व्याकरण के माध्यम से भाषा के आर्थी पक्ष और बोधात्मकता पर प्रभाव के विषय में जानकारी प्राप्त हुई है। व्हार्फ ने तो बर्नस्टीन के लिए संप्रेषण-व्यवस्था में भाषा वैज्ञानिक 'डीप स्ट्रक्चर' स्पष्ट करके रख दिया है।

बर्नस्टीन ने यह स्वीकार तो कर लिया कि प्रतीकात्मक-व्यवस्था और सामाजिक गठन और अनुभव गठन की प्रक्रिया में संबंध है, किंतु दो समस्याएँ फिर भी उनके सामने बनी रहीं। पहली थी कि किस प्रकार अनुभवों के गठन की यह प्रक्रिया चलती है और दूसरी समस्या थी यह जानने की कि अनुभवों की सामाजिक संरचना की प्रक्रिया व्यक्त नहीं है। समाजशास्त्री मीड ने यह तो स्पष्ट कर दिया कि समाज द्वारा अनुभवों का गठन किस प्रकार होता है परंतु इस प्रक्रिया की सही जानकारी वे भी न दे पायीं और न ही समाज में होने वाले परिवर्तन की व्याख्या ही कर सकीं। उनके संप्रत्यय 'the generalized other' को यदि दुर्खीम के 'फ्रेमवर्क' में रख भी लें तब भी 'परिवर्तन' को समझने की समस्या बनी रहती है। बाद में मीड ने इसका हल "I" और "me" में ढूँढा। "I" व्यक्ति की ऐच्छिकता और सर्जनात्मकता जो वाक् द्वारा संभव होती है, दर्शाता है। "I" "me" की प्रतिक्रिया भी है और उसे स्वरूप भी प्रदान करता है।

इसी के साथ ही बर्नस्टीन को कार्लमार्क्स की सामाजिक दर्शन की विचारधारा ने विशेष रूप से समाज की व्यवस्था के संप्रत्यय ने प्रभावित

किया। मार्क्स के मतानुसार आधुनिक समाज में उत्पादक व्यवस्था और सत्ता संबंध में संबंध है क्योंकि सत्ता-संबंध समाज की उत्पादक-व्यवस्था के कारण बनते हैं अतः वे सामाजिक महत्व की कुंजी है। भाषा की नाजुक प्रतीकात्मक व्यवस्था तक पहुँच, नियंत्रण नवीकरण और परिवर्तन इस सिद्धांत के अनुसार सत्ता संबंधों द्वारा संचालित होते हैं और वर्ग-व्यवस्था में अभिरत होते हैं। बर्नस्टीन को इस मत के अनुसार समाज के विभिन्न वर्गों की भाषा व्यवस्था का अध्ययन करने की प्रेरणा मिली।

**भाषावैज्ञानिक कोड और वाक् कोड**

चाम्स्की ने 1965 में भाषा की नियम-व्यवस्था को समाज की नियम व्यवस्था से अलग करके अध्ययन किया जो कि भाषा के नियमों का संदर्भगत प्रयोग करने को बाध्य थी। चाम्स्की ने 'क्षमता' और व्यवहार (performance) में अंतर किया है। क्षमता से तात्पर्य भाषा की नियम व्यवस्था की समुचित जानकारी और व्यवहार से तात्पर्य नियम-व्यवस्था का सामाजिक प्रयोग है। क्षमता संदर्भमुक्त तथा अमूर्त चिंतन की अपेक्षा रखती है; किंतु व्यवहार समाज के संदर्भ में बँधा हुआ होता है। यह संदर्भबद्धता उसके वाक् व्यवहार को निर्धारित करती है। क्षमता यदि आदर्श है तो व्यवहार उस आदर्श से नीचे स्तर का प्रायोगिक रूप है जिसे चाम्स्की ने "Fall" स्खलन कहा है। इस प्रकार चाम्स्की के अनुसार दक्षता का स्रोत मनुष्य में ही निहित है। इस आधार पर सभी मनुष्य भाषा के सर्जनात्मक पक्ष को पाने में सक्षम हैं किंतु दूसरी ओर व्यवहार का नियंत्रण समाज द्वारा होने के कारण, वह एक विशिष्ट सांस्कृतिक व्यवहार या क्रिया होता है जिसका चुनाव विशिष्ट सांस्कृतिक स्थिति के अनुरूप विशिष्ट वाक् प्रतिक्रियाओं में से करना पड़ता है। इस प्रकार एक दृष्टि से चाम्स्की दक्षता की क्षमता और व्यवहार में गिरावट के रूप में मनुष्य के दुर्भाग्य की कहानी की ओर संकेत करता है वाक् दक्षता होते हुए भी समाज उसे सीमाओं से बाँध देता है।

किंतु जब हम वाक् या "पैरोल" का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि भाषा के नियम—औपचारिक और अनौपचारिक—हमारे विकल्पों का संचालन करते हैं। द्वितीय नियम-व्यवस्था अथवा अनौपचारिक नियम-व्यवस्था सांस्कृतिक नियम-व्यवस्था है। भाषावैज्ञानिक जिस कोड की कल्पना व्याकरण के गुणों की व्याख्या करने के लिए करते हैं वह असंख्य वाक्-कोडों को बनाने

की क्षमता रखता है और इसे न मान लेने का कोई कारण भी नहीं है कि कोई भी भाषा-कोड दूसरे भाषा-कोड से इस बात में उत्तम नहीं है। इस तर्क द्वारा यह सिद्ध होता है कि भाषा नियमों का समुच्चय है जिनका सभी वाक्-कोड पालन करते हैं लेकिन जहाँ तक किसी वाक् कोड-विशेष से प्रयुक्त होने का प्रश्न है वह व्याकरण नहीं निर्धारित करता। इसका निश्चय संस्कृति करती है कि सामाजिक संबंधों और विशिष्ट संदर्भों को व्यक्त करने के लिए कौन-सा वाक्-कोड सक्षम है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार बर्नस्टीन के व्यापक कोड और सीमित कोड भाषावैज्ञानिक न होकर समाजभाषावैज्ञानिक हैं क्योंकि उनका निर्धारण, संचालन और नियंत्रण सांस्कृतिक व्यवस्था द्वारा होता है। ये विभिन्न प्रकार की भाषा या वाक् कोड सामाजिक संबंधों के प्रतीकात्मक रूप हैं और भाषाव्यवहार का नियोजन करते हैं तथा विभिन्न वक्ताओं के लिए विभिन्न सामाजिक संबंधों के अनुरूप महत्वपूर्ण भाषायी व्यवस्थाओं का सर्जन करते हैं। इन भाषा कोडों द्वारा ही वक्ता के अनुभवों को संगति (relevance) प्राप्त होती है और भाषा को यह संगति मिलती है संस्कृति या उप संस्कृति से। इस सिद्धांत को और स्पष्ट करने के लिए अब हम सामाजिक वर्ग, 'अर्थ' की व्यवस्था और वाक् कोड के संबंध पर विचार करेंगे।

**सामाजिक वर्ग, अर्थ की व्यवस्था और वाक् कोड**

यहाँ हम 'वाक्' की ही चर्चा करेंगे 'भाषा' की नहीं, विशेष रूप से वाक् पर संदर्भों द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों की। हमें सबसे पहले यह पता लगाना है कि जन्म के बाद जैविकमानव किस प्रकार सामाजिक प्राणी बनता है। अर्थात् सामाजीकरण प्रक्रिया का स्वरूप क्या है? समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों आदि के अनुसार समाजीकरण एक अत्यंत जटिल प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राणी में नैतिक, ज्ञानात्मक और भावात्मक बोध जागृत किया जाता है; उसे विशिष्ट रूप और कथ्य प्रदान किया जाता है। समाजीकरण द्वारा ही बालक को उन विभिन्न भूमिकाओं से अवगत करवाया जाता है जिनको अदा करने की समाज उससे अपेक्षा रखता है। इस प्रकार एक तरह से लोगों को सुरक्षित रखा जाता है। समाजीकरण की इस प्रक्रिया में बालक धीरे-धीरे सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता को स्वीकार करता जाता है। और यह स्थिति इसी प्रकार से इस व्यवस्था में परिवर्तन लाने के क्षेत्र और संभावनाओं को सीमित

करती रहती हैं । जिन सामाजिक संस्थाओं के द्वारा इस प्रक्रिया को संपन्न किया जाता है, वे हैं—परिवार, स्कूल और जीवकोपार्जन के लिए काम ।

हमारे सामने इस समय जो प्रश्न है वह है कि कौन से सामाजिक तत्व भाषा-व्यवहार को प्रभावित करते हैं ? जहाँ तक सामाजिक-वर्ग के प्रभाव का प्रश्न है हम सभी का अनुभव है कि यह हमारे काम, शिक्षा की भूमिका आदि पर विशेष प्रभाव डालती है । परिवारों को एक विशेष प्रकार के संबंधों से जोड़ता है । वर्ग व्यवस्था ने विभिन्न जातियों के प्रकार्य को अलग-अलग निश्चित कर दिया है और सभी वर्गों को स्तरों के अनुसार सोपान क्रम में बाँध दिया है । इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था बनाने और बनाये रखने में तीन तत्व-ज्ञान, संभावनाएँ और वैयक्तिक पृथक्करण (individuous insulation) कार्य करते हैं । ये समाज के भौतिक हितों की रक्षा के लिए आवश्यक भी है ।

समाज की वर्ग-व्यवस्था ने ज्ञान के वितरण को भी प्रभावित किया है । इतिहास इसका साक्षी है । आज भी ज्ञान थोड़े से व्यक्तियों में सीमित है । ऐसे मुट्ठीभर लोग ही हैं जो सामान्य भाषा के प्रतीकों से उठकर संदर्भमुक्त प्रतीकों द्वारा विचार और चिंतन करने की क्षमता रखते हैं । इन्हीं के पास प्रज्ञा है और परिवर्तन लाने की बौद्धिक क्षमता भी । यह तथ्य इस बात की ओर संकेत करता है कि 'अर्थ' की दो व्यवस्थाएँ हैं—एक सार्वभौमिक और दूसरी विशिष्ट । सार्वभौमिक अर्थ वे हैं जिनके द्वारा सिद्धांतों और कार्यों को भाषा द्वारा व्यक्त किया जाता है और जिन्हें सामान्य ढंग से समझा जाता है । विशिष्ट अर्थ भाषा में ही निहित होते हैं । सार्वभौमिक अर्थ संदर्भ से अपेक्षाकृत मुक्त होते हैं, विशिष्ट अर्थ संदर्भ बद्ध होते हैं ।

बर्नस्टीन के अनुसार समाजीकरण प्रक्रिया बालक को विभिन्न भाषायी कोडों पर अधिकार पाने में सहायता करती है । व्यापक कोड बालकों को सार्वभौमिक अर्थों को ग्रहण और समझने में सहायक होता है किंतु सीमित कोड बालकों को शब्दों के विशिष्ट अर्थ को समझने का ही अवसर देता है । अतः दोनों कोड अलग-अलग भाषायी दक्षता और सामाजिक संबंधों को समझने की क्षमता प्रदान करते हैं । सीमित कोड स्थानीय सामाजिक संगठन को ही समझने में सहायक होता है जबकि व्यापक कोड द्वारा विस्तृत और सार्वभौमिक संबंधों को भी समझा जा सकता है । सीमित और व्यापक कोडों

की कुछ और विशेषताएँ हैं जैसे सीमित कोड का आधार संक्षिप्त प्रतीक है और व्यापक कोड के प्रतीक उच्चरित हैं। सीमित कोड रूपक पर निर्भर हैं, व्यापक कोड तर्क पर। यह कोड सामाजीकरण प्रक्रिया के संदर्भ में भाषा के तत्संबंधित संदर्भ को महत्व देने और संबंध स्थापित करने की दिशा का निर्धारित करते हैं। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति के अभ्यस्त वाक्-कोड में परिवर्तन उन साधनों में परिवर्तन की अपेक्षा रखता है जिनके द्वारा वस्तुओं और व्यक्तियों के संबंधों को आत्मसात किया जाता है।

**सामाजिक संदर्भों के प्रकार, सामाजिक भूमिकाएँ और वाक्-परिवर्तन** (Variants)

व्याकरण या शाब्दिक विकल्पों पर वाक्-परिवर्त/वैविध्य को संदर्भगत प्रतिबंध माना जा सकता है। सपीर, मेलीनास्की, फ़र्थ, विगोदस्की और लूरिया आदि सभी विद्वानों ने कई दृष्टिकोणों से अध्ययन करके बताया है कि वक्ता का तादात्म्य जितना अधिक होता है उतनी ही अधिक उसकी भाषा विशिष्ट होती है। वाक्यात्मक संरचनाओं और शब्दावली चयन की सीमा भी सीमित या कम होती है। इस प्रकार सामाजिक संबंधों के ये रूप अर्थ को व्यक्त करने के लिए समान शब्दों में से चुनाव को भी प्रभावित करते हैं। यहाँ यह मानकर चलते हैं कि सुनने वाले व्यक्ति समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के हैं और समान रुचि रखते हैं और इसलिए अर्थ के अधिक विस्तार की आवश्यकता ही नहीं महसूस की जाती।

यदि व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति को अधिक व्यक्तिगत बनाना चाहता है तो वह भाषा के विभिन्न अभिव्यक्त परक साहचर्य की सहायता ले सकता है। ऐसी स्थिति में भाषा के रूपकों का आधिक्य मिलता है किंतु ऐसी स्थिति में संदर्भ के बिना भाषा नहीं समझी जा सकती है विशेष रूप से उन लोगों द्वारा जो उस भाषा से परिचित नहीं हैं या उस सांस्कृतिक पर्यावरण में नहीं पले हैं। इस प्रकार सीमित सामाजिक संबंधों पर आधारित जातिगत भूमिकाएँ और उनको व्यक्त करने के लिए विशिष्ट शब्दावली और अभिव्यक्तपूर्ण अभिव्यक्ति है; अर्थात् सीमित सामाजिक संबंध संदर्भबद्ध अर्थ ही सीमित वाक् परिवर्त द्वारा व्यक्त करते हैं। यदि व्यक्ति संदर्भ के अनुसार भूमिका नहीं निभा सकता तो वह संदर्भ के अनुकूल भाषा का प्रयोग भी नहीं कर पाएगा।

सामाजिक भूमिका का अर्थ है कि वक्ता मानसिक रूप से संचार के शाब्दिक पक्ष द्वारा क्रियाशील है शाब्दिक पक्ष "मैं" और "हम" संचार के

साधन बन जाते हैं। "मैं" "हम" से ऊपर माना जाता है। वह अर्थ जो कि वक्ता के लिए सहज और सटीक है इस प्रकार से व्यक्त किए जाते हैं कि श्रोता की समझ में आ जाएं। व्यापक वाक्-परिवर्तन इस लक्ष्य को सार्वभौमिक अर्थ के द्वारा प्राप्त करने में सक्षम होता है। क्योंकि उसमें व्यापक अर्थ रखने वाले वाक्-परिवर्तनों का प्रयोग जो व्याकरणिक और शाब्दिक स्तरों पर जटिल संपादित भाषा होती है, किया जाता है। इसके उदाहरण पीटर हॉकिन्स, (सहायक अनुसंधान अधिकारी, सोशियोलोजिकल रिसर्च यूनिट, यूनीवर्सिटी आफ़ लंदन इन्टीट्यूट आफ एज्यूकेशन) के अध्ययन में और लेख में दिए हुए छात्राओं की भाषा के विवरण में मिल सकते हैं।

बर्नस्टीन ने अपने अनुसंधानों के आधार पर जो शोध-प्रबंध लिखे हैं उनसे उसके सिद्धांतों का विकास और संप्रत्ययों को भलीभाँति समझा जा सकता है। उसके संप्रत्ययों के विकास का संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देना समीचीन होगा।

बर्नस्टीन ने अपने इन संप्रत्ययों का विकास और उनकी व्याख्या अपने 1958 से 1965 तक लिखे गए शोध-पत्रों और प्रयोगों की रिपोर्टों में की है। अपने 1958 के लेख (Some Sociolinguistic Determinants of Perception—An inquiry into subcultural differences) में उन्होंने बताया कि ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति दो उपपत्तियों के द्वारा व्यक्त की जा सकती है—एक का संबंध वस्तु के कथ्य पक्ष से है और दूसरे का वस्तु की संरचना (structure) से। यह दोनों उपपत्तियाँ दो प्रकार के दृष्टिकोण पैदा करते हैं जिनमें सार्वजनिक वर्ग एक चुन लेता है। सामाजिक वर्ग के इस चुनाव का शैक्षिक आचरण पर क्या प्रभाव पड़ता है यह स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक मॉडेल तैयार किया जो इस प्रकार है।

(1) सामाजिक निर्धारक
श्रमिक वर्ग/मध्यमवर्ग पर्यावरण
↓
(2) अभिव्यक्ति का प्रकार
↓
(3) शैक्षिक आचरण

बर्नस्टीन का मत है कि विभिन्न सामाजिक वर्गों के लोगों में प्रत्यक्षीकरण और अनुभूति में अंतर होता है। इस अंतर के कारण व्यवित वस्तु के

कथ्य या वस्तु की संरचना के प्रति संवेदनशीलता विकसित करता है। इस मत के पक्ष में उनका कहना है कि निम्न/श्रमिक वर्ग के पर्यावरण में औपचारिक ढंग की शिक्षा के लिए एक प्रकार के विरोध की प्रबल भावना काम करती है जो कि कई प्रकार से उनके व्यवहार में व्यक्त होती है। जैसे—(1)अनुशासनहीनता (2)शिक्षा के मूल्यों की अवहेलना (3)शब्दावली के विकास में विफलता और तार्किक ज्ञानात्मक प्रक्रिया के स्थान पर वर्णनात्मक पद्धति के लिए आग्रह, आदि। यें सब बातें इस बात की द्योतक मानी जाती हैं कि प्रत्यक्षीकरण विधि द्वारा प्रभावित है और वस्तु के कथ्य के मूर्तरूप की जानकारी पर अधिक बल देती है। इससे व्यक्तियों के प्रत्यक्षीकरण और अनुभव प्रभावित होते हैं और इसलिए उनका दृष्टिकोण उन लोगों के दृष्टिकोण से भिन्न हो जाता है जो वस्तु की संरचना की जानकारी प्राप्त करने के लिए तार्किक एवं अमूर्त चिंतन का दृष्टिकोण अपने विशिष्ट पर्यावरण के कारण अपनाते हैं।

संरचना के प्रति संवेदनशीलता से तात्पर्य उस अर्जित योग्यता से है जो किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण द्वारा उस वस्तु की संरचना तथा अन्य वस्तुओं से संबंथ की व्याख्या कर सके। इसके विपरीत वस्तु के कथ्य को समझने की क्षमता का तात्पर्य वस्तु की सीमाओं का ज्ञान मात्र है—उसके सबंधों के मैट्रिक्स (matrix) को समक्ष पाने की अपेक्षा उसमें नहीं पायी जाती। निम्न वर्ग को इन आधारों पर दो अलग-अलग वर्ग माना जाता है। ये आधार हैं—(अ) साधन और दीर्घ समय के साध्यों का अनुभूति परक और ज्ञानात्मक बोध, (आ) मूल्यों का विवेक, और (इ) सुदूर लक्ष्यों की प्राप्ति के उद्देश्यपूर्ण और उचित तथा उपयुक्त उपाय अपनाना।

मध्यमवर्ग के लिए कुछ और गुण भी आवश्यक माने गए हैं। जैसे—

(1) वर्ग की भाषा औपचारिक भाषा है।

(2) विकासमान बालकों के लिए भविष्य को ध्यान में रखते हुए निर्णयों का नियंत्रण किया जाता है।

(3) बालकों के व्यवहार का सुधार निश्चित लक्ष्य और निर्दिष्ट मूल्यों के आधार पर किया जाता है।

(4) पुरस्कार और दंड की निश्चित व्यवस्था होती है।

(5) बालक के शैक्षिक जीवन का उसके भावी जीवन से सीधा संबंध होता है।

(6) बालक का पालन-पोषण तर्क-संगत वातावरण में होता है ।

(7) संवेगों, विशेष कर दुश्मनी की अभिव्यक्ति के लिए बालक को हतोत्साहित किया जाता है ।

(8) भावनाओं को क्रिया की अपेक्षा शब्दों द्वारा प्रकट करने पर महत्व दिया जाता है ।

यहां पर बर्नस्टीन ने एक अतिवादी वक्तव्य दिया है जिसके कारण उसकी यथेष्ट आलोचना लेबाव (1969) ने की है । उनका कहना है कि "भाषा अभिव्यक्ति और संप्रेषण की इच्छा से जन्म लेती है अतः भाषा की संरचना का प्रकार, जिस ढंग से शब्द और वाक्य परस्पर संबंधित होते हैं, एक विशिष्ट प्रकार के अनुभव के रूप को परिलक्षित करता है और इस प्रकार पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया और अंतरक्रिया की पद्धति को भी ।"

मध्यमवर्ग के परिवार में बालक जिस समय अभिव्यक्ति के लिए भाषा का प्रयोग करता है उसकी माँ तुरंत उसकी भाषा का विस्तार करती है और इस प्रकार बालक को माँ की भाषा का अनुकरण करके अपनी भाषा को सुदृढ़ और विस्तृत करने का अवसर और शिक्षा मिलती है । भाषा के इन विभिन्न प्रकारों को बर्नस्टीन (1959 : 87) ने 'पब्लिक' और 'फार्मल' नाम दिये थे । 'पब्लिक' का अर्थ अनौपचारिक तथा आत्मीयता से लिया जा सकता है जिनका उपयोग निम्न श्रमिक वर्ग और मध्यम वर्ग दोनों ही करते हैं । इन शब्दों के स्थान पर बर्नस्टीन ने बाद में 'रेस्ट्रिक्टेड' या सीमित कोड कहा है । 'फार्मल' या व्यापक कोड का प्रयोग केवल मध्यम वर्ग के लोग करते हैं ।

सीमित कोड का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों की भाषा में कथन सरल होते हैं, शैली वर्णनात्मक होती है, अधिकतर स्थूल या मूर्त वस्तुओं के विषय में वर्णन होता है और तार्किक दृष्टि से सरलता दिखाई पड़ती है । इसके विपरीत औपचारिक या व्यापक कोड का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों की भाषा में निजी गुण व वैयक्तिकता पाई जाती है, शैली में विशिष्टता होती है, तार्किकता उच्चस्तर की होती है और कथन अभाषिक या भाषेतर अभिव्यक्तियों से परिपूर्ण होता है । बर्नस्टीन विस्तृत शब्दावली की अपेक्षा व्यापक कोड की भाषा के रूप को अधिक महत्व देता है, जिसमें अभिव्यक्ति के निरालेपन और विशिष्टता की ओर अधिक झुकाव रहता है ।

मध्यमवर्ग द्वारा नियंत्रित पर्यावरण का विवेचन करते हुए बर्नस्टीन का कहना है कि "यहाँ जो तत्व प्रमुख हैं, वे हैं—देश, काल और सामाजिक संबंधों का नियंत्रण और संबंधों के प्रकार। ये सभी बालक को समाज और सामाजिक संबंधों की रचना के प्रति संवेदनशील बनाते हैं। इस प्रकार एक गत्यात्मक (dynamic) अंतरक्रिया का आरंभ होता है जो बालक पर अपने वैयक्तिक अनुभवों को विशिष्ट शब्दावली में व्यक्त करने को बाध्य करता है, भाषा के आशय को समझने के लिए बढ़ावा देता है और इसके साथ ही संकेतों—विशेषकर संरचनात्मक संकेतों की प्रकृति को समझ कर चुनाव व गठन करके किसी भी स्थिति में प्रतिक्रिया करने पर बल देता है।" किंतु निम्न श्रमिक वर्ग के बालक को अपेक्षाकृत कम व्यवस्थित और कम औपचारिक पर्यावरण में पलने का अवसर मिलता है—जहाँ सत्ता मनमानी होती है, भविष्य के अनिश्चय के कारण—आदर्शों की अपेक्षा दैनन्दिन जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिक बल व ध्यान दिया जाता है। यह सब 'योजनाबद्ध' न होकर 'अवसर' पर अधिक निर्भर रहता है ऐसा पर्यावरण बालक में देश-काल बोध का विकास करने में बाधक होता है। माँ-बेटे के मध्य भाषा 'पब्लिक' या सीमित होती है जिसमें थोड़े से स्थूल या मूर्त प्रतीकों को व्यक्त करने वाले शब्द होते हैं। इस कारण सूक्ष्म अनुभूतियों की भाषायी अभिव्यक्ति की क्षमता सीमित रह जाती है और संवेगात्मकता तथा ज्ञानात्मक विवेक का श्रमिक वर्ग के बालकों में कम विकास हो पाता है क्योंकि उनकी भाषा में संरचना के प्रमुख संदर्भ संकेतों (reference points) का अभाव रहता है।

इस प्रकार बर्नस्टीन का आधारभूत सिद्धांत सामाजिक वर्ग, भाषा और समाजीकरण की समस्या है। दूसरे शब्दों में शिक्षा देने की क्षमता और भाषा के प्रतीकात्मक नियमों और सामाजिक गठन के संबंध का प्रश्न हल करने की समस्या है—अर्थात् समाज की आधारभूत संरचना और सांस्कृतिक संक्रमण द्वारा उसमें परिवर्तन की समस्या।

इस सिद्धांत में एक बात जो सुस्पष्ट है वह है उसके संप्रत्यय 'कोड' की, जो कि भाषा-वैज्ञानिक न होकर समाज-भाषावैज्ञानिक है। समाज-भाषा वैज्ञानिक संप्रत्यय सामाजिक संरचना और समाज के विभिन्न संबंधित संदर्भों में भाषायी फलन अर्थात् सामाजिक संबंधों की संरचना के संगत अर्थ हैं।

समाज में 'भूमिका' या पद (status) के अनुसार व्यक्ति भाषा का प्रयोग करता है। अतः 'भूमिका' की व्याख्या एक जटिल कोडिंग प्रक्रिया के रूप में की गई है जो विशेष परिस्थितियों में विशिष्ट अर्थ की व्यवस्था और नियंत्रण संप्रेषण और ग्रहण के समय होती है। इस प्रकार बर्नस्टीन का यह सिद्धांत सामाजिक संबंधों को समझने में प्रतीकात्मक व्यवस्था की खोज और सामाजिक संबंधों पर उसके प्रभाव को अध्ययन करने का प्रयास है।

अपने इस सिद्धांत के संप्रत्ययों का बर्नस्टीन ने क्रमशः विकास किया है। एक मॉडल पहले दिया जा चुका है। उसके बाद जैसे जैसे संप्रत्ययों का विकास हुआ है, उन्होंने अपने मॉडल में परिवर्तन और सुधार किया है।

पहला मॉडल सरल था और उसमें क्रम इस प्रकार था :—

सामाजिक संगठन→भाषा→ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति की वृत्ति→शैक्षिक संप्राप्ति

बाद में जो मॉडेल उन्होंने प्रस्तुत किए हैं वे अधिक जटिल हो गए हैं जैसा कि नीचे आरेख में दिया गया है—
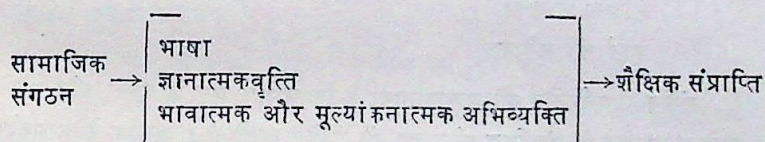
इससे भी अधिक जटिलता लिए हुए 1965 के शोधलेख में दिया हुआ मॉडल है वह इस प्रकार है—

स्तर I (कोड निर्धारण)
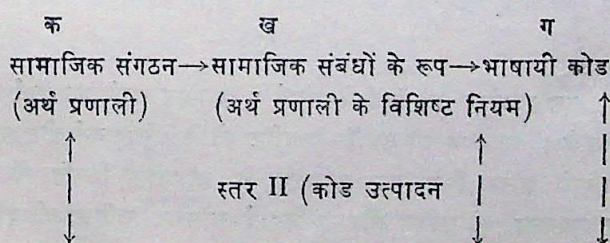
शाब्दिक व्यवस्था प्रकार्य→अर्थ की सृजित व्यवस्थाएँ→भाषिक घटनाएँ

इस आरेख में तीर के निशान दुतरफा प्रभाव को इंगित करते हैं क्योंकि

शाब्दिक योजना के प्रकार्य नए-नए सामाजिक संबंधों और अर्थों की रचना और विकास कर सकते हैं।

स्तर I और स्तर II में अमूर्त चिंतन के स्तर का अंतर है। स्तर I सामाजिक स्तर है, स्तर II उसका मनोवैज्ञानिक या समाजमनोवैज्ञानिक सहसंबंधी। इसलिए यह मॉडल बर्नस्टीन के सिद्धांत (पद्धितपरक व्यक्ति-वाद) का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् सिद्धांत पक्ष के व्यक्ति के स्तर तक लाने का प्रयास इस दृष्टि से इस मॉडल में फ़र्थ के 'सामाजिक संदर्भ' के विचार को स्पष्ट किया गया है। बर्नस्टीन विशेष रूप से समाजीकरण और सांस्कृतिक संक्रमण का अध्ययन करने में रुचि रखते हैं इसलिए वाक् कोडों को समाजी-करण प्रक्रिया की प्रमुख भूमिकाओं का रूपांतरण माना जा सकता है। इस आधार पर चार प्रमुख भूमिकाएँ हैं—

(1) पारवारिक संबंध भूमिका
(2) आयुवर्ग भूमिका
(3) शैक्षिक भूमिका
(4) कार्य की भूमिका

संक्षेप में बर्नस्टीन की यह स्थापना है कि श्रमिक वर्ग के वक्ता और उनके बच्चे मुख्य रूप से संकुचित कोड का ही प्रयोग करते हैं। अर्थात् वे आमतौर पर अपने संभाषण आदि में संसार के उन्हीं शब्द या शब्दावली का प्रयोग नहीं करते जो अधिक सही और मानक हैं और न ही बहुत सी चीजों को वे सांकेतिक अर्थ प्रदान करते हैं जैसा कि मध्यमवर्गीय लोग करते हैं और इस प्रकार कालांतर में वे प्रत्ययात्मक चिंतन की क्षमता में कम दक्षता प्राप्त कर पाते हैं।

(2)

इस स्थापना का हिंदी के संदर्भ में अध्ययन करने का यहाँ प्रयास किया गया है; अध्ययन को तथ्यों से पुष्टि देने के लिए बर्नस्टीन व उसके सह-योगियों द्वारा किए गए परीक्षण के भारतीय स्थिति में परीक्षण की आवश्यकता को उचित और अनिवार्य मानकर सुविधा की दृष्टि से दिल्ली के किदवई नगर के राजकीय उच्चतर माध्यमिक बालिका विद्यालय की चार छात्राओं पर अध्ययन किया गया। इन चारों छात्राओं में दो श्रमिक वर्ग और दो मध्यम वर्ग की थीं। इनमें भी कक्षा की दृष्टि से दो वर्ग थे। दो

छात्राएँ छठी कक्षा और दो नवीं कक्षा की थीं। अन्य बातों पर नियंत्रण-रखने के विचार से ऐसी छात्राओं को चुना गया था जिनके माता-पिता नौकरी करते थे। इस प्रकार यह मानकर अध्ययन की सामग्री एकत्र की गई कि सभी छात्राओं के परिवारों में शिक्षा का कुछ-न-कुछ प्रभाव है। अतः दो चरों (वेरीएबल्स)—शिक्षा का प्रभाव और पारिवारिक सामाजिक पृष्ठ-भूमि—के आधार पर छात्राओं की भाषा का अध्ययन किया जा सका।

छात्राओं को चार चित्र एक ही क्रम में दिए गए। उन्हें सरल व स्पष्ट शब्दों में यह समझा दिया गया कि उन्हें उन चार चित्रों को देखकर कहानी लिखनी है। चित्रों में क्या है यह समझने के लिए उनकी कोई सहायता नहीं की गई। छात्राओं को यह भी स्पष्ट रूप से समझा दिया गया था कि यह कोई परीक्षा नहीं है। उन्हें किसी प्रकार की मनाही नहीं थी। वे जितना चाहें समय ले सकती थीं और जितनी छोटी या लंबी कहानी लिखना चाहें लिख सकती थीं।

**चित्रों का विवरण**

चित्र (1) एक औरत एक लड़की के सिर पर हाथ रखे एक आदमी की तरफ देख रही है। उसके पास ही दूसरी छोटी लड़की खड़ी है। इनके पास एक तख्त पर एक लड़का बैठा है जो आदमी के हाथ में कुछ दे रहा है। तख्त पर गाव-तकिया रखा है। आदमी लड़के की तरफ देख रहा है। पोशाकें भारतीय हैं।

चित्र (2) एक बच्चा एक ऊँची अलमारी से कुछ उतारने की कोशिश कर रहा है। वह अलमारी के ऊपर तक नहीं पहुँच रहा है। अलमारी पर एक डिब्बा व शीशी हैं। लड़के को ऊपर की ओर हाथ उठाए हुए एक औरत और एक आदमी देख रहे हैं।

चित्र (3) एक बच्चा गालों पर हाथ रखे सीढ़ियों पर बैठा है। उसके पास एक गेंद पड़ी हुई है। एक औरत और एक आदमी आश्चर्य से उसे देख रहे हैं।

चित्र (4) एक आदमी हाथ में छड़ी टेकते हुए एक औरत के साथ उस ओर देख रहा है जिस ओर एक बच्चा इशारा कर रहा है।

इन चित्रों के आधार पर लिखी हुई कहानियाँ लेख के अंत में परिशिष्ट में छात्राओं की ही भाषा में दी गई हैं।

इस अध्ययन के द्वारा जो सामग्री संकलित की गई उसका विश्लेषण करने के लिए कुछ विशेष बातें ध्यान में रखी गईं। शब्दावली में संज्ञा, संयोजक तथा क्रियाएँ, शब्दजाल (वर्बासिटी), व्याकरण, वाक्यों का परस्पर संबंध, कहानी के विकास में कल्पना का उपयोग, कहानी में सामान्य और विशिष्ट शब्दों का प्रयोग, अमूर्त विचारों का प्रयोग तथा औपचारिक और अनौपचारिक भाषा (स्पीच) आदि बातों पर विभिन्न सामाजिक वर्ग के अनुसार छात्रों की भाषा का विश्लेषण करने के लिए विशेष ध्यान दिया गया।

बालिकाओं द्वारा प्रयुक्त संज्ञा-शब्दों, संयोजकों, क्रियाओं का विश्लेषण क्रमशः तालिका संख्या 1, 2 और 3 में किया जा रहा है।

## तालिका 1

संज्ञा शब्दों की बारंबारता

| शब्द | कक्षा 9 मध्यम वर्ग | कक्षा 9 श्रमिक वर्ग | कक्षा 6 मध्यम वर्ग | कक्षा 6 श्रमिक वर्ग |
|---|---|---|---|---|
| लड़का-लड़के | 4 | 4 | 8 | 6 |
| लड़की-लड़कियाँ | 1 | 1 | 1 | — |
| माँ | — | — | 2 | 1 |
| पिताजी | 1 | 3 | 3 | 2 |
| माता-पिता | 5 | 1 | 2 | 2 |
| पति-पत्नी | 1 | 1 | — | — |
| आदमी | — | 4 | 2 | — |
| औरत | — | 4 | 1 | 2 |
| भाई-बहन | — | 1 | 1 | — |
| भाई | — | — | — | 1 |
| बहन | — | — | — | 1 |
| बेटा | — | — | — | 2 |
| सदस्य | 2 | — | — | — |
| परिवार | 1 | — | — | 1 |
| बच्चा, बच्चे, बच्चों | 3 | 1 | 4 | 1 |
| पति | — | — | 1 | — |
| पत्नी | 1 | — | 1 | — |

तालिका 1–जारी

| शब्द | कक्षा 9 मध्यम वर्ग | कक्षा 9 श्रमिक वर्ग | कक्षा 6 मध्यम वर्ग | कक्षा 6 श्रमिक वर्ग |
|---|---|---|---|---|
| किसान | 1 | — | — | — |
| प्रेम भाव | 1 | — | — | — |
| बचपना | 1 | — | — | — |
| नाराजगी | 1 | — | — | — |
| आश्चर्य | 1 | — | — | — |
| लोगों | 1 | — | — | — |
| सीढ़ियों | 1 | — | — | — |
| मन | 1 | — | — | — |
| झोंपड़ी | 2 | — | — | — |
| वस्तुओं, वस्तुएँ | 3 | 2 | — | — |
| सजावट | 1 | — | — | — |
| कला | 1 | — | — | — |
| अलमारी | — | — | — | 1 |
| चीज़ | — | — | — | 1 |
| इशारा | — | 2 | — | 1 |
| व्यक्ति | — | 1 | — | — |

तालिका 2

संयोजक

| शब्द | कक्षा 9 उच्च मध्यमवर्ग | कक्षा 9 श्रमिक वर्ग | कक्षा 6 मध्यम वर्ग | कक्षा 6 श्रमिक वर्ग |
|---|---|---|---|---|
| और | 3 | 24 | 14 | 7 |
| कि | 1 | — | 1 | — |
| लेकिन | 2 | — | — | — |
| तो | 2 | — | — | — |

## तालिका 3

### क्रियाएँ बारंबारता

| क्रियाएँ | कक्षा 9 मध्यमवर्ग | कक्षा 9 श्रमिक वर्ग | कक्षा 6 मध्यम वर्ग | कक्षा 6 श्रमिक वर्ग |
|---|---|---|---|---|
| बुला रहा है | [illegible] | — | 1 | — |
| देख रहा है | — | — | — | — |
| दे रहा है | — | 3 | 4 | 2 |
| उतार रहा है | — | 1 | 2 | 1 |
| बैठा रो रहा है | — | 1 | 1 | — |
| चाह रहा है | — | — | 1 | — |
| बातें कर रहे हैं | — | 5 | — | 1 |
| नहीं जा रहा है | — | — | 1 | — |
| कह रही हैं | — | 3 | 2 | 3 |
| खड़ी/खड़े हैं | — | 7 | — | — |
| उठा रहा है | — | . | — | — |
| छुपा खड़ा है | — | 1 | — | — |
| सोच रहा है | — | 1 | — | — |
| कहना चाहती है | — | 1 | — | — |
| निकाल रही है | — | 1 | — | — |
| जाते हैं | — | 1 | — | — |
| रूठा बैठा है | — | — | — | 1 |
| हैं | — | — | — | 3 |
| रहते हैं | — | — | — | — |
| बैठाता है | 1 | — | — | — |
| होता है | — | — | — | — |
| रखा है, रखी है | — | 1 | — | — |

उच्च मध्यम वर्ग की छात्रा ने सबसे अलग क्रियाओं का प्रयोग किया है। कक्षा 9 (मध्यम वर्ग) ने इन क्रियाओं का प्रयोग किया—करने लगा, सजाने लगा, पड़ी थी, उठाकर रखने लगा, डर-सा गया, बाहर आ गया, सोचने लगा, सोचा उठकर बाहर क्यों चला गया, कहा कि रोका नहीं है, सुनकर, उछल पड़ा, आरंभ किया, चकित हो गए, देखकर, देखने को नहीं बोला तो।

**संज्ञा शब्द**

तालिका 1 में कक्षा और सामाजिक वर्ग के अनुसार यह दिखाने की कोशिश की गई है कि छात्राओं ने किन संज्ञाओं का और कितनी बार प्रयोग किया है। पहले शब्द 'लड़का' (लड़के) का प्रयोग मध्यम वर्ग कक्षा 9 ने चार बार और कक्षा 6 ने आठ बार किया है, श्रमिक वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा ने चार बार और छठी कक्षा की छात्रा ने छह बार किया है। लेकिन 'बच्चा' (बच्चे) शब्दों का प्रयोग मध्यम वर्ग की छात्राओं ने श्रमिक वर्ग की छात्राओं की तुलना में अधिक बार किया है। इसी प्रकार से 'औरत' शब्द का प्रयोग श्रमिक वर्ग की छात्राओं ने तो अधिक किया है लेकिन मध्यम वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा ने केवल एक बार किया है; और नवीं कक्षा की छात्रा ने बिल्कुल नहीं किया उसके स्थान पर उसने 'माता-पिता' शब्द का प्रयोग किया है।

नवीं कक्षा की छात्रा ने 'सदस्य' शब्द का प्रयोग किया है जो अन्य छात्राओं ने नहीं किया है। इस छात्रा ने लगभग बीस संज्ञा-शब्दों का भी प्रयोग किया है जो अन्य छात्राओं ने नहीं किया है।

**संयोजक**

यदि 'संयोजक' शब्दों पर ध्यान दें (तालिका 2) तो हम पाते हैं कि "और" का प्रयोग मध्यम वर्ग नवीं कक्षा ने तीन बार, छठी कक्षा ने चौदह बार, श्रमिक वर्ग नवीं कक्षा ने चौबीस बार और छठी कक्षा ने सात बार किया। केवल इतना ही जान लेने से हमारा काम पूरा नहीं हो गया है। 'और' शब्द के विभिन्न प्रयोगों पर भी ध्यान देना पड़ेगा। इसके लिए छात्राओं के वाक्यों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

मध्यम वर्ग नवीं कक्षा—'वह झोंपड़ी से बाहर आ गया और सीढ़ियों पर बैंठकर कुछ सोचने लगा।'

'यह सुनकर वह बहुत खुश हुआ **और** एकदम से खुशी के साथ उछल पड़ा।' दोनों ही वाक्यों में वाक्य को संयुक्त करने के लिए, 'और' का प्रयोग किया गया है।

श्रमिक वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा—

"और पास में उनके पिता खड़े हैं। दोनों लड़कियाँ आपस में बातें कर रही हैं **और** लड़का अपने पिता के हाथ में कुछ चीज दे रहा है।" "एक औरत **और** एक आदमी खड़े हैं।"

मध्यम वर्ग छठी कक्षा की छात्रा—

"एक लड़की अपनी माँ बुला रही है। **और** वह तीन बहन भाई हैं।" "एक लड़का है। **और** साथ में उनके माता-पिता हैं। **और** वह अपने लड़के को देख रहा है कि वह कोई चीज को उतार रहा है।"

'और' का प्रयोग वाक्यों को परस्पर जोड़ने के लिए कम और कहानी के क्रम को बनाए रखने के लिए अधिक जान पड़ता है। प्रथम दो वाक्यों में परस्पर संबंध नहीं है।

श्रमिक वर्ग छठीं कक्षा की छात्रा—"एक किसान **और** उसकी औरत है **और** उनका एक बेटा है।"

संयोजक 'कि' का प्रयोग मध्यम वर्ग की छात्राओं ने ही किया है। और 'लेकिन' संयोजक का —जिसके लिए तार्किकता की आवश्यकता होती है ताकि जिसके द्वारा सामान्यीकरण किया जा सके—प्रयोग केवल नवीं कक्षा की मध्यम वर्ग की छात्रा ने किया है। और इसी छात्रा ने ही 'तो' का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि सामाजिक पृष्ठभूमि और तार्किक चिंतन अभिव्यक्ति कुशलता भाषा को प्रवाहमयी बनाने में बहुत हद तक मुख्य कारक होते हैं।

**क्रियाएँ—**

जहाँ तक कहानी-लेखन में क्रियाओं के प्रयोग का प्रश्न है यहाँ भी मध्यम वर्ग और श्रमिक वर्ग की छात्राओं में अंतर मिला है। श्रमिक वर्ग की छात्राओं ने अपूर्ण वर्तमान या वर्तमानकालिक सरल क्रियाओं का ही प्रयोग किया है जैसे, "बुला रहा है", "दे रहा है", "रखा है", "पड़ा है"

आदि—चाहे वे नवीं कक्षा की हों या छठी की। मध्यम वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा ने भी अधिकतर इसी प्रकार की सरल क्रियाओं का प्रयोग किया है। परंतु इसके साथ ही उसने यह प्रयोग भी किया है—"बैठा रो रहा है", "कहना चाह रहा है", जो सरल क्रियाएँ नहीं हैं

नवीं कक्षा की मध्यम वर्ग की छात्रा ने कई क्रियाओं का प्रयोग किया है, जैसे "करने लगा", "सजाने लगा", "सोचा उठकर बाहर क्यों चला गया", "रोका नहीं है"।

इसके अतिरिक्त इस छात्रा ने जिन अव्ययों का प्रयोग किया है वह भी अन्य छात्राओं ने नहीं किए हैं। जैसे, 'जाने के बाद', 'जैसे ही', 'आने से', 'एकदम' से। श्रमिक वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा ने 'पास ही' या 'पास में' का प्रयोग कई बार किया है। छठी कक्षा की छात्राओं ने 'तरफ' शब्द का कई बार प्रयोग किया है।

अव्ययों के प्रयोग में शिक्षा का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ रहा है। नवीं कक्षा की छात्राओं की अपेक्षा छठी कक्षा की छात्राओं ने अव्ययों के प्रयोग कम किए हैं—और वे भी दिशा इंगित करने वाले। इससे स्पष्ट है कि आय के साथ-साथ शिक्षा द्वारा मानसिक विकास होता है और स्थितियों को समझने की क्षमता के विकास के साथ उनकी अभिव्यक्ति करने की क्षमता, शब्दों और शब्दों के विभिन्न प्रयोगों के रूप में विकसित होती है। शिक्षा के साथ ही इस संपूर्ण विकास पर बालक के सामाजिक परिवेश का प्रभाव भी पड़ता है।

## प्रयुक्त शब्द संख्या

छात्राओं द्वारा प्रयुक्त वास्तविक तथा कुल शब्दों की संख्या नीचे तालिका 4 में दी जा रही है :—

**तालिका 4**

| | मध्यम वर्ग | | श्रमिकवर्ग | |
|---|---|---|---|---|
| | कक्षा 9 | कक्षा 6 | कक्षा 9 | कक्षा 6 |
| कुल संख्या | 313 | 176 | 283 | 127 |
| वास्तविक शब्द | 129 | 52 | 71 | 50 |

प्रस्तुत तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिक वर्ग की छात्राओं की तुलना में मध्यम वर्ग की छात्राओं का शब्द भंडार अधिक है। मध्यम वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा ने कुल 313 शब्दों का प्रयोग किया जिसमें 129 शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग एक या अधिक बार हुआ है। अर्थात वास्तव में इस छात्रा ने 129 भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। अतः उसने अपनी सक्रिय शब्दावली में से 129 शब्दों का प्रयोग किया है। इसी वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा ने कुल 176 शब्द प्रयोग किए हैं, जिनमें से 52 शब्दों को एक या अधिक बार प्रयुक्त किया है। किंतु श्रमिक वर्ग की छात्राओं की शब्दावली इस बात में कम है। उदाहरण के लिए नवीं कक्षा की छात्रा ने केवल 283 शब्द अर्थात् मध्यम वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा की तुलना में 30 शब्द कम प्रयोग किए हैं और वास्तव में केवल 71 शब्दों को ही प्रयोग किया है जबकि मध्यम वर्ग की छात्रा ने 129। इसी प्रकार श्रमिक वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा ने कुल 127 शब्द अर्थात् अपनी सहपाठिनी के शब्दों से 46 शब्द कम (और वास्तव में तो केवल 50 शब्दों) का ही प्रयोग किया है।

जिस तथ्य को मनोवैज्ञानिक सामाजिक या सांस्कृतिक 'डिप्राईवेशन' मानते हैं और जिसको बच्चों के भाषा-विकास, मानसिक विकास और चिंतन-प्रक्रिया के विकास का आधार मानते हैं वह इस थोड़ी सी सामग्री में भी दिखाई पड़ रहा है। इन छात्राओं की शब्दावली भी सामाजिक परिवेश के प्रभाव को स्पष्ट रूप से दर्शा रही है। अत: बर्नस्टीन की यह मान्यता कि विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर बालकों की शैक्षिक योग्यता का निर्धारण करना चाहिए, उचित ही है। लेबाव ने नीग्रो बच्चों (श्रमिक या निम्न वर्ग के बच्चों) की भाषा, शब्दावली, व्याकरण, भाषा की मानक भाषा से तुलना करने के लिए भाषा सामग्री एकत्र करने के जो सुझाव दिए हैं, शोधकर्त्ता ने उनका पूरा ध्यान रखा है। लेबाव ने जिस आधार पर शिक्षा मनोविज्ञान की अवधारणाओं को गलत सिद्ध करने का प्रयास किया है वह यहाँ सत्य सिद्ध नहीं हुआ है। लेबाव का सबसे बड़ा दोषारोपण सामग्री संकलन करने की विधि पर—गोरे लोगों का काले बच्चों का साक्षात्कार करना—है। शोधकर्त्ता ने इस अध्ययन की सामग्री संचित करते समय पूरी सावधानी के साथ यह प्रयास किया कि मध्यम वर्ग और श्रमिक वर्ग की छात्राओं को इस प्रकार से चित्रों द्वारा कहानी लिखने का निर्देश दिया जाए कि वे किसी प्रकार का तनाव, घबराहट या चिंता या संशय या हिचकिचाहट न अनुभव करें। उन्हें

समझा दिया गया था कि यह कोई परीक्षा या बुद्धि-परीक्षण नहीं है। वे जो चाहें और जैसा चाहें लिखें। कहीं भी उन्हें किसी बात की आशंका या शोध-कर्त्ता के प्रति झिझक या डर की बात पैदा नहीं होने दी गई। सौहार्दपूर्ण वातावरण में उनसे कहानियाँ लिखवाई गईं जिसमें किसी प्रकार के तनाव पैदा होने की गुंजाइश ही नहीं छोड़ी गई थी। छात्राओं ने भी सहयोग दिया। इसके बाद भी जो अंतर इन छात्राओं की भाषा में देखने को मिला है वह उनकी सामाजिक स्थितियों के कारण ही है, शोध-विधि के कारण नहीं।

बर्नस्टीन ने मध्यम वर्ग की भाषा में प्रयुक्त कोड को विस्तृत कोड माना है जिसकी व्याख्या उसने "लचीलापन, विस्तृत और सूक्ष्म या अमूर्त" की है। दूसरे शब्दों में कहें तो इसका अर्थ होगा सही वर्तनी, अमूर्त सांकेतिक शब्दों का कुशल प्रयोग, शब्दों के अर्थों को स्पष्टतः व्यक्त करने की क्षमता और मानक भाषा की शब्दावली का अधिक-से-अधिक ज्ञान। लेबाव इस बात से सहमत नहीं है। उसका कहना है जिसे बर्नस्टीन 'लचीलापन, विस्तृत होना और अमूर्त होना' कहते हैं क्या वह व्यर्थ खोखला और शब्दाडंबर नहीं है? इस आलोचना को ध्यान में रखते हुए यदि हम इन चार छात्राओं की शब्दावली पर ध्यान दें तो मध्यम वर्ग की छात्राओं की शब्दावली में शब्दाधिक्य होना चाहिए था। पर ऐसा नहीं है। नवीं कक्षा की मध्यम वर्ग की छात्रा की भाषा में अमूर्त विचारों और तार्किक सामान्यीकरण के लिए उचित शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। शब्द केवल उपयोग करने की इच्छा या दिखावे के लिए नहीं किए गए हैं।

### सामान्य और विशिष्ट शब्दावली

यदि इन छात्राओं की शब्दावली का अध्ययन एक अन्य दृष्टिकोण से—सामान्य और विशिष्ट शब्दावली—करें तो कुछ रोचक तथ्य सामने आएँगे। जहाँ श्रमिक वर्ग की छात्राओं ने थोड़े से सामान्य शब्दों से या शब्द-समूहों से काम चलाने का प्रयास किया है, यहाँ उसी परिस्थिति में मध्यम वर्ग की छात्राओं ने कुछ विशिष्ट शब्दावली का भी प्रयोग किया है। श्रमिक वर्ग की कक्षा 6 की छात्रा ने "वह दोनों", "वह अपने", "वह कोई", "वह खुशी से", "उसका/उसके", आदि सर्वनामों से ही चित्रों में दी गई घटनाओं (क्रियाओं) का वर्णन करने की चेष्टा की है। श्रमिक वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा ने केवल एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया है जिसे विशिष्ट कहा जा सकता है और वह है "परिवार"। यह शब्द भी ऐसा लगता है कि उसने समझ

कर नहीं लिखा है क्योंकि उसने जब पहले कहानी लिखनी शुरू की थी उस समय जो वाक्य उसने लिखे थे वे इस प्रकार थे—"एक औरत और एक आदमी हैं; उनके तीन बच्चे हैं। आदमी बच्चों को पढ़ा रहा है।" यह पूरी बात पहले दो चित्रों की कहानी है। इसके बाद उसने फिर से कहानी लिखनी शुरू की थी।

मध्यम-वर्गीय नवीं कक्षा की छात्रा ने कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया हैं (देखिए तालिका 5)। उसने 'परिवार' 'सदस्य' 'परस्पर' 'किसान' 'यह सब' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। उसने ऐसी अभिव्यक्ति का भी प्रयोग किया है जैसे इन सब लोगों में (जो अधिक विशिष्ट है), जबकि अन्य छात्राओं ने 'इन दोनों में', या 'इन तीनों में' जैसी अभिव्यक्तियों का उपयोग किया है।

यह विश्लेषण भी बर्नस्टीन की विस्तृत और संकुचित कोडों को अलग-अलग वर्गों के अलग-अलग कोड की मान्यता को पुष्ट करता है। मध्यम वर्ग को विस्तृत और श्रमिक या निम्न वर्ग को संकुचित कोड देना मेरी समझ में इस विश्लेषण के आधार पर उचित ही है। मध्यम-वर्गीय परिवारों में पली छात्राओं ने जो कहानियाँ प्रस्तुत की हैं उनका विस्तृत वर्णन इस बात को खुलासा करके कहने के लिए आवश्यक होगा।

पहले छठी कक्षा की मध्यम वर्ग की छात्रा की कहानी का यहाँ विश्लेषण करें। इस छात्रा ने "और" संयोजक का सहारा लेकर प्रत्येक चित्र में अंकित तथ्यों को जोड़ने का प्रयत्न किया है। "एक लड़की अपनी माँ को बुला रही है और वह तीन बहन भाई हैं। आदमी अपने बच्चों की तरफ देख रहा है और वह लड़का अपने पिताजी को चीज दे रहा है।" यह वर्णन पूरी तरह से संदर्भमुक्त नहीं कहा जा सकता। बिना चित्रों के इस कहानी को समझा नहीं जा सकता। किंतु छात्रा ने चित्र में अंकित पात्रों के बीच संबंधों की कल्पना के आधार पर ही वाक्य लिखे हैं। वह लिख सकती थी "दो लड़कियाँ एक औरत के पास खड़ी हैं। एक लड़का एक आदमी को कुछ दे रहा है। आदमी लड़के की ओर देख रहा है।" आदि लेकिन उसने लिखा है लड़की **अपनी माँ** को बुला रही है और वे तीन बहन-भाई हैं।

इसी प्रकार से श्रमिक वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा की कहानी में संदर्भ-मुक्तता नहीं दिखाई पड़ती। "एक लड़का है उसके साथ उसके माता पिताजी हैं और वह अपने लड़के की तरफ देख रहा है" वाक्यों से सीधे ध्यान चित्र की ओर जाता है—चित्र की कल्पना नहीं बनती।

## तालिका 5

### सामान्य और विशिष्ट शब्द एवं शब्द समूह

| | मध्यम वर्ग | | श्रमिक वर्ग | |
|---|---|---|---|---|
| | कक्षा 9 | कक्षा 6 | कक्षा 9 | कक्षा 6 |
| वह (दोनों, तीनों, अपने, उनका) या खुशी के साथ | — | √ | √ | √ |
| इन तीनों में | — | — | — | √ |
| यह सब | √ | — | — | — |
| फिर से | √ | — | — | — |
| परस्पर | √ | — | — | — |
| आपस | — | √ | √ | √ |
| परिवार | √ | — | — | √ |
| सदस्य | √ | — | — | — |
| किसान | √ | — | — | — |
| उस | — | — | √ | √ |
| बेटा | — | — | — | — |

संदर्भ-मुक्तता मध्यम वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा की कहानी में सुस्पष्ट है। पूरी कहानी यदि बिना चित्रों की सहायता से सुनाई जाए तो सुनने वाला उसे पूरी तरह समझ सकता है। वैसे यह कहानी चारों चित्र के क्रम के आधार पर लिखी गई है। कहानी को, कहानी कहने की शैली में लिखा गया है जिसमें शब्दों के माध्यम से कहानी को चित्रित करके श्रोता के मन में चित्र कल्पना उभारी गई है। सामने चित्र न भी हों तो भी कहानी स्पष्ट है। उसमें इस प्रकार के सामान्यीकरण "चाहे वह कितना ही समझदार क्यों न हो था तो वह छोटा ही" "वह डर-सा गया" आदि श्रोता को स्वयं ही स्थिति को समझने का अवसर देते हैं। मानव के संवेगों की विशिष्ट स्थिति में संभावित मानव-आचरण की कल्पना के साथ-साथ माता-पिता और बच्चों के परस्पर-व्यवहार और भाषा के आदान-प्रदान की भी झलक हमें इस कहानी में मिलती है जो श्रमिक वर्ग की छात्राओं में नहीं मिलती।

श्रमिक वर्ग नवीं कक्षा की छात्रा ने जिस प्रकार कहानी लिखी है उसमें चित्रांकन चित्र के संदर्भ से पूरी तरह मुक्त नहीं है—जैसे—'एक लड़का ऊपर को होकर कुछ वस्तु उठा रहा है और अपने पिता से कुछ कह रहा है। और आदमी के हाथ में भी कुछ वस्तु है। और वह अपने पीछे छुपा कर खड़ा है और दोनों लड़के की ओर देख रहे हैं कि वह क्या कर रहा है।' केवल चित्रों का वर्णन है।

बर्नस्टीन की मान्यता है कि "मध्यम वर्ग के लोगों और उनके बच्चों का कोड विस्तृत होता है और संदर्भ-युक्त होता है, उसमें लचीलापन आदि अधिक होता है, और श्रमिक वर्ग की भाषा संकुचित या बद्ध कोड होती है तथा संदर्भगत होती है।" इस उदाहरण से ठीक व उचित लगती है।

मानवीय संवेगों की स्थिति में मानवीय व्यवहार को छात्राओं ने देख पाया है और उसका वर्णन विशेष रूप से चित्र नं० 3 में बैठे हुए लड़के को लेकर किया गया है। मध्यम वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा ने लिखा है—"एक बच्चा बैठा रो रहा है।" और इसी वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा ने लिखा—"वह झोपड़ी से बाहर आ गया और सीढ़ियों पर बैठकर कुछ सोचने लगा।" इसी दृश्य का वर्णन श्रमिक वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा ने इस प्रकार किया है : "लड़का रूठा बैठा है," नवीं कक्षा की श्रमिक वर्ग की छात्रा लिखती है "एक लड़का बैठा है वह कुछ सोच रहा है।"

यहाँ दो बातें दिखाई देती हैं। एक तो छठी कक्षा की छात्राओं ने नवीं कक्षा की छात्राओं की अपेक्षा भावनाओं का आरोपण 'रोना या रूठा होना' किया है और इस प्रकार संवेदनशीलता का परिचय दिया है। नवीं कक्षा की छात्राओं ने संवेदनशीलता के साथ-साथ चिंतन की परिपक्वता का भी परिचय दिया है। यहाँ मानसिक विकास के भेद के कारण अंतर दिखाई दिया है। लेकिन सामाजिक स्तर का भेद नवीं कक्षा की छात्राओं की अभिव्यक्ति में दिखाई पड़ रहा है। श्रमिक वर्ग की छात्रा ने केवल यही लिखा "एक लड़का बैठा है वह कुछ सोच रहा है।" जबकि मध्यम वर्ग की छात्रा ने यह भी बताया कि वह बैठा क्यों सोच रहा है और किस घटना के बाद सोच रहा है। यहाँ घटनाओं के तारतम्य का भी ध्यान रखा गया है। अतः केवल अनुभूति की या संवेदनशीलता की समानता होते हुए भी अभिव्यक्ति की क्षमता में अंतर है।

तारतम्य या शृंखलाबद्धता की चर्चा यहाँ पर अब उचित जान पड़ती है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो ही गया है चित्रों में संबंध जोड़ने में सभी छात्राओं को सफलता नहीं मिली है। जहाँ तक चारों चित्रों को मिलाकर एक कहानी गढ़ लेने का प्रश्न है, केवल मध्यम वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा को ही पूर्ण सफलता मिली है। शेष छात्राओं ने चित्रों का वर्णन अलग-अलग किया है। किसी प्रकार का घटनाक्रम उनमें नहीं बन पाया है। क्या इसका कारण शिक्षा माना जाए ? लेकिन यदि शिक्षा के प्रभाव से एक छात्रा पूरी कहानी गढ़ सकती है तो उसी कक्षा की दूसरी छात्रा भी उसी तरह की कहानी गढ़ सकती थी। उसे कहानी गढ़ने में सफलता क्यों नहीं मिली ? यह प्रश्न हमारे सामने उठता है। जहाँ तक दोनों छात्राओं की शिक्षा और शैक्षिक पर्यावरण का प्रश्न है दोनों एक ही कक्षा और एक ही स्कूल की छात्राएँ हैं। अतः शिक्षा का स्तर और शैक्षिक पर्यावरण दोनों के लिए समान है। तब यह भिन्नता क्यों ? एक कारण तो उनके सामाजिक वर्ग से जोड़ा जा सकता है। मध्यम वर्ग की छात्रा के पिता दफ्तर में काम करते हैं और माता नगर-महापालिका के प्राथमिक विद्यालय में अध्यापन कार्य करती है। दूसरी छात्रा के माता पिता नगर के एक अस्पताल में काम करते हैं दोनों छात्राओं की सामाजिक पृष्ठभूमि भिन्न है, और यह भिन्नता दोनों के मानसिक विकास, चिंतन-क्षमता, कल्पना और भाषिक अभिव्यक्ति को प्रभावित कर रही है।

छठी कक्षा की दोनों छात्राओं ने जो कहानी लिखकर दी है उनमें भी कहानी (या यों कहें चित्रों) का वर्णन है। फिर भी मध्यम वर्ग की छात्रा के प्रयास में तारतम्य बनाए रखने की कोशिश अधिक है कम से कम चित्रों के अंदर। जैसे 'वह लड़का अपने पिताजी को कोई चीज दे रहा है और उसके पिताजी लड़के की तरफ देख रहे हैं' आदि। लेकिन श्रमिक वर्ग की छात्रा ने चित्र नं० 2 का जो वर्णन किया है उसमें विभिन्न व्यक्तियों की क्रियाओं को परस्पर जोड़ने में सफलता नहीं पाई है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि कहानी सुनाते या लिखते समय तारतम्य घटनाओं का क्रमिक विकास और संबंधों को परस्पर बनाए रखने की क्षमता, शिक्षा और सामाजिक पृष्ठभूमि दोनों पर निर्भर है।

**वाक्यों की संरचना और उनका परस्पर संबंध**

श्रमिक वर्ग छठी कक्षा की छात्रा के अधिकतर वाक्य सरल हैं—"एक लड़का है। उसके साथ उसके माता-पिता हैं। और वह अपने लड़के की तरफ

देख रहे हैं। लड़का अलमारी के ऊपर से चीजें उतार रहा है । और उसके माता-पिता आपस में बातचीत कर रहे हैं।" इसी कक्षा की मध्यम वर्ग की छात्रा ने लिखा है—"एक लड़की अपनी माँ को बुला रही है और वह तीन भाई-बहिन हैं। आदमी अपने बच्चों की तरफ देख रहा है। और वह लड़का अपने पिताजी को कोई चीज दे रहा है और उसके पिताजी लड़के की तरफ देख रहे हैं।"

श्रमिक वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा की वाक्य-रचनाएँ कुछ हद तक सरल ही हैं—"एक औरत खड़ी है। उसके पास तीन बच्चे खड़े हैं । दोनों लड़कियाँ आपस में बातें कर रही हैं। और लड़का अपने पिता के हाथ में कुछ चीज दे रहा है और उसके पिता हाथ में उस चीज को पकड़कर उससे बात कर रहे हैं।" पूरे कथन में अंतिम वाक्य में 'पकड़कर' सहायक क्रिया का प्रयोग करके दो वाक्यों का एक वाक्य बनाया गया है। इसी छात्रा ने "—छुपा कर खड़ा है" क्रिया का प्रयोग भी अन्यत्र किया है।

अब मध्यम वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा की वाक्य-रचनाओं की ओर भी ध्यान दें। "एक परिवार के पाँच सदस्य हैं जिनमें से कि तीन बच्चे हैं एक लड़का और दो लड़कियाँ।" वाक्य मिश्र वाक्य है । "जिनमें से कि" के प्रयोग द्वारा वाक्य की कड़ियों को जोड़ा गया है। इसी प्रकार से अन्य व्याकरणिक प्रयोग इस छात्रा की कहानी में मिलते हैं—"चाहे वह कितना ही समझदार था लेकिन वह था तो छोटा ही। छोटे बच्चे में बचपना अवश्य ही होता है।" "एक दिन की बात है किसान अपनी पत्नी के साथ कहीं पर गए।" 'गए' क्रिया का बहुवचन में प्रयोग उसने "अपनी पत्नी के साथ" वाक्यांश के कारण ही किया है। अन्यथा उसने जिन क्रियाओं का प्रयोग किया है उन्हें लिंग-वचन के अनुसार ठीक लिखा है।

यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि श्रमिक वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा ने लिखा है—"उसकी माँ उसे कुछ कह रही है" जबकि लिखना चाहिए था "उससे कुछ कह रही है।" या इस प्रकार की भूल भी मिलती है 'वह खुशी से कुछ कह रहा है।' इसमें 'है' छूट गया है।

इस प्रकार की 'का, के, की' की भूलें मध्यम वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा के कथन में भी दिखाई पडी हैं—लड़के के पिता अपनी पत्नी की बात सुनकर वह अपने बच्चे की तरफ देख रहे हैं।" छात्रा ने जो प्रयास दो वाक्यों को एक में मिला देने का किया है उससे दो भूलें हुई हैं ।

'वह' का प्रयोग निरर्थक है और 'की' की जगह 'के' लिखा है। इसी प्रकार "—और वह उनका लड़का उनकी तरफ देख रहा है" वाक्य में 'वह' निरर्थक है।

उपर्युक्त चारों छात्राओं की वाक्य रचनाओं की तुलना करने पर श्रमिक वर्ग की छठी व नवीं कक्षा की छात्राओं के वाक्यों में समानता मिली है— "एक लड़का है" (कक्षा 6); "एक औरत खड़ी है।" (कक्षा 9); "उसके साथ उसके पिताजी हैं।" (कक्षा 6), "उसके पास तीन बच्चे खड़े हैं।" (कक्षा 9), लेकिन मध्यम वर्ग की छात्राओं के वाक्य इनसे भिन्न हैं, "एक लड़की अपनी माँ को बुला रही है और वह तीन भाई-बहिन हैं।" (छठी कक्षा) "एक परिवार के पाँच सदस्य हैं जिनमें से कि तीन बच्चे हैं, एक लड़का और दो लड़कियाँ" (नवीं कक्षा)।

मध्यम वर्ग की छात्राओं की वाक्य रचनाएँ संयुक्त या मिश्रित हैं। इस वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा के वाक्य लंबे और मिश्रित हैं; जैसे— "वह झोंपड़ी से बाहर आ गया और सीढ़ियों पर बैठकर कुछ सोचने लगा तो उसके माता-पिता ने सोचा कि यह अचानक हमारे आने से उठकर बाहर क्यूँ चला गया।" इतना लंबा वाक्य किसी दूसरी छात्रा ने नहीं लिखा है। इस छात्रा ने दूसरे वाक्य भी इसी तरह से लिखे हैं : "वह दोनों पति-पत्नी बाहर आकर लड़के से उसकी नाराज़गी का कारण पूछने लगे लेकिन वह गुस्से के कारण कुछ नहीं बोला तो उसके माता-पिता ने उससे कहा कि हमने तुम्हें कभी भी किसी चीज के लिए रोका नहीं है।"

सरल या मिश्र तथा संयुक्त वाक्यों के प्रयोग में भी कक्षा-भेद और वर्ग भेद दिखाई दिया है। मध्यम वर्ग की छात्राओं ने मिश्र वाक्यों का प्रयोग किया है जबकि श्रमिक वर्ग की छात्राओं ने अधिकतर सरल वाक्यों का। नवीं कक्षा की मध्यम वर्ग की छात्रा ने कुछ अन्य प्रकार के वाक्यों का भी प्रयोग किया है—"चाहे वह कितना ही समझदार था लेकिन वह था तो छोटा ही।" सामान्यीकृत (सामाजिक) कथनों को जोरदार शब्दों "कितना ही", "था तो", 'छोटा ही' द्वारा व्यक्त करने के लिए 'चाहे' से वाक्य आरंभ किया गया है। इसी वाक्य को सरल ढंग से भी लिखा जा सकता था : "वह समझदार था लेकिन छोटा था।" इसी प्रकार से दूसरे वाक्य को भी देखें—"उनके जाने के बाद लड़के को जाने क्या सूझी पता नहीं वह घर की पड़ी वस्तुओं को इधर-उधर रखके घर सजाने न जाने क्या करने लगा।" इस वाक्य की एक

विशेषता तो यही है कि यह मिश्रित वाक्य है। दूसरी विशेषता यह है कि वक्ता (यहाँ पर कहानीकार) जिस ढंग से कहानी सुना रही है उसमें अपनी बात को कहने के लिए उसने कई छोटे-छोटे वाक्यांशों का सहारा लिया है और इससे कहीं-कहीं पुनरावृत्ति भी हो गई है। यह बात स्वाभाविक रूप से किसी भी वक्ता के संवाद में देखी जा सकती है।

**अमूर्त विचारों का प्रयोग**

मानसिक प्रत्ययों जैसे 'परिवार', 'सब', 'मामूली-सा', 'डर-सा', 'काफी' 'था तो छोटा ही', 'प्रेमभाव', 'बचपना', 'सुन्दर कला', 'रूठा', 'बेटा' की अभिव्यक्ति में सभी छात्राएँ बराबर नहीं हैं। श्रमिक वर्ग की तथा छठी कक्षा की छात्राओं में यह क्षमता —अमूर्त विचारों की अनुभूति और अभिव्यक्ति नहीं पाई गई है, और यदि है भी तो बहुत थोड़े से शब्द ही ऐसे मिले हैं जिन्हें उद्धृत किया जा सकता है। जैसे श्रमिक वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा का 'बेटा या परिवार' शब्दों का प्रयोग, नवीं कक्षा की छात्रा का 'व्यक्ति' शब्द का प्रयोग। मध्यम वर्ग की छठी कक्षा की छात्रा का कोई उदाहरण नहीं मिला है, जबकि मध्यम वर्ग की नवीं कक्षा की छात्रा ने ऊपर दिए हुए सभी शब्दों का प्रयोग किया है। यह क्षमता उसकी भाषा को संदर्भ से मुक्त कर सकी है।

मध्यम वर्ग की छठी कक्षा की तथा श्रमिक वर्ग की छात्राओं में अमूर्त चिंतन के अभाव में वह कल्पनाशीलता भी कम ही दिखाई पड़ी है जिससे कि वे चारों चित्रों में चित्रित दृश्यों को शृंखलाबद्ध करके एक सुगठित कहानी बना पातीं। यदि कल्पना और अमूर्त चिंतन का विकास केवल शिक्षा और आयु की ही बात होती तो नवीं कक्षा की श्रमिक वर्ग की छात्रा को इस क्षेत्र में अवश्य सफलता मिलती और उसके लक्षण भाषा के—विशेष रूप से सांकेतिक भाषा के—रूप में अवश्य दिखाई पड़ते। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा, आयु आदि के साथ बालक को अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि के जीवन के अनुभवों की भी आवश्यकता है, और उन अनुभवों को व्यक्त करने के लिए जिन उपकरणों, या यों कहें कि जिस सांकेतिक शब्दावली, की आवश्यकता होती है उसका श्रमिक वर्ग के सामाजिक परिवेश में अभाव है। मध्यम वर्ग का सामाजिक परिवेश ऐसे (सांस्कृतिक) पर्यावरण का निर्माण करता है जिसमें पलने वाले बालकों की कल्पना, चिंतन-प्रक्रिया, अमूर्त विचारों को भाषा में व्यक्त

करने की क्षमता के विकास का अवसर रहता है। अतः मध्यम वर्ग की सामाजिक पृष्ठभूमि न केवल भाषा सिखाती है वरन् उसके साथ ही अमूर्त चिंतन और सृजनात्मक चिंतन करना भी सिखाती है।

नवीं कक्षा की मध्यम वर्ग की छात्रा ने चित्रों के आधार पर जिस कल्पना को अपनी कहानी में ढाला है उसके सामाजिक वर्ग की झलक दिखाई पड़ती है। एक परिवार के पाँच सदस्यों को लेकर जिस कहानी का विकास किया गया है और चित्र में चित्रित पात्रों की वेशभूषा से जिसे किसान की मामूली सी झोंपड़ी की संज्ञा दी गई है, परंतु आगे चलकर जो फिर मध्यम वर्ग की कहानी की ओर मुड़ गई है, उससे स्पष्ट है कि छात्रा ने कल्पना का सहारा तो लिया लेकिन अपने परिवेश के पर्यावरण या माहौल में दिन-प्रतिदिन घटने वाली घटनाओं के अनुभवों के आधार पर ही कहानी विकसित की है। उसने जिन स्थितियों की कल्पना की है उससे माता-पिता अपने बच्चों को (विशेष रूप में नगरों में रहने वाले—झोंपड़ी में रहने वाले नहीं) घर पर छोड़ कर बाहर जाते हैं। पीछे बच्चे समय काटने के लिए कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। माता-पिता के वापस आने पर यदि वे कोई गलत काम करते पाए जाते हैं तो डर भी जाते हैं। एक तो वे वैसे ही माता-पिता से नाराज होते हैं घर पर अकेले रह जाने के लिए; और उस पर गलत काम करते हुए पकड़े जाने से मन में ग्लानि या खीझ उनके क्रोध का कारण बन जाती है। यहाँ पर इस छात्रा ने अपने मध्यम-वर्गीय परिवार की स्थितियों के अनुभवों का आधार लेकर अपनी कहानी लिखी है। इसके साथ ही 'घर को सजाने' की बात और उसकी 'सजावट की सुन्दर कला को देखकर माता-पिता का चकित रह जाना' आदि बातें ऐसी हैं जो श्रमिक के घर या निम्न वर्ग के परिवारों में होती ही नहीं। ये दोनों ही बातें मध्यम-वर्गीय परिवारों की हैं ... उसकी संस्कृति के साथ जुड़ी हुई हैं। घर सजाने की बात किसान के घर में विशेष महत्व नहीं रखती—जब तक कि घर में कोई विशेष उत्सव न हो। इस प्रकार इस छात्रा की अभिव्यक्ति में उसके सामाजिक वर्ग की मान्यताओं, अपेक्षाओं आदि को परिलक्षित किया जा सकता है। इस प्रकार की सुविधाएँ श्रमिक वर्ग के परिवारों में कम ही मिलती हैं।

अंत में यह कहकर समाप्त करना चाहूँगी कि इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकले हैं कि मध्यम वर्ग और श्रमिक वर्ग के अपने-अपने विशिष्ट

कोड—विस्तृत कोड और संकुचित या बद्ध कोड—होते हैं जैसा कि बर्नस्टीन ने माना है । इन कोडों को वर्ग-विशेष की विशेषताएँ प्रभावित करती हैं ।

## परिशिष्ट

शकुंतला, कक्षा 6 वी (मध्यम वर्ग)

1. एक लड़की अपनी माँ बोला रही है और वह तीन बाहन भाई हैं । आदमी अपने बच्चों की तरफ देखा रहा है । और वह लड़का अपने पिताजी को कोई चीजें दे रहा है । और उसके पिताजी लड़के की तरफ देख रहा हैं ।
2. एक लड़का हैं । और साथ में उसके माता-पिता हैं । और वह अपने लड़के को देख रहा है । की वह कोई चीजे को उतरा रहा है । और वह चीजे ऊपर रखी हैं । और उसे बच्चे का हाथ ऊपर नहीं जा रहा है । और उसके माता पिता आपस में बात कर रहा हैं । की उसका हाथ ऊपर नहीं जा रहे हैं ।
3. एक बच्चा बैठा रो रहा है । और उसके पास एक गेंद पड़ा है । और उसकी माँ अपने पति से कुछ कह रही हैं । और उस लड़के के पिताजी अपनी पत्नी की बात सुनकर वह अपने बच्चे के तरफ देख रहे है ।
4. एक आदमी हैं, और उसकी औरत हैं, वह दोनों कुछ आपस में बात कर रहे हैं, और वह उनका लड़का उनकी तरफ देख रहे हैं । और कुछ कह रहा हैं ।

कमलेश रानी कक्षा 6 सी (श्रमिक वर्ग)

1. एक परिवार है उनके तीन बच्चे दो बहने एक भाई उसके पिताजी लड़के को कोई चीज दे रहे है । और उसके पिताजी उसकी तरफ देख रहे है ।
2. एक लडका है उसके साथ उसके माता पिता जी है । और वह अपने लड़के की तरफ देख रहे हैं । लड़का अलमारी के ऊपर से चीज उतार रहा है । और उसके माता पिता आपस में बातचीत कर रहे हैं ।
3. किसान है और उसकी औरत है उनका एक लड़का है उसके पास एक गेंद और उसकी माँ उसे कुछ कह रही है । लड़का रूठा बैठा है ।

4. एक किसान और एक औरत है और उनका एक बेटा है । वह खुशी से कुछ कह रहा । इन तीनों में आपस में बहुत प्रेम है । उनका बेटा बहुत खुश है । वह इशारा करके कुछ कह रहा है ।

उषा अहूजा, कक्षा 9 डी (मध्यम वर्ग)

एक परिवार के पाँच सदस्य हैं । जिनमें से कि तीन बच्चे हैं । एक लड़का और दो लड़कियाँ । यह सब एक छोटी-सी झोंपड़ी में रहते हैं । इन तीन बच्चों के पिताजी एक मामूली से किसान हैं । इन सब लोगों में परस्पर बहुत प्रेमभाव है । लड़का अपने पिता के हाथ में काफी हाथ बटाता है । चाहे वह कितना ही समझदार था लेकिन वह था तो छोटा ही । छोटे बच्चे में बच्चपन्ना अवश्य ही होता है । एक दिन की बात है किसान अपनी पत्नी के साथ कहीं पर गए । उनके जाने के बाद लड़के को न जाने क्या सूझी पता नहीं वह घर की पड़ी वस्तुओं को इधर-उधर रख कर घर सजाने लगा न जाने क्या करने लगा । वस्तुओं को रखते-रखते उसका अचानक ध्यान घर में पड़ी अलमारी पर गया ।

उस पर जो वस्तुएँ पड़ी थी जैसे ही वह उनको भी उठाकर दूसरी जगह पर रखने लगा वैसे ही उसके माता पिता आ गए उनको देखकर वह जैसे डर सा गया । वह झोंपड़ी से बाहर आ गया और सीढ़ियों पर बैठकर कुछ सोचने लगा तो उसके माता पिता ने सोचा कि वह अचानक हमारे आने से उठकर बाहर क्यूं चला गया वह दोनों पति पत्नी बाहर आकर लड़के से उसकी नाराजगी का कारण पूछने लगे । लेकिन वह गुस्से के कारण कुछ नहीं बोला तो उसके माता पिता ने उससे कहा कि हमने तुम्हें कभी भी किसी चीज के लिए रोका नहीं है तुम्हारे जो मन में आए वो करो । यह सुनकर वह बहुत खुश हुआ और एकदम से खुशी के साथ उछल पड़ा । यह देखकर इसके माता पिता उसे आश्चर्य से देखने लगे । फिर से उस लड़के ने अपना काम आरंभ कर दिया । थोड़ी देर के बाद वह अपने माता पिता को उस जगह पर लाया जहाँ पर उसने इतनी सजावट की थी । उसकी यह सजावट देखकर उसके घर के सब सदस्य चकित हो गए और उसकी इतनी सुन्दर कला को देखकर बहुत खुश हुए ।

कमलेश अरोड़ा, कक्षा 9 (श्रमिक वर्ग)

1. एक औरत खड़ी है । उसके पास तीन बच्चे खड़े हैं । वह तीनों भाई बहन है । और पास में उनके पिता खड़े हैं । दोनों लड़कियाँ आपस में

बातें कर रही हैं। और लड़का अपने पिता के हाथ में कुछ चीज दे रहा है और उसके पिता हाथ में उस चीज को पकड़ कर उससे बात कर रहे हैं।

2. एक औरत और एक आदमी खड़े हैं। वह आपस में बातें कर रहे हैं और पास ही एक लड़का खड़ा है और ऊपर की तरफ होकर कुछ वस्तु उठा रहा है। और अपने पीता से कुछ कह रहा है। और वह अपने पीछे छुपाकर खड़ा है। और दोनों लड़के की ओर देख रहे हैं कि वह क्या कह रहा है।

3. एक लड़का बैठा है और कुछ सोच रहा है और पास ही एक गेंद रखा है और वह उसकी तरफ देख रहा है। और पास ही एक आदमी और एक औरत खड़े हैं। और आपस में बातें कर रहे हैं। और हाथ से इशारा करके किसी को बुला रही है। और कुछ कहना चाहती है। और पास में खड़ा व्यक्ति उनकी तरफ देख रहा है।

4. एक आदमी और एक औरत खड़े हैं। वह दोनों पति पत्नी हैं। वह आपस में बातें कर रहे हैं। और वह अपनी जेब में से कुछ निकाल रहा है। पास ही एक लड़का खड़ा है। और वह उन दोनों को बुला रहा है। और बाहर की तरफ इशारा कर उन्हें बाहर जाने की कह रहा है और दोनों उस बालक की ओर देख रहे हैं। वह उस बालक के माता पिता हैं। और थोड़ी देर बाद वह उस बालक के साथ जाते हैं। और देखते हैं कि बालक क्या कह रहा है।*

---

* [इस अध्ययन के लिए मैं राजकीय उच्चतर माध्यमिक बालिका विद्यालय किदवई नगर की प्रधानाचार्या व उन चारों छात्राओं की आभारी हूँ जिन्होंने समय देकर इस कार्य को सफल बनाया। मैं डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, का भी आभार-प्रदर्शन करना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ, क्योंकि उनकी प्रेरणा और सहायता के बिना यह लेख लिखना संभव नहीं था—लेखिका]

## संदर्भ ग्रंथ

Bernstein, B. B. 1958 : "Some Determinats of Perception. An inquiry in to sub-cultural differences" in Denis Lawton (1968).

—1959. "Public Language : Some Sociological Implications of a Linguistic Form" in Denis Lawton (1968).

—1972 "Social class, Language and Socialization" in Giglioli (1972).

Boyce, D. G. 1971 : "Language and thinking" in *Human Devlopment*, Hutchinson University Library, London.

Brandis, & Henderson. D, 1970 : *Social class, Language and Communication.* Beverly Hills, California, Sage Publications.

Chomsky, N. 1965 : *Aspects of Language*, Hague : Mouton.

Giglioli, P. P. 1972 : *Language in Social Context.* Penguin Modern Sociology Readings.

Labov, W. 1969 : "*The Logic of Non-standard English and Linguistics,*" Georgetown Monographs in Language and Linguistics, Vol. 22.

Lawton, Denis. 1968 : *Social Class, Language and Education*, London, Routledge & Kegan Paul.

Pride, J. B. and Holmes (Eds.) 1972 : *Sociolinguistic.* Penguin.

Word, M. C. 1971 : *Them children : A Study in Language Learning* (case studies in education and culture), New York : Holt, Reinhard, Winston.

———

# बहुभाषिकता, हिंदी भाषा समाज और हिंदी शिक्षण

—रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

भारतवर्ष एक बहुभाषी देश है। 1961 की जनगणना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस देश में 1019 मातृभाषाएँ हैं जिनको 200 वर्गीकृत भाषाओं में बाँटा जा सकता है। यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं है कि साक्षर व्यक्तियों की संख्या अनुपात में कम होने तथा भाषाशिक्षण की किसी निश्चित योजना-बद्ध अध्ययन-अध्यापन के अभाव के बावजूद भी बहु-भाषिकता देश की संचार-व्यवस्था की एक प्रमुख शर्त है। भारतवर्ष में बहु-भाषिकता किसी समस्या के रूप में नहीं रही। यहाँ की संचार व्यवस्था समाज की अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप जिस प्रकृति में ढलती गई उसमें बहुभाषिक स्थिति एक सहज और प्राकृतिक लक्षण के रूप में उभरी। यही कारण है कि न केवल भारतवर्ष एक देश के रूप में बहुभाषी देश है वरन् हर भाषावार प्रदेश भी एक बहुभाषी प्रदेश है।

उदाहरण के लिए बिहार प्रदेश को ही लें। उसके कोड मैट्रिक्स को नीचे दी गई तालिका के आधार पर देखा जा सकता है।

**कुल जनसंख्या** 5, 64, 41, 502

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| हिंदी | : 2,05,80,643 | खरिया | : 96,016 | अंगरेजी | : 8,387 |
| (पश्चिमी और पूर्वी बिहारी) | 1,64,42,087 | मात्तो | : 88,632 | मलयालम | : 7,559 |
| | | पंजाबी | : 72,191 | मराठी | : 5,074 |
| उर्दू | : 41,49,245 | राजस्थानी | : 61,618 | सिन्धी | : 4,089 |
| सन्थाली | : 14,59,235 | भूमिज | : 38,457 | कोरवा | : 3,768 |
| बंगाली | : 12,20,800 | तेलगू | : 37,222 | असमिया | : 2,241 |
| मुंडारी | : 4,74,482 | नेपाली | : 29,747 | द्रविडन | : 1,931 |
| हो | : 4,45,068 | मुडायामुंडा | : 20,301 | बिरजिया | : 1,506 |
| उड़िया | : 3,02,969 | गुजराती | : 20,068 | गढ़वाली | : 1,057 |
| | | तमिल | : 16,177 | | |

इसके अतिरिक्त जिन भाषाओं को बोलने-समझने वाले सौ से उपर और

हज़ार से नीचे है उनकी संख्या आठ है —कोरकू (867), कोंकनी (816), कन्नड़ (674), गोंडी (451), कश्मीरी (186), संस्कृत (129) और भीली (125).

बिहार की भाषाई स्थिति भारतवर्ष के अन्य प्रांतों में पाई जाने वाली भाषाई स्थिति से अलग-अलग या अनूठी हो—ऐसी बात नहीं । यह स्थिति अन्य प्रांतों में भी है कि प्राय: विभिन्न भाषा-परिवारों की बोलियाँ एक ही समाज में न केवल अगल-बगल प्रयोग में आती हों; वरन् एक भाषा-परिवार की बोली को मातृभाषा के रूप में ग्रहण करने वाले, दूसरे भाषा-परिवार की बोली को भी सहज रूप में अपनाते देखे जाएँ । इस दृष्टि से बहुभाषिकता की प्रकृति के बारे में कुछ सामान्य अभिलक्षण देखे जा सकते हैं ।

पहला तथ्य तो यही है कि बहुभाषिकता की यह प्रकृति **समुदायपरक** है न कि **व्यक्तिपरक** । व्यक्तिपरक बहुभाषिकता, एक भाषा-भाषी समुदाय में देखी जाती है जहाँ अन्य व्यक्ति अपने ज्ञान या अन्य वैयक्तिक आवश्यकताओं के कारण अन्य भाषा को स्वीकार करता और उसके प्रयोग को सीखता है । उदाहरण के लिए कोई अमरीकी या रूसी अपने देश में जब हिंदी या अन्य कोई भारतीय भाषा सीखने की ओर प्रवृत्त होता है तब उसकी यह आवश्यकता उसके समाज की संचार व्यवस्था का उपांग बन कर सिद्ध नहीं होती । इसके विपरीत समुदायपरक बहुभाषिकता, एक बहुभाषी देश के समाज की व्यापक संचार व्यवस्था का एक उपांग बनकर सिद्ध रहती है । पारिवारिक व्यवहार, संप्रेषणीयता, दैनिक आचरण आदि के संदर्भ में जब समाज एक से अधिक भाषाओं के प्रयोग को सहज और स्वाभाविक स्तर पर स्वीकार करने लगे तब समुदायपरक बहुभाषिकता की स्थिति उभरती है । इस दृष्टि से देखें तो जिसे हम हिंदी प्रदेश कहते हैं, वह भी एक समुदायपरक बहुभाषी प्रदेश के रूप में ही सामने आता है ।

बिहार के सन्थाली समाज को ही लें । अपने जीवन के पारिवारिक संदर्भ में वे सन्थाली का प्रयोग करते हैं । पर अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन के दायरे से बाहर आकर वे स्थानीय बोलियों का उपयोग करते देखे जाते हैं और जीवन के एक दूसरे आयाम पर वे क्षेत्रीय बोलियों (भोजपुरी, मैथली और मगही) को भी अपनाते देखे जा सकते हैं, प्रारंभिक शिक्षा के लिए उनमें से अधिकांश अखिल भारतीय हिंदी के परिनिष्ठित रूप को ग्रहण करते हैं क्योंकि हिंदी प्रदेश की यह विशेषता रही है कि वह स्थानीय बोली के घेरे से बाहर निकल कर हिंदी को माध्यम भाषा के रूप में स्वीकार कर

शिक्षा ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त होती है। इसे पूरे समाज में साक्षरता का सवाल बोली के स्थान पर क्षेत्रीय भाषा या हिंदी के सीखने की प्रक्रिया जुड़ा है। आगे जब उच्च शिक्षा की बात उठती है तब यही हिंदी, अँग्रेजी भाषा के सीखने और अपनाने की समस्या से जुड़ जाती है।

परिवार, स्थानीय समुदाय, क्षेत्रीय जन व्यवहार, साक्षरता और सामान्य तथा उच्च शिक्षा इन विभिन्न संदर्भों में जब हम भारतीय किसी भाषा-भाषी समुदाय के कोड मैट्रिक्स को देखते हैं तो उसे बहुभाषा की एक जटिल प्रक्रिया से बंधा पाते हैं। पर उसकी यह जटिलता भाषाविदों के लिए भले ही समस्या के रूप में आती हो और भाषाविद भारत की इस आंतरिक संचार व्यवस्था के संदर्भ में भले ही उसे "भाषाई पागलपना" कहते हों पर स्वयं समाज उसे सहज और सामान्य रूप से ग्रहण करता आ रहा है। समाज के स्तर पर संप्रेषणीयता में न तो कभी कोई गतिरोध ही आया और न उसकी संचार व्यवस्था में ही कोई रुकावट आई। इसका कारण कोड-परिवर्तन (कोड स्विचिंग) की सहज स्वीकृति रही है।

यहाँ यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं रहा है कि जिस प्रकार एक गाँव की बोली अपने सीमावर्ती दूसरे गाँव की बोली से भिन्न होकर भी एक दूसरे के जन समुदाय के लिए बोधगम्य रही है और जिस प्रकार अगल-बगल के गाँव आपसी व्यवहार के लिए एक क्षेत्रीय सामान्य उस बोली का निर्वाह एवं प्रयोग करते रहे हैं जो दोनों के लिए मान्य एवं सुबोध हो उसी प्रकार सामाजिक स्तर भेद की भी एक ऐसी क्रमिक सीढ़ी को भी हम पाते हैं जहाँ पर स्तर अपने सीमावर्ती स्तर की भाषा अथवा शैली से परिचित रहता है। इसमें संदेह नहीं कि ये सभी भाषाएँ एवं शैली भेद समाज संदर्भित हैं, सभी की अपनी इयत्ता एक विशिष्ट सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के साधन हैं और उन सभी की सत्ता समाज की पूरी संप्रेषण व्यवस्था की एक अनिवार्य उपांग बनकर सिद्ध है। संक्षेप में इसे हम नीचे दिए गए रेखा-चित्र में समझ सकते हैं।

पारिवारिक : (परिवार में प्रयुक्त भाषा/बोली)
स्थानीय : (स्थानीय गाँव में प्रयुक्त बोली)
क्षेत्रीय : (क्षेत्रीय स्तर की बोली/भाषा)
साक्षरता का स्तर : (माध्यम भाषा 1)
सामान्य शिक्षा का स्तर : (माध्यम भाषा 2)
उच्च शिक्षा का स्तर : (माध्यम भाषा 3)

इसके संदर्भ में यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि संपूर्ण भारतवर्ष में परिवार के जीवन मूल्य और भाषारूप, समाज के बृहत्तर संदर्भ के सामाजिक मूल्य और भाषा-प्रयोग से भिन्न रहे हैं। इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा निश्चित और सुदृढ़ रही है और ये दोनों आपस में नितांत भिन्न होने की स्थिति में भी एक दूसरे की कभी विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी नहीं रही। भारत वर्ष की सामाजिक बनावट की यह प्रकृति ही रही है कि वह पारिवारिक मूल्यों का निर्वाह स्थानीय सामाजिक मूल्यों से टकराए बिना करती रही है। यह यहाँ की व्यवस्था का स्वीकृत तथ्य है कि अगर कोई व्यक्ति या समुदाय का वर्ग अपना भाषा-क्षेत्र छोड़कर अन्य भाषा क्षेत्र में जाकर बसा है तो उसे अपनी भाषा छोड़ने की आवश्यकता कभी भी सामाजिक दबाव के रूप में नहीं महसूस करनी पड़ी। यह स्थिति अमेरिका से काफ़ी भिन्न है। वहाँ अगर किसी अन्य देश का भाषा-भाषी जाता है तो एक या दो पीढ़ी के बाद वह अपनी भाषा को छोड़कर वहाँ की भाषा (अंग्रेजी) अपना लेता है। अतः भाषा-निर्वाह वहाँ एक समस्या के रूप में सामने आता है। पर हिंदुस्तान के भीतर एक क्षेत्र की भाषा बोलने वाला जब दूसरे क्षेत्र में जाता है तब उसका अपना एक पाँव हमेशा अपनी धरती पर बंधा होता है। संयुक्त परिवार और कुल का सदस्य होने के नाते जीवन के एक दायरे में उसे उस परिवार या कुल से संबंध बनाए रखना पड़ता है जिसका वह मूलतः सदस्य है। परिणाम यह है कि हर भाषा क्षेत्र में ऐसे कई सामुदायिक वर्ग मिल जाते हैं जो अपने सामाजिक व्यवहार क्षेत्र में स्थानीय और क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग करते हैं पर अपने पारिवारिक आचरण के लिए उस क्षेत्र के बाहर की भाषा का सहज भाव से निर्वाह कर लेते हैं। अतः बहुभाषिकता के संदर्भ में यह भाषा-निर्वाह भारत में कोई समस्या के रूप में सामने नहीं आता।

बहुभाषिकता के संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि हर भाषा समाज के हर प्रकार के दायित्व को नहीं निभाती। अगर बहुभाषिकता की प्रकृति व्यक्तिपरक न होकर समुदायपरक है तब विभिन्न भाषाओं का प्रयोग अपना एक निश्चित सामाजिक संदर्भ की अपेक्षा रखेगा। उसी संदर्भ में उस भाषा का प्रयोग सहज और सामान्य माना जाएगा। जिस प्रकार किसी एक भाषा के भीतर कई शैलियाँ होती हैं और हर शैली एक विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ की मांग करती है। उसी प्रकार अगर हम भाषा की सीमा का विस्तार कर अपनी दृष्टि भाषाई समाज तक ले जाएँ और उसे विवेच्य

सामग्री के लिए इकाई मान लें तब हम पाते हैं कि एक भाषा समाज के बीच स्थिर संबंधी के साथ निर्वाह करने वाली भाषाएँ भी शैलीवत् ही सिद्ध रहती हैं। भाषा प्रयोग के इन स्थिर संबंधों की प्रकृति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार वाक्य स्तर पर पर्यायवाची शब्दों की सत्ता और महत्व है और जिस प्रकार भाषा स्तर पर शैली-भेद की स्थिति और प्रयोजन सिद्ध है उसी प्रकार बहु-भाषी समाज के संदर्भ में उस भाषा-भेद की प्रकृति और उनके प्रयोजन का महत्व है जो उस भाषाई समाज की कोड-मैट्रिक्स है।

बहुभाषा समाज की (कोड मैट्रिक्स) उन सभी प्रयोजनबद्ध भाषाओं एवं शैलियों के समूह को कहेंगे जिसे वह समाज अपने प्रभाव संचार के लिए अपनाने के लिए विवश है। शैली-भेद की जहाँ तक बात है, हर भाषा में उसकी सत्ता असंदिग्ध रूप से देखी जाती है। पर ऐसी स्थिति भी देखी जा सकती है कि एक भाषा, दो या दो से अधिक ऐसी शैलियों का प्रयोग करता हो जो न केवल सामाजिक संदर्भों द्वारा नियंत्रित हों अपितु जिन का भाषा के परिप्रेक्ष्य में प्रयोजन सिद्ध सापेक्षतया स्थिर हो। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक फ़रगुसन ने ऐसी स्थिति को 'डायग्लोसिया' नाम दिया है। उनके अनुसार 'डायग्लोसिया' एक ही भाषा की दो शैलियों के व्यवहार की वह स्थिर स्थिति होती है जिसमें भाषा की एक आधारभूत शैली के अतिरिक्त उससे भिन्न आरोपित एक और भाषा-शैली भी प्रयुक्त होती है। आधारभूत शैली का मानक रूप संभव है। आरोपित शैली का व्याकरण अतिरिक्त नियमों द्वारा न केवल सापेक्षतया जटिल होता है वरन् उसके प्रयोग को समाज में अधिक सम्मानजन्य माना जाता है। वस्तुतः लिखित साहित्य में इसी का प्रयोग अधिक होता है और औपचारिक अवसरों पर इसी भाषा-शैली को लोग व्यवहार में लाते हैं इसलिए भाषा का यह शैली रूप किसी न किसी औप-चारिक संदर्भ में सीखा जाता है।

भारतीय समाज न केवल बहुभाषी समाज है बल्कि स्तरीकृत होने के कारण उसकी भाषाओं में शैलीभेद सामाजिक प्रयोजनों के साथ संबद्ध होकर सामने आते हैं। इन भाषाओं में 'डायग्लोसिया' की स्थिति स्पष्ट देखने को मिलती है। बंगाली भाषा में 'चलित' और 'साधुभाषा' तेलगु में 'व्यावहारिक' और 'ग्रंथिका' शैली अथवा तमिल में 'पेचू' और 'सेन तमिल' की दो स्पष्ट शैलियाँ हैं। 'चलित' 'व्यावहारिक' और 'पेचू' आदि शैलियाँ वस्तुतः इन भाषाओं की आधारभूत शैलियाँ हैं जिन्हें सामान्य व्यक्ति सहज रूप में सीख लेता है।

इनके विपरीत 'साधुभाषा' 'ग्रंथिका शैली' अथवा 'सेन तमिल' इन भाषाओं की वह शैली है जिसे अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा मिली है और जिसके न जानने से व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं माना जाता अथवा उस भाषा का उसका ज्ञान अधूरा या अपूर्ण समझा जाता है।

हिंदी की स्थिति इन भाषाओं से जटिल इस अर्थ में है कि इसमें आधारभूत शैली के अतिरिक्त एक नहीं अपितु दो आरोपित शैलियाँ हैं। आधारभूत शैली को प्रायः सामान्य हिंदी या हिंदुस्तानी की संज्ञा दी जाती है और आरोपित शैलियों को संस्कृतनिष्ठ (या उच्च हिंदी) और फ़ारसी-अरबीनिष्ठ (या उर्दू) शैलियाँ कहा जाता है। हिंदी और उर्दू के बीच गहरी खाई का काम करने वाले दो प्रमुख तत्व रहे हैं—लिपि और साहित्यिक परंपरा। हिंदी, नागरी लिपि की मुखापेक्षी है और उर्दू फ़ारसी लिपि की; हिंदी की परंपरा भारतवर्ष की उस जातीय संस्कृति का संवाहक रही है जो संस्कृत भाषा से अवाध गति से चली आ रही है जबकि उर्दू मुड़-मुड़कर फ़ारसी काव्यधारा से भी काव्य-रूढ़ियाँ आत्मसात करती रही है। पर लिपि भाषा नहीं और लिपि भेद को भाषा भेद का आधार नहीं बनाया जा सकता। दूसरी बात यह भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इन दोनों आरोपित साहित्यिक शैलियों का मूलाधार एक ही है—हिंदुस्तानी, जो न केवल दोनों ही लिपियों में लिखी जा सकती है बल्कि लिखी जाने पर नागरी को देखकर जिस पाठ को एक वर्ग 'हिंदी' से जोड़ता है तो फ़ारसी लिपि में पाकर उसी पाठ को दूसरा वर्ग 'उर्दू' मान बैठता है।

स्पष्ट है कि जिसे हम हिंदी भाषा-समाज कहते हैं उसका भाषाई कोश (वर्बल रेपर्त्वा) दो या दो से अधिक बोलियों, हिंदुस्तानी, हिंदी की दो आरोपित शैलियों तथा उच्चवर्ग में अंग्रेजी भाषाओं से संक्रमित हैं और जो आपस में इस प्रकार ग्रंथित हैं कि उनमें कोड-परिवर्तन सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में देखने में आता है। बोली, शैली और भाषा भेद के ये अन्तरसंबंध विभिन्न सामाजिक स्तरों पर भिन्न रूप में प्रतिफलित होते हैं, पर सामाजिक प्रक्रिया के संदर्भ में जिनको सामान्यीकृत नियमों से बाँधना संभव है। यह देखा जा सकता है कि जिन सामाजिक दबाव और औपचारिक परिस्थितियों के संदर्भ में उच्चवर्ग के सदस्य हिंदी और अँग्रेजी के बीच भाषा-परिवर्तन करते हैं, उन्हीं परिस्थितियों में बहुत कुछ आधारभूत शैली हिंदुस्तानी और आरोपित शैलियों—उच्च हिंदी अथवा उर्दू में भी

परिवर्तन देखा जा सकता है और उसी प्रकार समाज के एक तीसरे स्तर पर उन्हीं संदर्भों में बोलियों और हिंदुस्तानी के बीच कोड-परिवर्तन संभव है ।

हिंदी को उसके सही संदर्भ में समझने के लिए अत्यावश्यक है कि हम उसके समाज के भाषाई कोश (वर्बल रेपर्त्वा), कोड मैट्रिक्स, कोड परिवर्तन (कोड स्टाइल स्विचिंग ) को उस समाज में पाई जाने वाली बहु-भाषिकता की सही प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में देखें ।

मातृभाषा का सवाल और उसकी समस्या एकभावी देश में जिस रूप में दिखाई देती है वहाँ बहुभाषी समाज में उसी रूप में नहीं प्रतिफलित होती । बहुभाषी देश में विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं एवं विभिन्न प्रयोजनों के निर्वाह के लिए भिन्न-भिन्न भाषाएँ काम में आने के कारण आपस में एक स्थिर संबंधों का निर्माण करती चलती हैं । जब तक इन संबंधों की प्रकृति का हम सही आकलन न कर लें हम उस समाज की संप्रेषण व्यवस्था और भाषा संबंधी उनकी जातीय चेतना का भी पता नहीं लगा सकते । भारतवर्ष ऐसे देश में जहाँ बहुभाषिकता इतिहास समर्थित रही है और जहाँ भाषा-सहिष्णुता सामाजिक संस्कृति का निर्वाहक तत्व रहा है वहाँ आज भाषा वैमनस्य की भावना का तीव्र उद्रेक निश्चय ही भाषा नियोजन की किसी गहरी भूल का परिणाम कहा जा सकता है। भाषा नियोजन के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम देखें कि अन्य भाषा के रूप में कोई भाषा किन प्रयोजनों को साधती है और इस दृष्टि से आज की भाषाई स्थिति में हिंदी किन प्रयोजनों को लेकर प्रदेश अथवा भारत संघ की स्वीकृत भाषा बन सकती है ।

अन्य भाषाओं के रूप में निम्नलिखित चार प्रयोजन देखे जा सकते हैं—

(1) **सहायक भाषा** : (Auxiliary language)

जब अन्य भाषा सामाजिक संप्रेषण के लिए काम में न लायी जाए और उसे केवल ज्ञान के माध्यम के रूप में ही स्वीकार किया जाए तब ऐसी भाषा को सहायक भाषा की संज्ञा दी जा सकती है । इस दृष्टि से क्लासिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।

विभिन्न विदेशी विश्वविद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई भारतवर्ष की समाज, संस्कृति और साहित्य आदि की जानकारी के लिए उपकरण के रूप में की जाती है । पर ऐसे प्रशिक्षण से उस तरह के द्विभाषी निकलते हैं जो ज्ञान के धरातल पर तो हिंदी को सीख लेते हैं पर समाज के वास्तविक संदर्भों में

इनका व्यावहारिक उपयोग नहीं कर पाते। इस सहायक भाषा को कभी कभी पुस्तकालयी भाषा-रूप भी कहा जाता है।

(2) **संपूरक भाषा** : (Supplementary language)

जब अन्य भाषा व्यवहार में तो प्रयुक्त हो लेकिन जिन आवश्यकताओं के लिए अपनायी जाती है वह अपनी प्रकृति में अस्थायी तथा अपने प्रयोग में अत्यंत सीमित हो (यथा—पर्यटकों के उपयोग तक सीमित भाषा) तब इसे संपूरक भाषा की संज्ञा दी जा सकती है। इस दृष्टि से पढ़ाई जाने वाली भाषा आंशिक क्षमता के रूप में उन द्विभाषियों को पैदा करती है जिसकी प्रकृति भाषिक क्षमता के संदर्भ में अस्थिर होती है।

भाषा का सहायक एवं संपूरक प्रयोजन व्यक्तिपरक और व्यक्तिसाधक है न कि समाजपूरक और समाजसाधक। ये दोनों प्रयोजन किसी भाषा-समाज की संप्रेषण व्यवस्था की आवश्यकता पर आधारित नहीं होते। अतः ऐसी भाषाओं का ज्ञान संस्था के रूप में किसी भाषा-समुदाय की आंतरिक आवश्यकताओं का परिणाम नहीं होते। इसके विपरीत नीचे दिए दो और प्रयोजनों के लिए भाषा समाज की अपनी आंतरिक व्यवस्था और संप्रेषण की सामाजिक आवश्यकताओं से बाधित होती है।

(3) **परिपूरक भाषा** : (Complementary language)

अन्य भाषा के रूप में प्रयोग में आने वाली भाषा पहली या मातृभाषा के परिपूरक प्रयोजन में सिद्ध तब मानी जा सकती है जब वही भाषा (न कि कोई अन्य भाषा) निर्धारित भाषा-समाज के सीमित परंतु निर्दिष्ट सामाजिक संदर्भों में स्वभावतः प्रयुक्त की जाती है। इस दृष्टि से अगर हम अंग्रेजी के प्रयोग पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि वह भारतीय भाषा समाज के लिए परिपूरक प्रयोजनवत सिद्ध है। हम अपने समाज के विशिष्ट संदर्भ में ही अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं और जिन सीमित संदर्भों में इसका व्यवहार सहज रूप में होता है उसमें अन्य किसी विदेशी भाषा— रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि का व्यवहार नहीं होता। वस्तुतः अंग्रेजी इसी संदर्भ में एक अक्षेत्रीय लेकिन अखिल भारतीय स्तर पर व्यवहार में लायी जाने वाली संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई।

संपर्क भाषा के रूप में सिद्ध प्रयोजन भाषा परिपूरक संदर्भ को सामने उभारती है। इसी संदर्भ में कोई भाषा लिंग्वा-फ्रांका भी बनती है। यही

उस विशिष्ट रजिस्टर को सामने उभारती है जिसे कभी हम अखिल भारतीय स्तर पर संघ की राजभाषा कह लेते हैं और कभी ज्ञान के स्तर पर पारिभाषिक शब्दावली से युक्त तकनीकी भाषा के नाम से संबोधित करते हैं। परिपूरक भाषा के रूप में अन्य भाषा शिक्षण उस स्थिर प्रकृति के द्विभाषी पैदा करता है जिसका ज्ञान अन्य भाषा के संदर्भ में आंशिक रहता है।

अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी शिक्षण का सही दृष्टिकोण परिपूरक प्रयोजनों को लेकर होना चाहिए। उन क्षेत्रों की अपनी मातृभाषा तो है ही इसलिए हिंदी की शिक्षा उन संदर्भों में करना अनुचित होगा जिनके लिए पहले से ही मातृभाषा का प्रयोग होता रहा है। ऐसा न करने पर हिंदी अनावश्यक रूप से अन्य भारतीय भाषाओं की प्रतिद्वंद्विता में उलझ जाएगी।

बहुभाषी समाज में प्रायः यह देखा जाता है कि समाज की पूरी संप्रेषण व्यवस्था के भीतर जब एक भाषा कुछ निश्चित क्षेत्रों में अपने दायित्व का निर्वाह करती है तो दूसरी भाषा कुछ अन्य निश्चित क्षेत्रों में। सीमित सामाजिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होने के कारण यह कहा जाने लगता है कि वह भाषा अधूरी और अक्षम है क्योंकि उसका वह रूप खुलकर नहीं आता जो उन क्षेत्रों में प्रयोग में आने पर होता है जिनमें कोई दूसरी भाषा प्रयोग में आती है। लेकिन एक भाषावैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कोई भी भाषा स्वयं में अधूरी अथवा अविकसित नहीं होती केवल उसका प्रयोग क्षेत्र और व्यवहार सीमित या विस्तृत होता है। सभी भाषाएँ अपनी मूल रचना और प्रकृति में उन संभावनाओं से युक्त रहती हैं जो किसी भी विकसित भाषा के लिए मान्य स्वरूपगत विशेषताओं को लिए होती हैं। हिंदी पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि वह अंग्रेजी भाषा की तुलना में अधूरी अथवा अविकसित है। यह कथन भ्रांत दृष्टि का परिणाम है क्योंकि अंग्रेजी उन विशिष्ट सामाजिक संदर्भों में प्रयोग में लायी जाती रही है जिनमें हिंदी का प्रयोग नहीं होता था। साम्राज्यवाद एवं अंतर्राष्ट्रीय दबाव के फलस्वरूप हिंदी को अवसर ही नहीं मिला कि वह अपने भाषा-समाज के वृहत्तर आयाम पर प्रयुक्त हो। अब जबकि अंग्रेजी का बल घटता जा रहा है और शिक्षा का आधार व्यापक होकर जन समाज के निचले स्तर तक बढ़ता जा रहा है, यहाँ की अपनी भाषाएँ वह रास्ता स्वयं बनाती जा रही हैं जिस पर आधारित होकर वे समृद्ध और बहुप्रयोजनीय होती जा रही हैं। हिंदी शिक्षण को

इस दृष्टि से भी अपने को समसामयिक मांग के अनुरूप सम्यक् बनाना जरूरी है।

(4) **समतुल्य भाषा** : (Equative language)

जब अन्य भाषा उन सभी सामाजिक संदर्भों में प्रयुक्त होने लगे जिसमें मातृ-भाषा प्रयोग में लायी जाती है तब उसे समतुल्य भाषा प्रयोजन की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसी स्थिति में द्विभाषी धीरे-धीरे अंततोगत्वा एक-भाषी बन जाता है, क्योंकि उसके लिए मातृभाषा एक अर्थहीन भाषा बन जाती है। यह स्थिति अमेरिका जैसे देशों में प्रायः देखने को मिलती है। जहाँ दूसरे भाषा समाज (यथा—रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि) के व्यक्ति जब वहाँ जाकर बस जाते हैं तब एक या दो पीढ़ी के बाद वे अपनी मातृभाषा को पहले आनुषंगिक और बाद में अर्थहीन देखकर उसे छोड़ते जाते हैं और अंत में वहाँ की भाषा को ही अपनी पहली भाषा के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। भारतवर्ष में भाषा परिवर्तन की यह स्थिति देखने को नहीं मिलती क्योंकि एक भाषाक्षेत्र से जब व्यक्ति दूसरे भाषाक्षेत्र में जाता है तब भी उसका एक पाँव अपनी स्थानीय मातृभूमि की व्यवस्था में जमा रहता है और जिसके फलस्वरूप वह अपने कुल, जाति एवं परिवार से संबंधित दायित्वों के निर्वाह के लिए अपनी मातृभाषा का प्रयोग करने के लिए सदा बाध्य रहता है। इस तरह अन्य भाषा क्षेत्र के साथ-साथ अपनी मातृभाषा का भी वह निर्वाह करता है।

एक दूसरी स्थिति भी देखने को मिल सकती है। कभी-कभी विस्थापित परिवार अपनी जमीन से उखड़ कर बोली के धरातल पर मान्य संप्रेषण व्यवस्था को छोड़ता हुआ पाया जा सकता है। हिंदी भाषा क्षेत्र के भीतर अनेक बोलियों के उपक्षेत्र हैं। इन बोली-उपक्षेत्रों से उखड़ कर परिवार दूसरे बोली क्षेत्र के शहरी जीवन में जब प्रवेश करता है तो एक या दो पीढ़ी के बाद वह हिंदी भाषा को अपने उन जीवन संदर्भों में भी प्रयोग करता पाया जाता है जिसमें कभी वह अपनी बोलो का प्रयोग करता था। ऐसी स्थिति में एक दो पीढ़ी के बाद हिंदी भाषा उसकी पहली भाषा बन जाती है।

भारतीय समाज भाषावैविध्य को बिना मिटाये हुए भाषा की एकता पर बल देती रही है। भाषा सहिष्णुता उसकी जातीय एवं सांस्कृतिक चेतना की आंतरिक शक्ति के रूप में स्थित रही है। जिस सामाजिक संस्कृति की

बात हिंदी के माध्यम से संविधान में उठायी गई है, वह न तो भाषा परिवर्तन और न भाषा-लोप पर आधारित है बल्कि विभिन्न भाषाओं की परिपूरक प्रयोजनों पर आधारित सामाजिक संप्रेषण व्यवस्था से जुड़ी हुई है। आपसी भाषाई सहयोग उस बहुभाषी समाज का निर्माण करता है, जो अपनी प्रकृति में समानाधिकरणिक न हो कर सामासिक होता है। हिंदी भाषा शिक्षण का सही संदर्भ यही है कि हम पहले भारतीय समाज की बहुभाषिकता की प्रकृति को ठीक से समझें और तदनुरूप विभिन्न भाषा प्रयोजनों के संदर्भ में हिंदी का अन्य भाषाओं के साथ संबंधों की सही जानकारी रखते हुए भाषा-शिक्षण को सार्थक बनाएँ।

# डायग्लोसिया (भाषा द्वैत)

—वी० रा० जगन्नाथन

इस शताब्दी के प्रारंभ में संरचनात्मक या विवरणात्मक भाषाविज्ञान के अभ्युदय से पहले ही भाषाविज्ञानियों को भाषा के विभिन्न क्षेत्रीय भेदों का ज्ञान था, जिन्हें बोली (dialect) की संज्ञा दी गई थी। वास्तव में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की शुरूआत यहाँ से हुई थी कि संस्कृत भाषा की क्षेत्रीय बोलियों से कालक्रम में हिंदी, गुजराती, पंजाबी, मराठी तथा लेटिन से फ्रेंच, इतालवी आदि भाषाएँ विकसित हुईं। यद्यपि बोली की परिभाषा, बोली का क्षेत्र निर्धारण, भाषा-बोली के संबंध आदि विषयों में मतभेद रहे और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हुए क्रमिक विकास के कारण 'बोली' को परिभाषित करने की दृष्टि में बहुत अंतर आया, फिर भी यह तथ्य सुदृढ़ बना रहा कि भाषा एक सुनिश्चित तथा अलंघ्य सार्वभौमिक व्यवस्था नहीं, बल्कि कई स्थानिक आदि भाषिक भेदों की समग्रता है जिनमें से प्रायः एक 'बोली' अपने सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि महत्वों के कारण भाषा का स्थान प्राप्त कर लेती है और अन्य सभी भेद उस भाषा की बोलियाँ कहलाते हैं। संरचनात्मक भाषाविज्ञान ने भाषा के मानक या सार्वभौम रूप की अपेक्षा भाषा के बोले जाने वाले रूप के महत्व को स्वीकार किया।

फ़र्गुसन (1959) ने अपने 'डायग्लोसिया' नामक लेख में भाषाद्वैत की स्थिति का विवेचन किया। उनके अनुसार कई भाषायी समुदायों में एक ही भाषा के दो या दो से अधिक रूप कुछ व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में बोले जाते हैं। जैसे बंगला के दो रूप हैं—**साधु भाषा** और **चलित भाषा**, तमिल के दो रूप हैं—**चेंतमिल** (अच्छी तमिल) और **पेच्चू तमिल**

---

+ 'भाषाद्वैत' शब्द diglossia के लिए लेखक का बनाया हुआ है। दर्शन की द्वैतता में जिस प्रकार एक ही ब्रह्म के दो प्रकट रूप हैं (लेकिन अंततः एक ही है) वैसे भाषा द्वैत में एक ही भाषा के दो भिन्न प्रकट रूप होने का आभास मिलता है, किंतु हैं दोनों एक ही।

(बोलचाल की तमिल), तेलुग के दो रूप हैं—**ग्रंथिका** और **व्यावहारिका**। भाषा-द्वैत में इस तरह के दोनों रूप प्रयोग की दृष्टि से परिपूरक हैं, यानी एक ही व्यक्ति जीवन के कुछ संदर्भों में एक रूप का प्रयोग करता है और अन्य संदर्भों में दूसरे रूप का। वह एक ही जगह कहीं दोनों का प्रयोग नहीं करता। जैसे भाषा-द्वैत की स्थिति में आम तौर पर एक रूप साहित्य रचना आदि विद्वत्ता के क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है और दूसरा रूप जीवन के सामान्य प्रसंगों में बोलचाल में काम आता है।

भाषा द्वैत की स्थिति किसी एक भाषा परिवार-विशेष तक या भौगोलिक क्षेत्र-विशेष तक सीमित नहीं होती यानी यह स्थिति किसी भी भाषा में प्रकट हो सकती है। लेकिन फ़र्गुसन उपलब्ध उदाहरणों के आधार पर कहते हैं कि भाषाद्वैत की स्थिति सिर्फ ऐसे भाषा-समुदायों में मिलती है, जिनमें शिक्षा का प्रसार हो। आगे वे कहते हैं कि किसी भाषा समुदाय में भाषाद्वैत के लिए तीन स्थितियाँ जरूरी हैं—

1. उस समुदाय में सहज बोलचाल की भाषा में लिखित विपुल साहित्य हो जो उसके सामान्य जीवन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता हो।
2. उस समुदाय में शिक्षा का प्रसार उच्च वर्ग तक ही सीमित हो।
3. उपरिलिखित (1) और (2) के स्थापन के बाद काफी लंबा अंतराल (कई संदर्भों में कुछ शताब्दियाँ) रहा हो। जिन समुदायों में ये तीनों परिस्थितियाँ हों, उन में भाषा-द्वैत की स्थिति आम तौर पर होती हैं।

भाषा-द्वैत भाषा के मानकीकरण (standardisation) के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न है और मानकीकरण की स्थिति में भाषा के विभेदों (यानी एक ही समय पर भाषा के दो कूटों (codes) का प्रयोग सामने आता है। भाषा विभेदों के बारे में भाषाविज्ञानी प्रारंभ से ही सचेत रहे और सभी ने इसे अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। इन भेदों में भाषा-बोली विभेद प्रमुख रहा है। दो भाषाओं के संदर्भ में द्विभाषिकता (bilingualism) का सिद्धांत इधर बहुत महत्वपूर्ण हो चला है। भाषा विभेदों के संदर्भ में हैलिडे की 'रजिस्टर' की संकल्पना तथा बर्नस्टीन का कोड (code) का प्रतिपादन दोनों बहुचर्चित रहे हैं। भाषा द्वैत का सिद्धांत भी इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण सोपान है।

भाषा-द्वैत की स्थिति द्विभाषिकता की स्थिति से भिन्न है। द्विभाषिकता में दो भाषिक कोड काम करते हैं, जब कि भाषा द्वैत एकभाषिक स्थिति है। द्विभाषिकता की स्थिति में व्यक्ति के सामने दो भाषाएँ होती हैं, जिनमें से वह किसी एक या दोनों के मिश्रित रूप का प्रयोग करने को स्वतंत्र है। लेकिन भाषा-द्वैत में प्रायः यह छूट नहीं है। द्विभाषी समुदाय में भी भाषा-द्वैत की स्थिति देखी जा सकती है, जहाँ संक्रमण के क्षेत्रों में दोनों भाषाओं में भाषा-द्वैत के कारण वक्ता को चार कोडों में से चयन करना पड़ता है। (जैसे तमिल और तेलुगु के बीच यह स्थिति देखी जा सकती है)।

प्रायः सभी भाषा-समुदायों में मानक भाषा और क्षेत्रीय या सामाजिक बोलियों का विभेद मिलता है। यह विभेद वैसे भाषाद्वैत से मिलती-जुलती स्थिति लगता है, क्योंकि भाषा-द्वैत में भी एक मानक तथा कई क्षेत्रीय कोड रूप मिलते हैं। लेकिन भाषा-बोली विभेद भाषा-द्वैत से बिलकुल भिन्न है। इस स्थिति में यह संभव है कि मानक भाषा (यानी मानकीकृत बोली) बोलने वाला व्यक्ति उसकी अन्य कोई बोली न जाने और हर जगह उसी रूप से काम चलाए। भाषा-द्वैत में यह संभव नहीं है, अन्यथा वक्ता पग-पग पर हँसी का, संदेह या सहानुभूति का पात्र बनकर रह जाएगा। भाषा-बोली विभेद में एक वर्ग मानक भाषा का सहज रूप में इस्तेमाल करता है, दूसरे वर्ग के लिए अपनी बोली के साथ-साथ मानक भाषा एक अतिरिक्त, अर्जित कोड है। भाषा-द्वैत में जीवन के संदर्भों में दोनों कोडों के प्रयोग में परिपूरकता एक अनिवार्यता है, जब कि भाषा-बोली विभेद में यह बात नहीं होती।

भाषा-द्वैत की स्थिति को स्पष्ट करने वाले नौ तथ्यों का उल्लेख फ़र्गुसन ने किया है जिनकी आगे चर्चा की गयी है।

(1) **प्रकार्य** : भाषा द्वैत में हर व्यक्ति के सामने दो भाषिक कूट होते हैं, जिन्हें वे सुविधा की दृष्टि से उच्च कोड (high variety or H) और निम्न कोड (low variety या L) कहते हैं। ये दोनों कोड परिपूरक हैं, अर्थात् इनके प्रयोग के अलग-अलग संदर्भ हैं और प्रयोग के अतिव्यापन (overlapping) बहुत कम ही दिखायी पड़ता है। डेल हाइम्ज (1964 : 389) का कहना है कि अगर रूपों में से किसी एक को निकाल दें, तो समाज में संप्रेषण की दृष्टि से अभाव-सा आ जाएगा। अर्थात् दोनों रूपों का अपना स्थान है, क्षेत्र और प्रयोजन अलग है। सही संदर्भ में सही रूप का चयन न करने पर व्यक्ति व्यंग्य का पात्र बनता है।

तमिल भाषा के दोनों कोडों का वितरण निम्न प्रकार से है—उच्च (साहित्यिक) कोड का प्रयोग साहित्यिक लेखन, पुस्तक लेखन, विद्वद्-गोष्ठी में भाषण, अखबार और पत्र-पत्रिकाएँ, अध्यापन, रेडियो वार्ता, रेडियो सामाचार, औपचारिक पत्राचार आदि क्षेत्रों में होता है। निम्न कोड आपसी बातचीत, जन सामान्य के सामने व्याख्यान, लोक साहित्य आदि संदर्भों में प्रयुक्त होता है। उच्चकोड के दो गुण हैं– औपचारिक, सामूहिक संप्रेषण तथा ऐसे वर्ग विशेष के लिए अभिव्यक्ति जिसके बारे में मालूम हो कि वह उच्च कोड से परिचित है। तुलना में निम्न कोड के दो गुण हैं—व्यक्तिगत संप्रेषण (चाहे जितने उच्च व्यक्ति से क्यों न हो) और जन सामान्य के लिए अभिव्यक्ति (जिसके वर्ग-विशेष का अभिज्ञान न हो)।

दोनों कोडों के संदर्भों में चयन में कभी-कभी छूट दिखायी पड़ती है, जैसे आम जनता के सामने कोई उच्च कोड में व्याख्यान देता है तो कोई निम्न कोड में। लेकिन कोड चुन लेने के बाद कोड-मिश्रण अव्यावहारिक होता है। आजकल ऐसा दोष भी मिलने लगा है। आकाशवाणी मद्रास से प्रसारित होने वाले किसान भाइयों के कार्यक्रम में एक साथ दोनों कोडों का प्रयोग हास्यास्पद लगता है। वास्तव में प्रस्तोता को एक साथ दो बातें चाहिए—उच्च कोड की शालीनता और निम्न कोड का सामीप्य। उसका माध्यम औपचारिक है लेकिन उसके श्रोता निम्न कोड के हैं। इसी कारण वह कोड के चयन तथा प्रस्तुतीकरण में गलती करता है। दूसरी तरफ़ अध्यापक कक्षा से सामान्यतया पाठ्य सामग्री (लिखित) को उच्च कोड में प्रस्तुत करता है और उसकी व्याख्या निम्न कोड में करता है। इस तरह कोड में बराबर परिवृत्ति (shifting) के कारण कोडों में मिश्रण भी हो जाया करता है। सामान्य रूप से तमिल में दोनों कोडों में परिपूरकता का सिद्धांत सुनिश्चित ढंग से काम करता है।

(2) **प्रतिष्ठा** : यद्यपि फ़र्गुसन कहते हैं कि 'उच्च' और 'निम्न' शब्द सुविधा के लिए हैं, ये शब्द निरर्थक नहीं हैं। 'उच्च' के साथ कई सामाजिक मूल्य जोड़े जाते हैं, क्योंकि उच्च कोड एक सुसंस्कारित (cultivated) कोड है, जिनका प्रयोग समाज का उच्च शिक्षित वर्ग अपने तक सीमित तथा प्रतिष्ठा-योग्य संदर्भों में करता है। अतः उच्च कोड का ज्ञान भी प्रतिष्ठा का सवाल बनता है और आम आदमी इससे वंचित रह जाता है। अन्य कई सामाजिक तत्वों की तरह भाषा भी वर्गों में अंतर करने तथा सबल, संपन्न वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायता देती है।

इस संदर्भ में यह सोचा जा सकता है कि समाज का सबसे बड़ा (अशिक्षित) वर्ग कैसे एक ही कोड से काम चलाता होगा। दोनों कोडों के वितरण को गौर से देखा जाए तो मालूम होगा कि उच्च कोड के विभिन्न संदर्भ आम आदमी के लिए नहीं हैं। वह भाषा का एक ही प्रयोजन जानता है—भावों और आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के लिए अनौपचारिक बातचीत। उच्च कोड के प्रयोग के सारे संदर्भ समाज के अग्रणी वर्ग के हैं। चूंकि यह वर्ग इसका प्रयोग करता है यह रूप भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। शायद इसी शक्ति-संचयन के कारण समाज बहुत परिश्रम से इस कोड की महत्ता को बनाए रखता है और दूसरी पीढ़ियों (के समर्थ लोगों) को प्रदान करता है।

लोगों में यह धारणा भी आम होती है कि उच्च कोड ही वास्तविक भाषा है, जो ज्यादा सुंदर, सुगठित, तर्क सम्मत है तथा अभिव्यक्ति के लिए सक्षम माध्यम है। इस की तुलना में निम्न कोड कभी-कभी महत्वहीन समझा जाता है। उच्चकोड के साहित्यिक भाषा होने, धर्म, राजनीति, शिक्षा आदि क्षेत्रों में काम आने तथा अधिक समृद्ध तथा सुनिश्चित होने के कारण ही इस मान्यता को बल मिलता है। कभी-कभी सिर्फ निम्न कोड का प्रयोग करने वाले व्यक्ति भी यह व्यक्त करते हैं कि वे 'सही' भाषा नहीं जानते। दूसरी ओर उच्च कोड का प्रयोग करने वाला व्यक्ति यह मानने से इंकार करता है कि वह जीवन के अधिकतर संदर्भों में निम्न कोड का ही प्रयोग करता है। वह अपनी भाषिक क्षमता में इस की उपस्थिति स्वीकार करना नहीं चाहता। फ़र्गुसन कहते हैं कि उससे पूछा जाए कि बाजार में बच्चों से, नौकरों से किस भाषा का इस्तेमाल करता है तो उत्तर मिल सकता है—वे लोग तो मेरी भाषा समझ ही नहीं सकते।

(3) **साहित्य परंपरा :** ऊपर बताया गया है कि भाषा-द्वैत का मूल कारण ही साहित्य का विपुल भंडार है। यह साहित्य उच्च कोड में होता है और समुदाय इस संपदा पर गर्व करता है। इसी कारण तत्कालीन साहित्य भी उसी पुरानी भाषा में लिखा जाता है और उससे पर्याप्त मात्रा में शब्द, पद, वाक्य आदि ग्रहण किये जाते हैं। पुराने प्रयोगों से मंडित ऐसी भाषा के बारे में श्रोता (या पाठक) अनुभव करते हैं कि अमुक व्यक्ति बहुत अच्छी भाषा जानता है या अमुक व्यक्ति की भाषा बहुत अच्छी है।

कभी-कभी सामान्य भाषा से अपनी भाषा को अलग करने तथा पुरानी भाषा से रूप लेने की प्रवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि उच्च कोड सामान्य भाषा

से दूर और पुरानी भाषा के अधिक निकट चला जाता है। ऐसी स्थिति को नव श्रेण्यवाद (neo-classism) कहा जा सकता है। तमिल में इस समय उच्च कोड में नव श्रेण्यवाद की लहर-सी आयी है और पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण इसी आधार पर हो रहा है।

(4) **अर्जन** : चूंकि निम्न कोड आपसी बातचीत का साधन है, समुदाय में सभी बच्चे पहले इसी का अर्जन करते हैं यानि निम्न कोड ही वास्तविक 'मातृभाषा' है। वे उच्च कोड को बाद में औपचारिक शिक्षा के माध्यम से सीखते हैं। याने उच्च कोड एक प्रकार से अध्यारोपित (superposed) शैली है, जो व्यक्ति एक 'अन्य भाषा' के रूप में सीखता है। इस कारण दोनों में उपलब्धि का स्तर भिन्न-भिन्न होता है। साधारणतया व्यक्ति निम्न कोड की-सी भाषायी दक्षता उच्च में कभी नहीं पाता। उच्च कोड का अर्जन व्याकरणिक नियमों को सीखने तथा अन्य भाषा शैक्षिक पद्धतियों द्वारा होता है। फ़र्क इतना है कि व्यक्ति बचपन से ही कुछ सामाजिक संदर्भों में उच्च कोड को सुनने के आदी होते हैं, भले ही उन स्थितियों में वे वक्ता के रूप में भाग न लें पाएँ। इस कारण उच्च कोड का अर्जन उन्हें उस रूप में अतिरिक्त अध्ययन नहीं लगता जैसे कि अन्य भाषा का अर्जन लगता। वे शुरू से ही उच्च कोड के अर्जन के लिए मानसिक रूप से तैयार हो जाते हैं।

(5) **मानकीकरण** : यह धारणा भी आम होती है कि उच्च कोड ही वास्तविक भाषा है, निम्न उसका बिगड़ा हुआ रूप है। उच्च कोड को मानक भाषा मानने तथा शिक्षण में मानक रूप में इस्तेमाल की यह प्रवृत्ति कहीं निम्न के संदर्भ में नहीं देखी जाती। भाषा को मानक बनाने की दृष्टि से उच्च कोड के संदर्भ में व्याकरण, शब्द कोश आदि का निर्माण उच्चारण, शैली आदि का विवेचन, पाठ्य पुस्तकें आदि की लंबी परंपरा मिलती है। इनके लेखन की पद्धति भी सुसंगठित होती है, जबकि निम्न कोड में औपचारिक लेखन अप्राप्य-सा है। चूंकि मानक रूप की तुलना में कई प्रादेशिक या क्षेत्रीय निम्नकोड मिलते हैं, जिनमें उच्चारण, व्याकरण आदि के बारे में कहीं कोई लेखनबद्ध विवरण नहीं मिलता। इन्हीं सब कारणों से निम्न कोड अमानक मान लिया जाता है, जो कि त्याज्य न हो तो उपेक्ष्य जरूर है। इस प्रवृत्ति को बल मिलता है भाषा के अन्य प्रयोजनों के कारण कहीं उसकी प्रतिष्ठा धर्म के कारण है, तो कहीं साहित्य के कारण (जैसा कि तमिल में है।) यह प्रतिष्ठा भी मानकीकरण को सुदृढ़ बनाती है।

किन्हीं सीमित भाषा समुदायों में, जिनमें सामाजिक-सांस्कृतिक केंद्र सीमित हों (ज्यादातर सिर्फ एक), मानक निम्न कोड भी पाया जाता है। यानी निकट की और जगहों के व्यक्तियों की भाषा में उस केंद्र के निम्न कोड का प्रभाव पड़ने लगता है। अन्यथा एक से अधिक निम्नकोड होते हैं, जिन्हें प्रादेशिक मानक निम्न कोड कह सकते हैं। जैसे तमिलनाडु की तमिल में मानक उच्चकोड के साथ-साथ कम से कम नौ प्रादेशिक निम्नकोड हैं, जिनसे आसपास के ग्रामीण निम्न कोड प्रभावित होते हैं। ये हैं—मद्रास, चेंगलपट्टु, तंजाऊर, चेट्टिनाड, तिरुनेलवेलि, सेलम-कोयम्बत्तूर, कन्याकुमारी, तूत्तुक्कुडी और दक्षिण आरकाड। तमिल प्रदेश में भाषा-द्वैत की स्थिति के दो नये आयाम जुड़ते हैं। अगर हम तमिलनाडु से बाहर तमिल की स्थिति के बारे में देखें, तो तमिल भाषा क्षेत्र के बाहर यालपाणम (श्रीलंका में जाफ़ना) का उच्च कोड भी तमिलनाडु के उच्चकोड से अलग पड़ता है। तमिलनाडु के बाहर प्रवासी तमिल भाषी समुदायों में केवल निम्नकोड दिखायी पड़ता है और साहित्यिक परंपरा के अभाव से उच्च कोड का अभाव है, जैसे कि मांड्या, कर्णाटक में। ऐसे अंचलों के संदर्भ में उच्च-निम्न कोडों का पृथक-करण बेमानी होता अगर मूल तमिल की स्थिति से इसकी तुलना न की जाती। यानी दो कोडों के प्रश्न की समीचीनता केवल एक भौगोलिक अंचल में ही आंकी जा सकती है। अन्य अंचलों की स्थिति का अध्ययन कुछ भिन्न आधारों पर करना होगा।

(6) **स्थायित्व** : यह सोचा जा सकता है कि भाषा-द्वैत अत्यंत अस्थायी, भंगुर अव्यवस्था होगी और वह शीघ्र ही स्थायी अद्वैत में बदल जाती होगी। लेकिन ऐसी बात नहीं है। भाषा-द्वैत कई शताब्दियों तक बनी रहती है। तमिल में प्राचीन साहित्य और शिलालेखों की भाषा में अंतर (जो भाषा-द्वैत का परिचायक है) सदियों पुरानी प्रवृत्ति है। तेलगु में (राधाकृष्ण : 1973) भाषा-द्वैत के प्रामाणिक उदाहरण 7 वीं शताब्दी से ही मिलते हैं। अगर दोनों कोडों में अंतर के कारण संप्रेषण व्यवस्था में कोई संघर्ष हो तो निम्न कोड उच्च कोड से प्रभाव ग्रहण कर अंतर को कम किया जाता है। इस तरह भाषा में परिवर्तन दोनों कोडों में साथ-साथ होते हैं।

दोनों कोडों में सबसे अधिक व्याकरणिक रचनाओं की दृष्टि से, शब्द चयन में तथा उच्चारण के हिसाब से अंतर दिखाई पड़ता है, जिन्हें कुल

मिला कर देखें तो कहा जा सकता है कि ये कोड कुछ हद तक अलग-अलग संरचना वाली भाषाएँ है।

(7) **व्याकरण** : उच्च कोड की व्याकरणिक संरचना कुछ अधिक पेचीदा होती है, जब कि निम्न कोड में यह अधिक सरलीकृत और तर्कसंगत बना ली जाती है। इस कारण रूपावली (paradigms) ज्यादा सममित (symmetrical) बना ली जाती है रूपिमों (morphemes) के सहरूपों (allomorphs) की संख्या कम होती है तथा ये अधिक सरल बन जाते हैं। फ़र्गुसन व्याकरणिक सरलता को मापने के निम्नलिखित मापदंड बताते हैं, जिसके आधार पर कोडों में सरलता या सुसंबद्धता का प्रतिमान आँका जा सके।

| | जटिल भाषा | सरल भाषा |
|---|---|---|
| 1. | रूप स्वनिम प्रक्रिया जटिल होती है (यानी कई रूप (morpohs) होते हैं और उनका वितरण भी जटिल होता है, जैसे अंग्रेजी बहुवचन) | रूप-स्वमिन प्रक्रिया सरल होती है (यानी रूपों (morphs) में कम परिवर्तन होते हैं) |
| 2. | इसमें अनिवार्य कोटियों obligatory categories की संख्या अधिक होती है और अन्विति आदि व्यापक होती है। | व्याकरणिक कोटियाँ कम होती हैं और अन्विति सीमित। |
| 3. | अन्विति और नियंत्रण (rection) आदि अधिक होते हैं, जैसे रूसी में अलग-अलग परसर्गों के साथ अलग-अलग कारक लगते हैं। | रूपावली (paradigms) अधिक एकरूप होती है। |
| 4. | रूपावली में विविधता दिखायी पड़ती है। | अन्विति आदि सरल होती है, जैसे अंग्रेजी में कारक की पेचीदगी नहीं है। |

तमिल के संदर्भ में भाषाद्वैत में व्याकरणिक सरलता को उद्घाटित करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण का हवाला दिया जा सकता है। उच्च

कोड में छः सर्वनाम होते हैं—

अवन्—वह (लड़का) ⇄ अवर्—वे (एकवचन, आदरार्थ)
अवल्—वह (लड़की) ⇄ अवर्कल्—वे (बहुवचन)

अतु—वह (मानवेतर)→ अवै—वे (मानवेतर)

इसमें अवर्कल् आधुनिक तमिल की विशेषता है, जो पुराने बहुवचन रूप अवर् में बहुवचन प्रत्यय 'कल्' लगाने से सिद्ध हुआ है। क्रिया रचना में इन छः सर्वनामों से अन्वित होने वाले (कृदंत में सार्वनामिक प्रयत्न से निष्पन्न) छः क्रिया रूप भी हैं।

निम्न कोड में स्थिति भिन्न है। उसमें 8 सर्वनाम हैं—चार एकवचन सर्वनाम तथा इनसे बहुवचन प्रत्यय (कल्) लगाने से बनने वाले बहुवचन रूप—
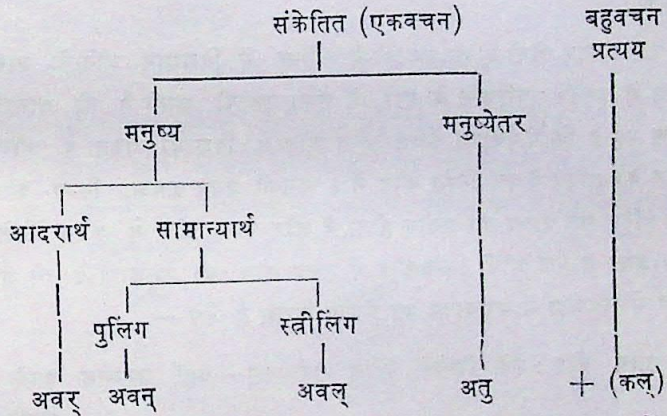
यद्यपि निम्न कोड में सर्वनामों की संख्या अधिक है, फिर भी इनमें एकरूपता है और रूपिमिक दृष्टि से सरलता है। यह सरलता सर्वनामों में ही नहीं, बल्कि क्रिया रचना में भी दिखायी पड़ती है।

व्याकरणिक संरचना में एक और विशेष वृत्ति का उल्लेख समयोचित होगा, जिसे हम केवल भाषा द्वैत के सिद्धांत से ही अच्छी तरह समझ सकते हैं। यह आम धारणा है कि तमिल में न कर्मवाच्य है, न 'ज—' प्रकार के वाक्य। लेकिन वास्तव में तमिल में दोनों ही स्थितियाँ हैं। तमिल में कर्मवाच्य क्रिया प्रतिपादित (infinitive) में 'पटु' जोड़ने से बनती है। चोल्लप्-पटु-किरतु 'कहा जाता है'; रिप्पेर चेय्य-प्-पटुम् 'मरम्मत की जाती है' आदि

प्रयोग तमिल भाषी को सहज लगते हैं। ज—प्रकार के वाक्य अस्वतंत्र उपवाक्य के अंत में **ए या इल्ले ~ इल्लिया** (है न) आदि जोड़ने से बनते हैं, जिनका सूत्र निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

ए ~ इल्ले ~ इल्लिया + संयोजक

$$S\,(NP_1+VP)+S(NP_1+VP)\rightarrow S\,(VP)+$$

(**अंत** 'वह', **अप्पो** 'तब', **अंके** 'वहाँ' आदि) +

$$S(NP_1+VP)$$

इस द्विक (double based) रूपांतर में अस्वतंत्र उपवाक्य में उस इकाई का लोप (deletion) होता है, जो दोनों वाक्यों के सह-संकेतन (co-reference) का आधार हो (जो, जब आदि) हिंदी से तुलना करें तो द्विक रूपांतर के दोनों वाक्यों के आधार वाक्य (kernels) वही है जो हिंदी के हैं।

इस प्रकार दोनों वाक्य प्रकारों के तमिल में विद्यमान होने के बावजूद तमिल में उनकी उपस्थिति के बारे में शंका उठायी जाती है तो वास्तविक कारण यह है कि कर्मवाच्य केवल उच्च कोड में दिखायी पड़ता है और ज-प्रकार का वाक्य केवल निम्न कोड में। इनकी जगह क्रमशः निम्न कोड में कर्ता रहित कर्तृवाच्य का प्रयोग होता है और उच्च कोड में कृदंत विशेषण का। अगर तमिल भाषी निम्नकोड में उच्च कोड का उद्धरण दे तो अपनी भाषा में सहजता से कर्मवाच्य का प्रयोग करता है जैसे—

उच्च कोड : इंके रिप्पेर चेंय्तु तरप्पट्टुम्—यहाँ मरम्मत करके दी जाती है।

निम्नकोड : इंके रिप्पेर चेंन्यु तरांक" यहाँ मरम्मत करके देते हैं।

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निम्नकोड : | इंके | रिप्पेर | चेंय्तुतरप्टुम् | नु | बोडुं | पोट्टुक्के | अंके तां |
| | यहाँ | मरम्मत | की जाती है | ऐसा | बोर्ड | लगा है | वहीं |

(8) **उच्चारण** : भाषा द्वैत की स्थिति में दोनों रूपों में उच्चारण के अंतर को सामान्य रूप से दिखाना आसान नहीं है। क्योंकि दोनों की उच्चारण पद्धति कहीं बहुत मिलती है, तो कहीं बहुत अधिक भिन्न होती है। इस अंतर को स्पष्ट करने के लिए फ़र्गुसन ने दो प्रतिमान स्थापित किए हैं—

(i) उच्च तथा निम्न कोडों की स्वन-व्यवस्थाएँ कुल मिला कर एक स्वनिमिक संरचना के भीतर आ जाती हैं। इन में निम्नकोड की स्वन व्यवस्था ही आधारभूत है और उच्चकोड में पायी जाने वाली की भिन्नताओं को या तो हम उप व्यवस्था मान सकते हैं या एक समांतर व्यवस्था।

(ii) अगर 'शुद्ध' उच्च रूप में ऐसे स्वनिम हैं जो निम्नकोड में नहीं हैं, तो उच्चकोड के बोलचाल में उनकी जगह निम्नकोड के स्वनिम आते हैं। तत्सम में भी इसी तरह का वितरण देखा जा सकता है।

तमिल में भाषा द्वैत की स्थिति सबसे अधिक उसकी उच्चारण पद्धति में प्रकट होती है। व्याकरणिक व्यवस्था में द्वैत की अपेक्षा, जहाँ द्वैत केवल कुछ संदर्भों में ही पाया जाता है, उच्चारण का द्वैत इतना व्यापक है कि उच्च और निम्न दोनों कोडों की उच्चारण व्यवस्थाएँ समांतर चलती हैं। इन व्यवस्थाओं में अंतर की तीन प्रमुख दिशाएँ निम्न प्रकार से हैं—

(i) वैसे दोनों रूपों की स्वनिमक व्यवस्था एक ही है। दोनों में स्वनिमों और संस्वनों की संख्या और वितरण में अंतर नहीं है। उच्च का एक संभाव्य स्वनिम /र/ निम्न रूप में /त/ और /र/ में पुर्नवितरण हो जाती है।

| उच्च | निम्न | |
|---|---|---|
| एरु | एरु | 'चढ़ो' |
| मुररम्र | मुत्तम् | 'आँगन' |

लेकिन यह अंतर इस कारण आ पाया है कि संभाव्य स्वनिम /र/, जो दो अन्य द्रविड भाषाओं में लुप्त हो चुका है, उच्चकोड के कारण तमिल में टिका हुआ है, जबकि उसका कोई स्वनिक अस्तित्व नहीं रहा। फिर भी स्वनिक स्तर पर दोनों रूपों में वितरण की भिन्नता विशेष द्रष्टव्य है।

(ii) एक अन्य विशेपता शब्दांत /न/, /म/ के उच्चारण में संस्वनिक परिवर्तन की है। लेकिन इस परिवर्तन के कारण तमिल में एक नयी प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है—शब्दांत में अनुनासिकता का आगमन, जो उच्च कोड में कहीं नहीं है।

| उच्च | निम्न |
|---|---|
| उन् 'तुम्हारा' | औं |
| वरुकिरान् 'आता है' | वराँ |
| वरुकिरोम्'आते हैं' | वरों |
| पटम्र (पडम्) 'चित्र' | पडौं |
| चंकरन् (संगरन्) 'शंकर' | संगरँ |

इसी तरह की एक अन्य विशेषता है शब्दांत के संध्यक्षर (अइ) का मूल स्वर (ऐं) में परिवर्तन ।

| उच्च | निम्न |
|---|---|
| तलइ 'सिर' | तलै |
| कटइ 'दुकान' | कडै |
| तलयिल् 'सिर में' | तलैं लै |
| कटय्क्कु 'दुकान को' | कडैक्कु |

(iii) ध्वनि स्तर पर सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उक्ति (utterance) या उच्चारण क्रम (sequence) में ध्वनियों के परिवर्तन की है, जिसको नंबर (ii) के उदाहरणों में देख सकते हैं। हर वाक्य के उच्चारण में यह विशेषता दिखायी पड़ती है। और तमिल भाषी सहजता से दोनों में परिवृत्ति करता है। यह विभेद इतना सुदृढ़ और व्यापक है कि तमिल भाषी को हर पग पर—शिक्षण में, लेखन में, बड़ों के साथ औपचारिक संभाषण में अपनी स्थिति और आवश्यकता के अनुसार दोनों में से एक रूप का चयन करना पड़ता है। सबसे बड़ी कठिनाई व्याकरणिक अध्ययन में होती है, जहाँ दोनों रूप भिन्न-भिन्न विशेषण प्रस्तुत करते हैं, जैसे

वर्तमान कालिक क्रिया है 'आता है'

| उच्च कूट | वरु + किर् + | निम्न कूट | वर + |
|---|---|---|---|
| मैं – एन् | हम – ओम् | मैं – एं | हम – ओं |
| तुम – आय् | आप – ईर्कल् | तुम – ए | आप – गईं |
| वह (पु.) – आन् | वे (आदर)—आर् | वह (पु.) आं | वे–आन् + उंक |
| वह (स्त्री.)–आल् | वे (बहु.) आर + कल् | वह (स्त्री.) आ | वे–अल् + क |
| वह (प्राणी)–अतु | अवै–वरु + किन् + अन | वह (आदर)–आरु | वे–आंक उ |
| | | वह (प्राणी)–उतु | वे—उतुंक |

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि उच्चारण की यह भिन्नता भाषा की रूपिमिक विश्लेषण को भी प्रभावित करती है, जिस कारण दोनों के व्याकरणिक विश्लेषण में भी भिन्नता आ जाती है। साथ ही निम्न कोड में उच्चारण तथा व्याकरण दोनों में सरलता और एकरूपता की बात सामने आती है।

(9) **शब्दावली** : फर्गुसन के अनुसार दोनों कोडों की शब्दावली का बहुत बड़ा अंश समान होता है, लेकिन इनमें रूप तथा अर्थ की दृष्टि से अंतर हो सकता है। चूंकि उच्च कोड बोलने वालों के प्रयोग संदर्भ अधिक होते हैं और बोलचाल में इन संदर्भों पर बात नहीं होती, उच्च कोड में कई विषयों के पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जिनमें निम्न कोड में समान रूप नहीं मिलते। इसी तरह निम्नकोड के कुछ विशेष प्रयोग होते हैं, जिनके समान रूप उच्च कोड में नहीं होते जैसे गालियाँ, लड़ाई के शब्द, घरेलू जीवन के कुछ शब्द आदि।

लेकिन इस परिपूरक वितरण के अलावा भाषा-द्वैत में एक और स्थिति मिलती है जो बहुत रोचक है। कई शब्दों के दो रूप मिलते हैं—एक उच्च कोड का तथा एक निम्न कोड का। भाषा बोलने वाला कोड के प्रयोग के अनुसार शब्दों में चयन करता जाता है।

वैसे सभी भाषाओं में शब्दावली के प्रयोग के विशेष संदर्भ होते हैं और इन संदर्भों को मातृभाषा भाषी काफी दूर तक निश्चित कर सकता है। जैसे हिंदी में 'तशरीफ रखें, 'बैठो यार' भिन्न संदर्भों के प्रयोग हैं जो वक्ता और श्रोता के आपसी संबंधों के परिचायक हैं। तमिल में यह व्यवस्था तो है ही, फिर भी भाषाद्वैत का अपना प्रकार्य भी है। कुछ शब्द केवल उच्चकोड के हैं, कुछ केवल निम्न के।

| **उच्च कोड** | **निम्नकोड (स्थानिक)** | |
|---|---|---|
| मनैवी | सम्सारौं; पेंजादी | 'पत्नी' |
| अलइ | कुप्डु | 'बुलाना' |
| काण्पि, काट्टु | कामि, काट्टु | 'दिखा' |
| नुकर्, मुकर् | मोर् | 'सूंघना' |
| तिरुमणम्, विवाहम्, कल्याण्म् | कल्याणौं | 'विवाह' |

उच्च और निम्न कोडों में शब्दावली के प्रयोग की विशेषता के विश्लेषण की समीचीनता को देखना चाहें, तो अनुसंधान कर्ता एक प्रयोग कर सकते हैं

चूंकि स्तर भेद में शब्द के साथ-साथ उच्चारण भी जाता है, उच्च या निम्न शब्दों में दूसरे रूप के स्वनिक गुणों का आरोप करें तो उस शब्द के स्वीकार होने या न होने की खोज की जा सकती है यानी तमिल भाषी को 'काण्पिचकवु' या 'तिरुमणी' 'कामियुंगल्' आदि शब्द अपरिचित न लगें सही, चौंकाएगें जरूर।

इस कारण जो शब्द सिर्फ उच्च या निम्न कोड के हैं, उनके उच्चारण की व्यवस्था स्थानापन्न नहीं हो सकती। इसी के आधार पर उच्च, निम्न कोडों का अंतर आसानी से पहचाना जा सकता है।

**सिर्फ उच्च कोड के शब्द**—मर्रुम् (*मत्तुं)'अन्य',मिकङ(*मिकैं), 'अन्युचित', वेण्डुकिरोम (*वेंड़ों) 'अनुरोध करते हैं', चालयि (*सालैंलैं) (शोध-शाला में), मगम (*मणौं)

**सिर्फ निम्न कोड के शब्द**—रौंम्ब (*निरंप) 'बहुत', अदुंग/अदुक (*अतुकल्) इससे यह अर्थ निकलता है कि एक कोड के विशेष शब्द दूसरे में नहीं आ सकते, क्योंकि प्रयोग के लिए स्वनिक व्यवस्था में जो परिवर्तन आवश्यक है वह कोड में अंतर के कारण नहीं हो सकता।

उच्च और निम्न कोडों में शब्द प्रयोग की दृष्टि से एक और प्रवृत्ति उल्लेखनीय है। जहाँ उच्च कोड में पर्यायों की बहुलता तथा पर्यायों में अर्थ के वितरण की विशिष्टता दिखायी पड़ती है, वहाँ निम्न कूट में कई उच्च कूट के पर्याय प्रयोग में नहीं आते। यद्यपि हिंदी आदि भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। (बोलचाल के शब्द—'कमल' के लिए औपचारिक या साहित्यिक भाषा में कई पर्याय हैं—कमल, जलज, पंकज, अंबोरुह आदि)। भाषा द्वैत में यह केवल विभिन्न पर्याय ढूंढने तक सीमित नहीं है, बल्कि इस का अर्थ संरचना में भी प्रभाव पड़ता है। इस बात को दो उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है—

| उच्च कोड | निम्न कोड |
|---|---|
| 1. पुस्तकम् : भौतिक रूप में दृष्ट 'पुस्तक' | पुस्तकम् (दोनों अर्थों में) |
| नल् लेखक की सृष्टि जो पुस्तकाकार प्रकाशित है | |

2. पणम् 'पैसा, रुपया पैसा' — पणम् (दोनों अर्थों में)
चे ल्वम् 'धन, संपत्ति'

उच्च कोड में अर्थ भेद की दृष्टि से जो शब्द चयन होता है, वह निम्न में नहीं। दूसरी तरफ 'नल्' और 'चे ल्वम्' निम्न भी कभी प्रयुक्त नहीं होते। कहा जा सकता है कि निम्न में अर्थ संरचना की दृष्टि से भी सरलता लाने की प्रवृत्ति रहती है।

भाषा द्वैत की एक और स्थिति, जिसके बारे में अभी कोई विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है, वर्तनी तथा भाषा के लिखितरूप, लेखन के क्षेत्र में होती है। अध्ययन के अभाव का एक कारण शायद यही है कि प्रायः लेखन उच्च में ही होता है, जो कि अपेक्षतया मानक होता है। जहाँ तक तमिल का संबंध है, तमिल के क्षेत्रीय निम्न रूपों के लिखने की प्रवृत्ति तो दिखायी पड़ती है, लेकिन अभी क्षेत्रीय रूपों का मानकीकरण नहीं हो पाया है। अगर अनौपचारिक लेखन (व्यक्तिगत पत्र आदि) के नमूने एकत्रित किये जाएँ, तो लेखन में द्वैत की स्थिति पर प्रकाश डाला जा सकता है।

फ़र्गुसन के अनुसार भाषा द्वैत अपेक्षतया स्थायी भाषिक स्थित है, जिसमें भाषा की प्रमुख बोलियों के अतिरिक्त (जिनमें एक मानक तथा कई क्षेत्रीय मानक रूप भी सम्मिलित हैं) एक विस्तृत, अतिव्यवस्थित (और प्रायः व्याकरण की दृष्टि से जटिल) तथा आरोपित रूप होता है जो उस से पहले के युग या किसी अन्य भाषा समुदाय की विपुल, समादृत साहित्यिक संपदा का वाहक बने, जिसे व्यक्ति औपचारिक शिक्षा के माध्यम से सीखे, और जो औपचारिक संदर्भों में और अधिकतर लेखन में प्रयुक्त हो, लेकिन समाज में किसी भी जगह सामान्य बातचीत में न व्यवहृत हो।

---

* DIGLOSSIA is a relatively stable language situation in which, in addition to the primary dialects of a language (which may include a standard or regional standards) there is a very divergent, highly codified (often grammatically more complex) superposed variety, the vehicle of a large and respected body of written literature, either of an earlier period or in another speech community, which is learned largely by formal education and is used for most written and formal spoken purposes but is not used by any sector of the community for ordinary conversation.

भाषा में परिवर्तनों को समझने की दृष्टि से भी भाषा द्वैत का सिद्धांत बहुत महत्वपूर्ण है। तेलुगु और बंगला के संदर्भ में देखा गया है कि अब बोलचाल का (निम्न) कोड साहित्य में प्रयुक्त होने लगा और उन भाषाओं को बोलने वाले बोलचाल के रूप को समान महत्व देते हैं। इस संदर्भ में भाषा बोलने वाले की अभिवृत्ति (attitude) महत्वपूर्ण आधार बनती है। जहाँ उच्च कोड के पक्षधर उसे अधिक वैज्ञानिक, तर्कसंगत, सुंदर और सक्षम समझते हैं, वहाँ दूसरी तरफ निम्नकोड के पक्षधर यह तर्क देते हैं, कि निम्नकोड ही चिंतन और शिक्षा का सही माध्यम बन सकता है। क्योंकि भाषाभाषी उसी को सहज रूप से अर्जित करते हैं और वही संप्रेषण का अधिक सशक्त माध्यम है। यद्यपि कई भाषा समुदायों में दो कोडों की उपस्थिति समस्या नहीं होती और व्यक्ति दोनों की परिपूरकता को सहज रूप में स्वीकार कर लेते हैं फिर भी तीन कारणों से निम्नकोड का महत्व घटा दिया जाता है। ये हैं— (क) शिक्षा का प्रसार (ख) विभिन्न निम्नकोडों के प्रयोक्ताओं में अधिक सक्रिय संप्रेषण, जो एक प्रकार से भाषा के मानकीकरण को आह्वान देता है और (ग) राष्ट्रीय भावना, जो एक सुव्यवस्थित, 'मानक राष्ट्र भाषा' की आवश्यकता पर बल देती है। इस तरह भाषा समुदायों में दोनों कोडों के प्रति जनता की अभिवृत्ति में अंतर के कारण भाषा में मानकीकरण की प्रवृत्ति और प्रक्रिया शुरू होती है और भाषा में अन्य कई परिवर्तनों को जन्म देती है।

जब ये प्रवृत्तियाँ प्रकट होती हैं तो भाषा की स्थिति में निम्नलिखित विकास शुरू होते हैं। एक तरफ, जहाँ उच्च कोड को अधिक महत्व नहीं दिया जाता, उच्च कोड अपना आधार खोने लगता है और अप्रयुक्त, पुरातन भाषा बन जाता है। उसके स्थान पर कोई एक निम्न कोड मानक भाषा का रूप धारण कर लेता है (जैसे बंगाली में), या मानक प्रादेशिक निम्न कोड भाषा का स्थान ले लेते हैं (जैसे लैटिन में फ्रेंच, इतालवी का विकास या संस्कृत से हिंदी, पंजाबी, गुजराती, बंगाली आदि का विकास)। दोनों स्थितियों में आगे से उच्च कोड प्रयुक्त नहीं होता, लेकिन वह आगे के मानक निम्न कोडों के लिए प्रभाव का स्रोत बनाता है दूसरी तरफ उच्च कोड के महत्व में अधिक वृद्धि होने लगती है और उसका प्रभाव निम्न कोडों पर इतना पड़ता है कि निम्न कोड अपना अस्तित्व खो देते हैं। इसका कारण यह होता है कि भाषा भाषी निम्न कोड को हेय समझते हैं और उसके संदर्भों में भी उच्च कोड का ही प्रयोग करते हैं।

उपर्युक्त दोनों ही स्थितियों में भाषा की द्वैतता की स्थिति अद्वैत की ओर बढ़ती है। इस प्रकार भाषा द्वैत भाषा के परिवर्तनों के साथ गहरे ढंग से जुड़ा हुआ है।

## संदर्भ ग्रंथ

Fergusson, C. A. 1959 : 'Diglossia' *Word* Vol. 15.

Hymes, D.H. 1964 : "Social structure and speech community" (Introduction in Hymes D. Ho, *Language in Culture & Society*)

Radhakrishan, B. 1971 : "Diglossia in Telugu," in Proced ings of the First All India Conference of Linguists, Poona.

Singh, Udaya Narayana 1974 : "Diglossia in Bengali-A study of attitudes". (Presented at the Fifth All India Conference of Linguists, Delhi.)

# सामाजिक स्तर भेद और हिंदी की सामाजिक शैलियाँ

—कृष्णकुमार गोस्वामी

भाषावैज्ञानिकों की प्राय: यह मान्यता रही है कि भाषा प्रतीकों की एक व्यवस्था है। अत: इस संबंध में उनके एक वर्ग ने एक ऐसे आदर्श व्याकरण की संकल्पना प्रस्तुत की है जो अपने में स्वायत्त है। उदाहरण के लिए, रूपांतरण व्याकरण सिद्धांत के प्रमुख चिंतक चाम्स्की ने यह संकल्पना दी है कि भाषा नितांत अमूर्त, सार्वभौमिक एवं समाज-निरपेक्ष नियमों की वह क्षमता है जिसे मानव अपनी मानसिक प्रक्रिया के भीतर सहज एवं स्वाभाविक रूप से समेटे रहता है। इनके मतानुसार समाज या परिस्थिति-सापेक्ष भाषा की विविध शैलियाँ या तो आदर्श प्रकृति के विकृत रूप हैं अथवा स्खलित उदाहरण। दूसरे शब्दों में, भाषा आदर्श रूप में एक ही है किंतु उससे संबद्ध शैलियाँ विभिन्न सामाजिक अथवा परिस्थितिजन्य उपकरणों से बाधित होकर विकृत या स्खलित रूप धारण कर लेती हैं जो भाषा की अमूर्त एवं सार्वभौमिक संकल्पना को समझने में न केवल असहायक हो जाती हैं वरन् उसके लिए बाधक भी हो सकती हैं।

सामान्य भाषा के संदर्भ में शैली का महत्व प्रारंभ से ही रहा है। कभी तो वह व्यक्तित्व के प्रकाशन के लिए स्वीकृत रही है और कभी अर्थ के अतिरंजित अर्थ को व्यक्त करने के लिए सहायक मानी गई है। इसीलिए भाषा वैज्ञानिकों का दूसरा वर्ग (लेबाव, फिशमन, गंपर्ज आदि) यह मानता रहा है कि भाषा शैली-मुक्त हो ही नहीं सकती क्योंकि वह अपने व्यक्त रूप में सदैव समाज एवं परिस्थिति संदर्भित होती है। इस प्रकार दूसरे वर्ग के कथनानुसार भाषा की मूल प्रकृति को समझने के लिए न केवल शैली की संकल्पना सहायक है अपितु वह एक अनिवार्य माध्यम भी है।

भाषाविज्ञान का यह दूसरा वर्ग समाजशास्त्र और भाषाविज्ञान के अंतस्संबंधों के आधार पर ऐसे नियमों की खोज में प्रवृत्त हुआ जो भाषा के

न केवल मानव मन की आंतरिक प्रकृति के संदर्भ में देखता है और न ही उसे केवल प्रयोजन सिद्धि तथा सामाजिक नियंत्रणों का प्रतिफलित रूप मानता है। वह यह मान कर चला है कि भाषा उस मानव मन की प्रतीकीकरण प्रक्रिया से जुड़ी है जो सामाजिक व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार में अपनी सिद्धि पाती है और उसका सामाजिक व्यवहार उन सामाजिक परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित होता है जो स्वयं अपने में विविध एवं विषमरूपीय होते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि भाषा भी अपने व्यक्त रूप में विविध एवं विषमरूपीय हो जाती है।

भाषा की इस विविधता से वक्ता का सामाजिक स्तर स्वयं दिखाई पड़ जाता है। जैसे (1) राम की माता जी का स्वर्गवास हो गया और (2) राम की माँ मर गई—व्याकरणिक दृष्टि से इन दोनों वाक्यों में अंतर है लेकिन इस अंतर से वक्ता की सामाजिक पृष्ठभूमि का संकेत मिल जाता है। मानव समाजों का आंतरिक भेद उनकी भाषाओं से प्रकट होता है क्योंकि हम एक भाषा भाषी समुदाय के सदस्य होने के नाते यह जानते हैं कि विभिन्न सामाजिक वर्ग विभिन्न रूप से अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं। यह सर्वमान्य बात है कि भौगोलिक सीमाओं से जिस प्रकार क्षेत्रीय बोलियों का निर्धारण किया जाता है और दो क्षेत्रीय बोलियों में जितनी भौगोलिक दूरी होगी, भाषा की दृष्टि से वह उतनी ही असमान होगी, इसी प्रकार भाषा के सामाजिक प्रभेद सामाजिक सीमाओं एवं सामाजिक अंतर से पहचाने जाएँगे। भाषा सामाजिक वर्ग, आयु, जाति, धर्म, शिक्षा आदि विभिन्न पहलुओं द्वारा नियंत्रित होती है। लेकिन यहाँ हमारा अध्ययन सामाजिक विभेदन अर्थात् सामाजिक स्तर भेद तक सीमित रहेगा। सामाजिक स्तर भेद से अभिप्राय समाज के भीतर वर्गों की अधिक्रमिक व्यवस्था से है (ट्रुजिल, 1974 : 35)। सामाजिक स्तर भेद सार्वभौमिक नहीं होता वरन् यह अपने समाज की व्यवस्था, परिस्थिति एवं वातावरण के अनुकूल होता है। भारत में शहरी और ग्राम्य क्षेत्रों के, शिक्षा और अशिक्षा के, तथा जाति भेद के कारण यह स्तर भेद देखा जा सकता है। कन्नड़ भाषा में तो यह अंतर ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण की भाषा शैलियों में भी पाया जाता है जबकि हिंदी में शिक्षा और शहरी एवं ग्राम्य जीवन से प्रभावित शैली-भेद दिखाई देते हैं। वास्तव में यह शैली-भेद को विभिन्न वर्गों की पृथकता के कारण ही मिलता है।

प्रश्न उठता है कि सामाजिक वर्ग का अर्थ क्या है ? वास्तव में सामाजिक वर्गों की न तो कोई स्पष्ट परिभाषा दी गई और न ही उनका कोई अस्तित्व (entity) निर्धारित किया गया है लेकिन यह बात अवश्य है कि सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं और सामाजिक गतिशीलता के आधार पर सामाजिक सोपान-क्रम में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इसलिए किसी विशेष शैली की चर्चा करना भाषा-वैज्ञानिक के लिए कठिन हो जाता है। समाज जितना विषम होगा, उसकी भाषा भी उतनी विषम होगी। यही कारण है कि भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा का अध्ययन भौगोलिक आधार पर करने के साथ-साथ सामाजिक आधार पर भी करना उपयुक्त समझा और उन्होंने भाषाविज्ञान तथा समाजविज्ञान के परस्पर सहयोग से भाषा तथा सामाजिक स्तर के बीच संबंध जोड़ने का प्रयास किया। क्षेत्रीय बोलियों और सामाजिक शैलियों का कोई पृथक अस्तित्व नहीं है वरन् वे एक दूसरे के साथ मिलकर सातत्यक हो जाते हैं।

इस बात की पुष्टि के लिए गंपर्ज ने हिंदी भाषी क्षेत्र उत्तर प्रदेश के एक जिले सहारनपुर के एक गाँव लालपुर के विभिन्न वर्गों की भाषा का अध्ययन किया: गंपर्ज (अनवर एस. दिल की पुस्तक में 1971 : 25-46)। इस गाँव में ब्राह्मण, राजपूत, वैश्य, वर्ण संकर, मुसलमान, चमार, भंगी, जुलाहा आदि विभिन्न वर्ग रहते हैं जिनकी भाषा में कुछ न कुछ विविधता पायी गई है। इस अध्ययन से गंपर्ज ने यह निष्कर्ष निकाला कि भाषायी विविधता सामाजिक वर्गीकरण से स्पष्ट होती है न कि भौगोलिक वर्गीकरण से, क्योंकि गाँव के विभिन्न खंडों में रहने वाले एवं जाति के लोग एक ही भाषा बोलते पाये गए हैं। भाषायी वर्गीकरण और जाति स्तर के बीच कुछ न कुछ सह-संबंध होता है। तथापि, उच्च और मध्यम जातियों की भाषा में कोई विशेष अंतर गंपर्ज को दिखाई नहीं दिया। इस प्रकार के अन्य अध्ययन करने की आवश्यकता है जिनमें सूक्ष्मता के स्तर-भेद कर विभिन्न वर्गों का अध्ययन किया जा सके।

वस्तुतः हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र के शहरी और ग्राम्य, शिक्षित एवं अशिक्षित, उच्च एवं निम्न वर्ग के बीच पायी जाने वाली विविधता का अध्ययन मुख्यतः तीन स्तरों पर (ग्राम्य बोली, क्षेत्रीय बोली और क्षेत्रीय भाषा) किया जा सकता है : गंपर्ज (अनवर एस. दिल की पुस्तक में 1971 : 50)। ये तीनों

स्तर संप्रेषण के अपने-अपने रूप के अनुकूल हैं और सामाजिक प्रणाली में इनके विभिन्न प्रकार्य हैं। स्थानीय या ग्रामीण स्तर पर बोली जाने वाली भाषाएँ भारतीय आर्य भाषा के परस्पर बोधगम्य प्रभेदों की शृंखला का अंश है। भौगोलिक दृष्टि से ये एक गाँव से दूसरे तक और सामाजिक दृष्टि से एक जाति से दूसरी जाति तक बदलती रहती है।

इस शृंखला के बाद क्षेत्रीय बोलियाँ आती हैं जो स्थानिकता से हट कर कुछ विस्तृत क्षेत्र में समझी एवं बोली जाती हैं। ये किसी छोटे नगर के व्यापार स्थल या बाजार में बोली जाती हैं जहाँ ग्रामीण लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जाते हैं। यहाँ ग्रामीण लोग अंतर्वर्गीय अथवा अंतर्गाम्य संचार के लिए दूसरी भाषा-शैली के रूप में इनका प्रयोग करते हैं। मुसलमानी राज्य में बहुत सी क्षेत्रीय बोलियों की साहित्यिक महत्ता भक्ति-परक और दरबारी कविता के रूप में थी। ये साहित्यिक रूप सामाजिक दृष्टि से सीमित थे और आधुनिक मानक रूप से भिन्न थे। उस समय की किसी एक प्रतिष्ठित शैली का प्रमाण नहीं मिलता जो सभी प्रकार के लेखन और औपचारिक वार्ता में हो बल्कि उस समय कई विशिष्ट शैलियाँ थीं जिनका प्रयोग विशेष प्रयोजन के लिए हुआ करता था। प्रत्येक साहित्यिक शैली किसी वर्ग विशेष में प्रयुक्त होती थी और धार्मिक, प्रचारक, साधु-संत आदि इनका प्रयोग करते थे और ये मूल बोली से अलग होती थीं। ब्रज प्रदेश में कृष्ण संप्रदाय के कवि ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे और अवध प्रदेश में राम संप्रदाय में अवधी भाषा का प्रयोग होता था। इस प्रकार की साहित्यिक गतिविधियाँ अब प्रायः लुप्त हो रही हैं और अपने पूर्व सामाजिक महत्व को खो रही हैं, हालांकि हिंदी की ये क्षेत्रीय बोलियाँ अर्थात् अवधी, ब्रजभाषा, मैथिली, राजस्थानी आदि भारत की प्रमुख भाषाओं के रूप में मानी जाती हैं।

तीसरा स्तर हिंदी का मानक रूप है जैसे हिंदुस्तानी या हिंदी-उर्दू का सामूहिक नाम दिया गया है। ये विविधताएँ स्थानीय और क्षेत्रीय बोलियों से ऊपर हैं। यह वास्तव में शहरी क्षेत्रों में बोली जाती हैं और अधिसंख्य लोगों के लिए यह दूसरी या तीसरी भाषा शैली के रूप में बोली जाती हैं। वास्तव में हिंदुस्तानी मुसलमान काल में व्यापार भाषा के रूप में प्रस्फुटित हुई और बाद में इसे लोक भाषा (Lingua franca) का पद मिला। सौ

वर्षों के बाद कई साहित्यिक शैलियों का जन्म हुआ जिनमें खड़ी बोली, रेख्ता, दक्खिनी आदि कई रूप आये। इस काल में ये शैलियाँ क्षेत्रीय बोलियों के रूप में पनपीं। बाद में ये शैलियाँ विकसित होती गईं और एक समुदाय अरबी-फारसी के शब्दों को मिलाकर उर्दू शैली का प्रयोग करने लगा और दूसरा समुदाय संस्कृत-मिश्रित हिंदी शैली का प्रयोग करने लगा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नागरीकरण के कारण हिंदुस्तानी भाषा भाषी समुदाय में वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त अब इनका कुछ सामाजिक परिस्थितियों में या सामाजिक दृष्टि से ऊँचे लोगों में प्रयोग होने लगा है। जैसे जैसे स्तर बढ़ता जा रहा है क्षेत्रीय या स्थानीय बोलियों का स्थान परिवार तक ही सीमित होता जाता है। इस समय हिंदी-उर्दू की दो मुख्य शैलियाँ हैं—औपचारिक या साहित्यिक और अनौपचारिक या बोलचाल की। पहली का प्रयोग औपचारिक भाषण, लेखन कार्य में तथा स्कूलों-कालिजों में शिक्षण-कार्य के लिए होता है और दूसरी का प्रयोग अनौपचारिक अवसरों पर किया जाता है और अशिक्षित या ग्रामीण लोग बाहरी या शहरी लोगों के साथ भी इसका प्रयोग करते हैं। इस अनौपचारिक रूप को प्रायः हिंदुस्तानी की संज्ञा दी जाती है। भाषा के औपचारिक एवं अनौपचारिक रूपों की यह स्थिति एशिया की प्रायः सभी भाषाओं में मिलती है जिसे फ़र्गुसन ने 'डायग्लोसिया' की संज्ञा दी है (गिग्लियोली 1972 : 244-45) लेकिन हिंदी की (हिंदी-उर्दू की) स्थिति 'डायग्लोसिया' में न आकर 'ट्रायग्लोसिया' में आती है अर्थात् हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी तीनों की स्थिर प्रकृति या व्यवहार अलग रूप से दिखायी देते हैं (गोस्वामी, 1975 : 92)। हिंदी और उर्दू दोनों शैलियाँ क्रमशः संस्कृत बाधित और अरबी-फ़ारसी बाधित होने के साथ-साथ अलग-अलग लिपियों अर्थात् देवनागरी तथा अरबी-फारसी लिपियों में लिखी जाती हैं। इन दोनों में संस्कारजन्य विशिष्टताएँ गहराई के साथ देखी जा सकती हैं। एक वर्ग यदि 'ईश्वर, भगवान या नियति' कहेगा तो दूसरा वर्ग 'खुदा, अल्लाह या तकदीर' कहेगा। उर्दू वालों को 'नमस्ते या नमस्कार' के स्थान पर प्रायः 'आदाब' कहते हुए सुना जाता है। इस प्रकार हिंदी और उर्दू को प्रायः सांस्कृतिक आधार पर या समुदाय विशेष के बीच बोला जाता है और हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी प्रायः सामाजिक स्तर के अनुसार बोली जाती है। शिक्षित या विशिष्ट वर्ग के साथ हिंदी (अर्थात् हिंदी या उर्दू) में ही प्रायः बातचीत होती है और अशिक्षित या निम्न वर्ग के साथ मुख्यतः हिंदुस्तानी बोली जाती है। इसके अतिरिक्त, हिंदी भाषी समुदाय के भीतर प्रायः इसकी

हिंदुस्तानी शैली का प्रयोग होता है। मनोरंजन के लिए जो हिंदी फिल्में होती हैं उनमें प्रायः हिंदुस्तानी का प्रयोग होता है। व्यापार की भाषा के रूप में भी हिंदी कम और हिंदुस्तानी अधिक प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार बंबई, कलकत्ता जैसे हिंदीतर भाषी औद्योगिक क्षेत्रों में भी प्रायः हिंदुस्तानी बोली जाती है (हालांकि क्षेत्रीय प्रभाव के कारण इसके रूप में कुछ परिवर्तन होने से या बंबइया या कलकत्तिया हिंदी भी कहलाती है)। इस प्रकार हिंदी की ये तीन शैलियाँ—हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी हिंदी समाज में (कहीं-कहीं हिंदीतर समाज में भी) अपना स्थिर रूप धारण किये हुए हैं।

इधर हिंदी की शैलियों का विवेचन सामाजिक सांस्कृतिक धरातल पर और प्रयोजनमूलक दृष्टि से काफी हुआ है। केलकर ने कहा है कि भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से हिंदुस्तानी की (जिसे केलकर हिंदू कहते हैं) निर्धारित बोलियाँ नहीं हैं लेकिन इसकी शैलियाँ काफी हैं (केलकर, 1968 : 6-10)। उन्होंने मुख्यतः चार शैलियाँ मानी हैं : (1) उच्च औपचारिक (2) मध्य औपचारिक (3) मध्य अनौपचारिक और (4) निम्न अनौपचारिक या बाजारू हिंदुस्तानी। पहली शैली मुख्यतः साहित्यिक या शिक्षित वर्गों में या धार्मिक अनुष्ठानों के समय बोली जाती है। दूसरी लोकप्रिय मुद्रित साहित्य में, गीतों या फिल्मों में मिलती है। तीसरी भाषिक दृष्टि से मिश्रित वर्गों में या शैक्षिक वार्ता में या मध्य वर्गीय परिवारों या समाचार पत्रों में मिलती है और चौथी मुख्यतः निम्न वर्गों में बोली जाती है। अन्य शैलियाँ क्षेत्रीयता के प्रभाव के साथ इन्हीं में से निकलती हैं। इसीलिए केलकर ने हिंदी और उर्दू को उच्च औपचारिक शैली में क्षैतिज डायग्लोसिया में रेखांकित किया है।

केलकर के उपर्युक्त विवेचन पर आपत्ति उठाते हुए श्रीवास्तव ने शैलियों का अध्ययन दो स्तर पर माना (1) प्रयोजन मूलक स्तर पर और (2) सामाजिक सांस्कृतिक स्तर पर (श्रीवास्तव 1969, 920)। प्रयोजनमूलक स्तर पर भाषा के मुख्यतः तीन रूप होते हैं (1) प्रणालियों की प्रणाली के रूप में भाषा शैली (2) साहित्यिक शैली और (3) वाक् शैली, अर्थात् भाषा के ये विभिन्न रूप और कार्य भाषा-भाषी समुदाय के सामाजिक व्यवहार से निस्सृत होते हैं। जिन प्राचलों (parameters) पर ये तीनों वर्ग निर्धारित हैं वे पारगम्य भाषा द्वारा विषम रूप से निर्मित भाषिक इकाइयों के कई समरूप वर्गों को ढूँढने में सहायक हैं। औपचारिक और अनौपचारिक शैलियाँ प्रायः

गति-भेदों (tempo) से भ्रामक हो जाएँगी। कोई भी व्यक्ति विभिन्न गति भेदों में किसी भी शैली का प्रयोग कर सकता है।

दूसरी ओर सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर भाषा उन क्षेत्रों में बोली जाती है जो जाति, वर्ग, शिक्षा, लिंग आदि अभाषित पहलुओं से बाधित है। भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में इसकी सुसंगतता प्रयोजन मूलक श्रेणियों के साथ सहयोजित की जाती हैं। अतः केलकर द्वारा निर्धारित शैलियाँ वास्तव में दो विभिन्न प्राचलों पर आधारित हैं क्योंकि निम्न शैली निम्न वर्ग या अशिक्षित वर्ग से संबंधित है जबकि 'मध्य शैली' और उच्च शैली' दोनों शिक्षित वर्ग से जुड़ी हुई हैं और यह प्रयोजनमूलक है। किंतु 'उच्च शैली' में 'अनौपचारिक रूप' और निम्न शैली में 'औपचारिक रूप' प्रयोजन द्विभाजन (dichotomy) में निष्प्रभावी हो जाते हैं। यहीं पर श्रीवास्तव ने यह प्रश्न उठाया है कि हिंदुस्तानी प्रयोजनमूलक श्रेणी में कहाँ आती है? (श्रीवास्तव, 1970 : 189) जबकि यह कोड प्रणाली का प्रतिनिधित्व कर रही है। यदि हिंदुस्तानी को निम्न शैली में रखा जाए तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि हिंदुस्तानी का कोई औपचारिक प्रभेद नहीं है अथवा हिंदुस्तानी मुख्य रूप से निम्न वर्ग एवं अशिक्षित शहरी लोगों की भाषा है। इस प्रकार केलकर द्वारा प्रतिपादित सामाजिक सांस्कृतिक स्तरों और औपचारीकृत रूपों (formalized) से उन कार्य-क्षेत्रों की प्रकृति और प्रकार्य के संबंध में भ्रम पैदा होगा जो परस्पर जुड़े हुए होते हुए भी विशिष्ट हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर का निर्धारण उच्च और निम्न शैलियों से किया जाता है जो भाषिक संरचना की अपेक्षा सामाजिक प्रकार्य से अधिक बाधित हैं। प्रयोजनमूलक स्तर पर दो भिन्न प्रकार के कार्यक्षेत्र हैं—एक, मानक और अमानक शैली में और दूसरा, औपचारिक तथा अनौपचारिक शैली में। लेकिन श्रीवास्तव और दासवानी ने शैली की व्याख्या तीन विशेष प्रयोजनमूलक क्षेत्रों के आधार पर भी की है—(1) अंतःसंचालित (C R) (2) संपादित (Ed) और (3) तकनीकी (Tech)। सुव्यवस्थित शैली में क्षमता और व्यवहार में वक्ता सुधार करता रहता है, अतः यह संपादित शैली में आता है और तकनीकी क्षेत्र अधिकांशतः अभिव्यंजक संसाधनों और कोशीय समृद्धि के प्रयोग से बनता है। इन कार्यक्षेत्रों को वक्ता और श्रोता के विभिन्न अंतःव्यक्तिक संबंधों से देखा जा सकता है और ये औपचारिक एवं अनौपचारिक (बोलचाल की) दोनों शैलियों में प्रयुक्त होते हैं। अनौपचारिक शैली (बोलचाल की भाषा)

वक्ता-श्रोता के पारस्परिक प्रभाव के आधार पर सुविचारित या अविचारित शैलियों में भी बाँटी जा सकती है। (श्रीवास्तव और दास्वानी, 1970)
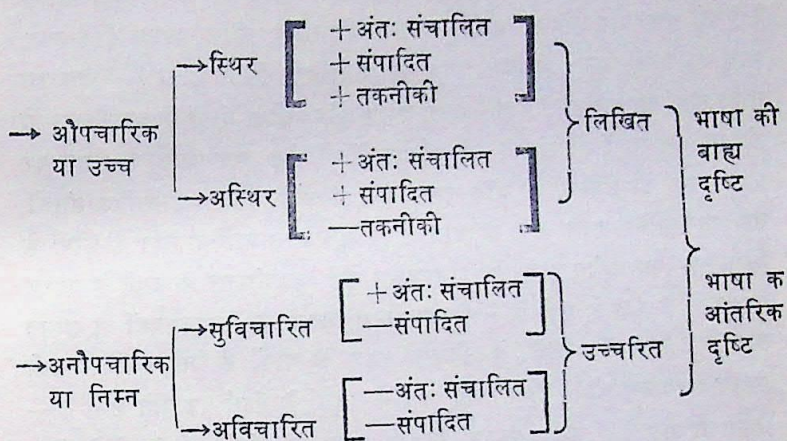
उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर केलकर द्वारा प्रतिपादित चारों शैलियाँ उच्च स्थिर, उच्च अस्थिर, निम्न सुविचारित और निम्न अविचारित शैलियों में आ जाती हैं। हिंदुस्तानी निम्न शैली या बोलचाल की में आती है।

भाषा की यह विविधता जिस शैली को जन्म देती है वह निश्चित ही उस अर्थ को भी ध्वनित करने में सक्षम होगी जिसकी प्रकृति मूलतः सामाजिक सांस्कृतिक हो या प्रयोजनमूलक। वास्तव में विकल्प से चुनी गई कोई भी शैलीमात्र वैकल्पिक नहीं होती बल्कि समाज-संदर्भित होती है। ब्राउन एवं गिलमैन ने (सिब्रओक, 1966 : 253-76) समभाव (आत्मीयता) और प्रभुत्व के आधार पर कुछ यूरोपीय भाषाओं के मध्यम पुरुष सर्वनामों का विभिन्न सामाजिक संदर्भों में अध्ययन किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि सर्वनामों का प्रयोग सामाजिक संबंधों की गत्यात्मक स्थिति द्वारा नियंत्रित है। इसके आधार पर किसी भी भाषा के सार्वनामिक प्रयोगों के सामाजिक संदर्भों का विश्लेषण संभव है। हिंदी भी इसका अपवाद नहीं है।

हिंदी में, 'आप' 'तुम', 'तू' तीनों मध्यम पुरुष सर्वनामों का प्रयोग सामाजिक स्तर, शैलीगत, जातिगत, आयु, पारिवारिक संबंधों आदि के आधार पर हो सकता है। 'आप' का प्रयोग एक वचन के रूप में 'तू' या 'तुम' की

अपेक्षा सम्मान, शिष्टाचार या औपचारिकता की दृष्टि से अधिक होता है। पारिवारिक संबंधों, व्यावसायिक स्तर, आयु आदि से प्रवर या वरिष्ठ व्यक्ति को 'आप' शब्द से संबोधित किया जाता है—'आप इस समय कहाँ जा रहे हैं ?' तो अवर या कनिष्ठ व्यक्ति को (पारिवारिक संबंध, व्यावहारिक स्तर, आयु आदि से) 'तुम' मध्यम पुरुष से संबोधित किया जाता है—'तुम इस समय कहाँ जा रहे हो ?' हाँ—यदि वक्ता और श्रोता दोनों में आत्मीयता हो तो इन सब स्तरों या संबंधों की मर्यादाओं को तोड़ कर 'आप' के स्थान पर प्रायः 'तुम' का प्रयोग भी होने लगता है। किंतु मित्रता, पारिवारिक संबंधों, वह व्यावसायिक स्तर आदि के आधार पर समान सामाजिक स्तर के लोगों के लिए 'तुम' का प्रयोग होता है। आजकल कुछ आत्मीयता आ जाने के कारण नवयुवकों के मुख से बड़ों के लिए या औपचारिकता का समवयस्कों या समान सामाजिक स्तर या अपने से निचले स्तर के लोगों के लिए (और पंजाबी प्रभाव के कारण भी) 'आप' का प्रयोग 'तुम' के पैटर्न पर होने लगा है—'आप जा रहे हो ?' इसी प्रकार निचले स्तर के लोगों या नौकरों के लिए प्रायः 'तुम' या 'तू' का प्रयोग होता है। 'तू' के प्रयोग में एक विलक्षण बात यह है कि इसका प्रयोग अत्यंत आत्मीय व्यक्ति तथा भगवान के लिए भी होता है—'ईश्वर तू ही सबका पालक है' आदि। इसको आरेखों में इस प्रकार दिया जाता है।
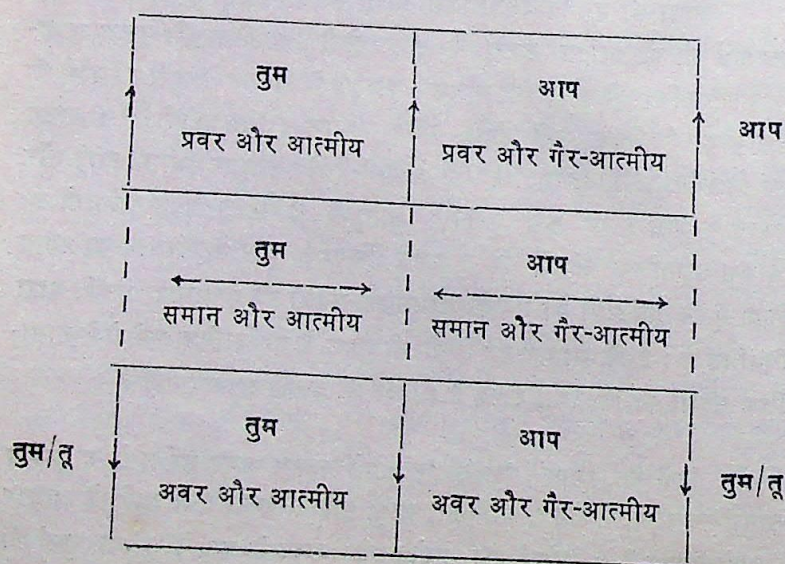
इस प्रकार वक्ता या श्रोता के अथवा दोनों के सामाजिक स्तर के साथ जहाँ भाषायी विविधता आ जाती है वहीं शैली सामाजिक शैली का रूप धारण कर लेती है ( प्राइड एवं होम्ज़ 1972 : 157)

सामाजिक दृष्टि से शैली को देखने से पता चलेगा कि यह सामाजिक स्तर, सामाजिक परिस्थिति और सामाजिक भूमिका के अंतर्गत किस प्रकार बदलती रहती है। मालिक-नौकर, अफ़सर-क्लर्क, पिता-पुत्र की भूमिका में भाषा में कितना परिवर्तन आ जाता है। उदाहरण के लिए, विद्यालय में एक अध्यापक को कई भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। अतः उसे अपने छात्र के साथ, प्रधानाध्यापक के साथ और अपने अध्यापक-सहकर्मियों के साथ बातचीत करते हुए विभिन्न प्रकार की शैली का प्रयोग करना पड़ता है, चाहे वह जाने अनजाने में क्यों न हो। ये सभी भूमिकाएँ एक प्रकार से शिक्षा प्रणाली की प्रयुक्ति (Register) में आ जाती हैं। किंतु उसी अध्यापक को अपने घर में अपने माता-पिता, अपनी पत्नी, अपने बच्चों आदि के साथ अलग भूमिका निभानी पड़ेगी जो शिक्षा प्रणाली की प्रयुक्ति से अलग ही होगी। यथा, यहाँ अध्यापक की विद्यालय और घर की भूमिका को क्रमशः 'क' और 'ख' के संकेत से बताया जा रहा है—

**विद्यालय में**

आप<br>
क——→प्रधानाध्यापक<br>
आप*<br>
तुम*<br>
क——→छात्र<br>
←——<br>
आप

---

*(1) गाँवों में प्राथमिक कक्षाओं के विद्यालयों के प्रधानाध्यापक अपने अध्यापकों को प्रायः 'तुम' से संबोधित करते हैं किंतु उच्चतर विद्यालयों के प्रधानाध्यापक 'आप' कहेंगे। शहरों के विद्यालयों में प्रधानाध्यापक मुख्यतः 'आप' से संबोधित करते हैं (2) गाँवों में अध्यापक छात्रों के लिए 'तू' का भी प्रयोग करते हैं जबकि शहरों के विद्यालयों में 'आप' का प्रयोग भी होने लगा है। (3) गाँवों के बच्चों के लिए 'तू' का भी प्रयोग होता है जबकि शहरों में प्रायः 'तुम' का प्रयोग होता है।

तुम**

क←———→सहकर्मी

घर में

अतः हम देखते हैं कि औपचारिक सामाजिक वातावरण में भी 'आप' का प्रयोग होता है और 'तुम' या 'तू' भावनाओं के रंजन का संवाहक भी हो सकता है। क्रोध, व्यंग्य या ऐसे मनोभावों में जो परस्पर दूरी को व्यक्त करें वहाँ 'आप' का प्रयोग होने लगता है। इसी बात में एक बात स्पष्ट करनी होगी कि यदि दोनों व्यक्तियों में 'तुम' की पृष्ठभूमि निहित है तो ऐसी अवस्था में 'आप' का प्रयोग होने लगता है और 'आप' की पृष्ठभूमि होगी तो 'तुम' का प्रयोग या कभी-कभी गाली का संकेत देने के लिए 'तू' का प्रयोग होने लगता है। बच्चे को सम्मान देने के लिए या उस पर व्यंग्य करने के

---

**औपचारिकता के संदर्भ में अध्यापक— सहकर्मियों में 'आप' का प्रयोग होने लगता है।

***माँ के लिए प्रायः 'तुम' का प्रयोग होता है।

****गहन आत्मीयता और भावावेश के क्षणों में 'तुम' और 'तू' में परिवर्तन हो जाता है।

लिए भी 'आप' का प्रयोग होता है। यथा, 'आप तो बहुत बड़े हो गए' या 'अजी, आप की बात ही क्या है ?' आदि।

इस प्रकार सामाजिक शैली किसी विशिष्ट परिस्थिति या स्थिति में वार्ता का एक ऐसा प्रकार है जो किसी विशेष शैक्षिक, जातीय, धार्मिक, आर्थिक आदि स्तर पर सामाजिक बंधनों के नियंत्रित रूप से स्वचालित होती है। कोई भी व्यक्ति अपने भाषा-प्रयोग की सामाजिक शैली से नहीं बचा हुआ है क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज के विभिन्न परिवेशों में जीवन बिताना पड़ता है। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति को चुनाव अभियान में सार्वजनिक मंच पर, धार्मिक स्थानों पर, मजदूर संघ में तथा अंग्रेजीदाँ विशिष्ट वर्ग में भाषण देना हो तो उसका भाषण क्रमश: इस प्रकार के वाक्यांश से प्रारंभ होगा—"भाइयो और बहनो', 'अध्यक्ष जी और अन्य साथियो' या 'साथियो, बंधुओ और देवियो' या 'बंधुओ और मातृ शक्ति (दूसरा प्राय: आर्य समाज के मंच पर) 'मजदूर भाइयो' या 'कामरेड' तथा 'लेडीज एंड जंटलमैन'। यहाँ शैली केवल वक्ता या श्रोता के व्यक्तित्व या सामाजिक स्तर से संबंधित है वरन् सामाजिक संदर्भ के अन्य पहलुओं से भी संबंधित है। अत: परिस्थिति, प्रयोजन ओर बौद्धिक स्तर के आधार पर भाषा के रूप बदलते हैं।

हिंदी की सर्वसमावेशी अभिरचना में कोड/शैली के परिवर्तन होते रहते हैं। कोई व्यापारी या मालिक अपने नौकरों को अथवा निचले स्तर के लोगों से वैसा व्यवहार नहीं करेगा। प्राय: देखा गया है कि कई दुकानदार या मालिक अपने किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति या किसी अधिकारी से बड़ी नम्रता एवं शिष्टता से बात करता हुआ दिखाई देगा। इसी तरह बाजार में यदि सूट-बूट पहने कोई संपन्न व्यक्ति दुकान में जाएगा तो दुकानदार उसके साथ जितनी शिष्टता से बात करेगा वह मैली-कुचैली धोती पहने किसी व्यक्ति या गरीब आदमी से उतनी शिष्टता से बात नहीं करेगा। दिल्ली की बसों में प्राय: देखा जा सकता है कि बस कंडक्टर सूट-बूट पहने किसी बाबू से बड़ी शिष्टता से कहेगा 'साहब, आपने टिकट ले ली' जबकि वह उसी समय मैली-कुचैली धोती पहने किसी मजदूर से कुछ खीझकर कहेगा 'क्यों भई, तुम्हें टिकट नहीं लेनी' कभी-कभी मजदूर सवारी भी इसी प्रकार की शैली का प्रयोग करती है (आजकल कुछ बस कंडक्टर दोनों प्रकार की सवारियों से

शिष्ट भाषा में बात नहीं करते हैं अर्थात् एक ही शैली में बात करते हैं।) दोनों में कथ्य एक ही है लेकिन शैली अलग-अलग। इस सामाजिक स्तर को चित्र-त्रय द्वारा समझाया जा सकता है—
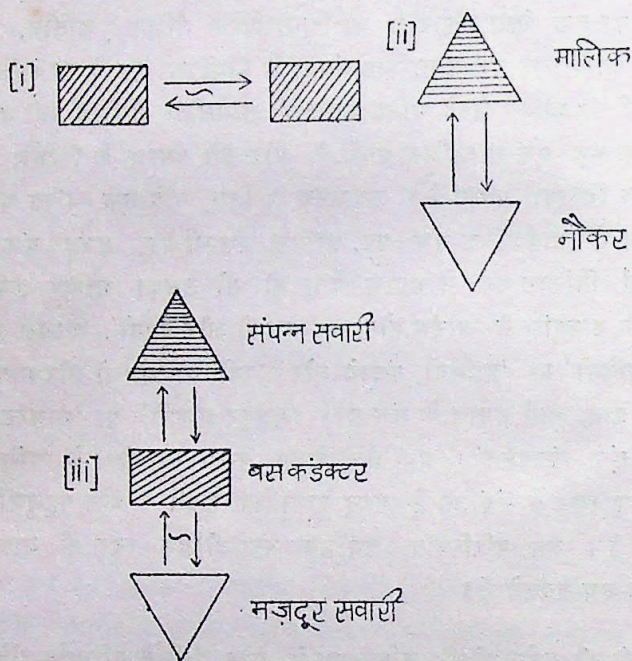
इन तीनों चित्रों में तीन विभिन्न सामाजिक स्तर हैं। चित्र (i) में समान स्तर या मित्रों की भाषा का रूप मिलता है (ii) में मालिक और नौकर के संबंधों में भाषा-शैली दिखाई गई है। और चित्र (iii) में तीनों एक दूसरे से अपरिचित व्यक्ति हैं और संपन्न सवारी तथा मजदूर सवारी बस कंडक्टर के लिए एक ही स्तर के समझे जाने वाले चाहिए किंतु उनके सामाजिक स्तर अलग होने से कंडक्टर की भाषा दोनों के लिए अलग रूप अपनाती हुई चलती है।

यह भी संभव है कि एक भाषा में बोलते हुए उसी संदर्भ में दूसरी भाषा बोल देते हैं और फिर उसी भाषा पर लौट आते हैं अर्थात् एक ही समय में एक ही व्यक्ति दो या दो से अधिक शैलियों का प्रयोग कर सकता है। उदाहरण के लिए एक अधिकारी के घर पर उसका कोई उच्चाधिकारी आया हुआ हो और उसके साथ उसका मित्र भी बैठा हुआ हो और वह दोनों से

बात करते-करते अपने नौकर को कोई आदेश या कोई संदेश देता है, उस समय वह निम्न अधिकारी, मित्र और मालिक की भूमिका निभा रहा है। अतः इस समय इन विभिन्न व्यक्तियों से बात करते हुए उसकी भाषा में कोड-परिवर्तन (Code-Switching) होता रहेगा।
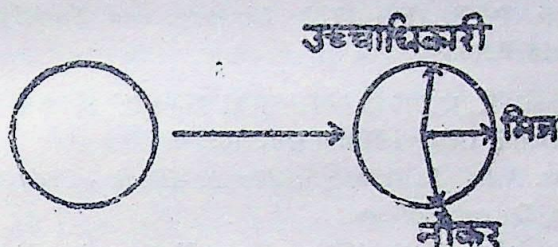
इसके अतिरिक्त कोड-परिवर्तन वहाँ भी आ जाता है जहाँ दो मित्र आपस में अनौपचारिक रूप से बात कर रहे हों और उस वार्तालाप में कोई ऐसा संदर्भ आ जाए जो सामान्य बोलचाल की भाषा से हट कर किसी दूसरी शैली अथवा भाषा में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ, अनौपचारिक रूप से बात करते हुए यदि विज्ञान, दर्शन या राजनीति पर कोई गंभीर चर्चा छिड़ जाए तो उस समय उसकी भाषा की प्रकृति उच्च शैली (अर्थात् संस्कृत-निष्ठ या अंग्रेजी-मिश्रित या किसी अन्य रूप) में बदल जाएगी। दूसरे शब्दों में, उन दोनों मित्रों की शैली में पहले जो अनौपचारिकता थी, उसमें अब औपचारिकता के पुट आ जाएँगे।

अंत में हम कह सकते हैं कि भाषा जीवन के सभी पक्षों एवं अनुभवों से संबंधित रहती है। वह किसी संकल्पनात्मक संप्रेषण के लिए नहीं होती वरन् पूरे समाज को अपने साथ लेकर चलती है। इसमें अंतः वैयक्तिक संबंध तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य, सायास या अनायास रूप में, समाहित रहते हैं। यह परस्पर संप्रेषण का एक ऐसा उपादान है जिसकी सहायता से सामाजिक प्राणी विशेष परिस्थिति तथा विशिष्ट प्रयोजन में इसका प्रयोग करता है और वह प्रयोग उसी संदर्भ एवं परिस्थिति में सटीक बैठता है।

## संदर्भ ग्रंथ

Bright, William (Ed.) 1971 : *Sociolinguistics*. the Hague, Mouton.

Dil, Anwar S. (Ed) 1971 : *Language in Social Group* (Essays by John Gumperz) California, Stanford University press.

Giglioli, P. P. (Ed) 1972 : *Language and Social Context*. Penguin Books.

Goswami, K. K., 1975 : "Hindi ki Samajik Sāiliyā, *Bhāshā*, New Delhi, Central Hindi Directorate.

Kelkar, Ashok R. 1968 : *Studies in Hindi, - Urdu*, Part 1, Poona, Deccan College.

Lyons, John (Ed.) 1972 : *New Horizon in Linguistics*, Penguin Books.

Pride J. B. & Holmes J (Ed.) 1972 : *Sociolinguistics*, Penguin Books.

Sebeok, T. A. (Ed.) 1966 : *Style in Language*, M. I. T. Press.

Srivastava, R. N. 1969 : Review of Kelkar's "Studies in Hindi Urdu, "*Language*, Vol. 45, No. 4.

—1970 : Rejoinder to Kelkar's reply to Srivastava's review of Studies in Hindi-Urdu, *Indian Linguistics*, Vol, 31, No. 4.

—& Daswani 1970 : "*A Search of Paramenters of Style*", Paper read in the Seminar on Dialectology, Patiala, in Sept. 1970 (unpublished)

Trudgill, Peter 1974 : *Sociolinguistics* : An Introduction, Penguin Books.

# पिजिन और क्रियोल : हिंदी के संदर्भ में[1]

—धर्मपाल गांधी

सस्यूर ने समकालिक और कालक्रमिक भाषा-विज्ञान में अंतर प्रस्तुत कर आधुनिक भाषा-विज्ञान में एक नई अंतर्दृष्टि प्रस्तुत की। इसी अंतर के परिणाम स्वरूप बोलचाल की भाषाओं के विश्लेषण के प्रति भाषा-वैज्ञानिक जागरूक हुए। परिणाम-स्वरूप, भाषा को विभिन्न सामाजिक संदर्भों में परिभाषित और वर्गीकृत करने, संस्कृतियों के भाषायी आदान-प्रदान की स्थिति में संप्रेषण की समस्याओं, भाषायी संपर्क की स्थिति में संप्रेषण की प्रक्रिया की प्रकृति आदि का विश्लेषण करने का प्रयास किया। विचार-विमर्श का यह क्षेत्र, भाषा-बोली के अंतःसंबंधों की सीमा-रेखा को पार करते हुए उन भाषा-रूपों की ओर भी बढ़ा जिन्हें पुरानी परिभाषा के अनुसार भाषा की संज्ञा देना उचित नहीं जान पड़ता।

आज भाषा पर काम करने वाले अधिकारी विद्वान यह मानकर चलने लगे हैं कि केवल शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भाषा अध्ययन को यथार्थ-परक नहीं बनाया जा सकता। यथार्थ-दृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि हम भाषा को सामाजिक-यथार्थ के रूप में देखें। इसी सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि के अनुसार भाषा एक तरफ अपनी प्रकृति में ही विषम रूप है (क्योंकि विभिन्न प्रयोजनों के संदर्भ में उसमें अनिवार्यतः शैली-भेद देखे जाते हैं।) तो दूसरी ओर यह भी संभव है कि एक भाषासमुदाय न केवल इन विभिन्न शैली-भेदों के साथ केवल एक ही भाषा का ही प्रयोग करे अपितु उसके भाषायी कोश में एक से अधिक भाषाएँ काम कर रही हों। एक और भी स्थिति इस समस्या को जटिल बनाती है—जब कोइ क्षेत्र बहु भाषा-भाषी हो तो यह भी संभव है कि दो भाषाओं की क्षेत्रीय सीमा पर एक ऐसी मिश्रित भाषा दिखायी दे जो इन दोनों भाषा क्षेत्रों के केंद्र में बोले जाने वाले मानक रूप से भिन्न हो। ऊपर कही गई तीनों स्थितियों में स्वाभाविक है कि भाषा समुदाय के सदस्य अपने सामाजिक आचरण में विभिन्न समयों पर विभिन्न भाषा-शैली का

प्रयोग करते हों और अपने भीतर भाषा-शैली-परिवर्तन (कोड स्वीचिंग) की इस प्रकार क्षमता रखते हों कि वह उनके लिए सहज और सामान्य व्यवहार के रूप में दिखाई पड़े।

इन स्थितियों में एक शैली अथवा भाषा का दूसरी शैली अथवा भाषा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अगर समाज एक है और वह बहु-भाषा-भाषी[2] है तो यह उसकी भाषायी प्रकृति के रूप में ही होगा कि एक शैली या भाषा की व्याकरणिक संरचना अथवा शब्द-कोश दूसरी शैली अथवा भाषा की व्याकरणिक संरचना और कोश को संक्रमित करे। इधर ऐसा देखा गया है कि भाषा संप्रेषण की यह स्थिति मात्र आगत प्रक्रिया (बॉरोइंग प्रोसेस) ही नहीं है बल्कि वह भाषाओं में गुणात्मक परिवर्तन करने में भी सक्षम है। वस्तुतः यह गुणात्मक परिवर्तन दो भाषाओं या शैलियों के संपर्क में आने के परिणाम स्वरूप हुई संक्रमण प्रक्रिया (डिफ़्यूजन) का महत्त्वपूर्ण परिणाम है। यह गुणात्मक परिवर्तन दो भाषाओं के संपर्क तक ही सीमित नहीं होता अपितु एक ही भाषा की दो बोलियों, उसके विभिन्न शैलीगत भेदों यथा—उच्च एवं निम्न में भी दृष्टिगत होता है।

ऐसी प्रक्रिया की परिणिति दो भाषायी स्थितियों में होती है जिन्हें भाषा-विदों ने 'पिजन'[3] और क्रियोल कहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार इन दोनों का अंतर गुणात्मक न होकर परिणाम परक होता है। ऊपर से देखने पर इन्हें किसी भाषा की संज्ञा देना अनुचित लग सकता है।[4] कई विद्वानों ने तो इन भाषा-रूपों को भाषा मानने से भी इंकार किया है। परिणामतः इनको—विशेषकर पिजन को—अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया गया है जो उसे 'भाषा' न मानने की स्पष्ट रूप से स्वीकारोक्तियाँ हैं। किसी ने इसे 'संक्षिप्त भाषा' (रिड्यूस्ड लैंग्वेज) की संज्ञा दी है तो किसी ने 'मिश्रित भाषा' (मिक्स्ड लैंग्वेज) की। किसी ने इसे भाषा का 'अपभ्रष्ट रूप' (करप्शन) कहा है तो किसी ने 'न्यूनतम व्याकरण' (मिनिमम ग्रामर)।

स्वभावतः अनेक प्रश्न उठते हैं—'पिजन' क्या है? वह संक्षिप्त भाषा क्यों और कैसे है? उसे भाषा का अपभ्रष्ट रूप कहना कहाँ तक उचित है? और फिर 'पिजन' और 'क्रियोल' में क्या अंतर है? क्या इनको 'भाषा' माना जाए? यदि हाँ, तो क्या इनमें किसी 'सामान्य भाषा' की तरह संरचना होती है?[5] आदि, इन्हीं प्रश्नों के साथ ये भी प्रश्न जुड़े हैं कि क्या हिंदी का कोई ऐसा रूप एवं संदर्भ है जिसे पिजन कहा जा सके? यदि हाँ, तो उसके

कौन-से ऐसे भाषा-वैज्ञानिक तथा समाज-सांस्कृतिक अभिलक्षण हैं जो उसे भाषा के अन्य रूपों से अलग करते हैं ? तथा क्या ये रूप पिजन की प्रक्रिया में हैं या स्थिरता को प्राप्त कर क्रियोल बन चुके हैं ?

इन सब प्रश्नों के उत्तर, गत कई वर्षों में अनेक भाषा-वैज्ञानिकों ने देने का प्रयास किया है। इस विषय की सैद्धांतिक स्तर पर चर्चा करने वालों में ब्लूमफ़ील्ड[6], राबर्ट ए. हॉल[7], समारिन[8], हाइम्ज[9] आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार पिजन वह भाषा है जिसकी संरचना और शब्द-कोश आश्चर्यजनक रूप से सरलीकृत और संक्षिप्त हो गए हैं और जो संप्रेषणीयता के माध्यम के रूप में वक्ता और श्रोता—किसी की भी मातृभाषा के रूप में सिद्ध नहीं रहती।

पिजन जिस संक्रमण प्रक्रिया से उत्पन्न होती है उसे हम सामान्यतः हर भाषा में एक व्यापक प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं। मान लीजिए दो व्यक्ति हैं—एक श्रोता, दूसरा वक्ता। एक मालिक है और दूसरा मज़दूर। जब वे आपस में बातचीत करते हैं तो उनकी भाषा निश्चित रूप से वह नहीं होती जो वे भाषायी तथा सामाजिक दृष्टि से अपने समान स्तर के लोगों से बात करते समय प्रयोग करते हैं (क्योंकि ऐसी स्थिति में उनके सामने मुख्य समस्या संप्रेषण की होती है न कि भाषा की शुद्धता की)। अत: वे अपनी भाषा को बोधगम्य बनाने की दृष्टि से एक दूसरे के लिए अपनी भाषा को आसान बनाने की कोशिश करते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पिजन दो भाषाओं के संपर्क से उद्‌भूत वे भाषाएँ हैं जो दो भाषिक समुदायों में परस्पर विनिमय की आवश्यकता को लेकर उत्पन्न होती हैं। एक ओर भाषायी स्तर भिन्न होने के कारण तथा दूसरी ओर विचार-विनिमय की प्रबलतम आवश्यकता के कारण दोनों अपनी-अपनी भाषाओं को व्याकरणिक संरचना की शुद्धता के प्रति दुराग्रह त्याग कर पारस्परिक बोधगम्यता (म्यूचुअल इंटेलिजिबिलिटी) के लिए जिस भाषा को जन्म देते हैं उसकी संरचना उनकी अपनी मूल भाषाओं की संरचना से कहीं अधिक सरल और संक्षिप्त होती है। भाषा के इसी रूप को ही 'पिजन' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

पिजन का जन्म संप्रेषणीयता की आवश्यकता के कारण होता है और चूँकि संप्रेषणीयता की आवश्यकता एक निश्चित व्यवहार क्षेत्र तक ही सीमित रहती है अतः ये किसी की भी मातृभाषा बनने में असमर्थ होती है। और जब

तक ये उसकी संभावना से युक्त रहती हैं तब तक इनका व्यवहार एक सीमित एवं व्यावहारिक आवश्यकता को लेकर बँधा होता है। अतः इनमें न तो सांस्कृतिक संस्कार आता है और न ये दूसरों के लिए औपचारिक प्रशिक्षण का साधन ही बनती है।

सरलता और संक्षिप्तता का प्रश्न उठाते हुए विद्वानों ने इनमें अंतर दिखलाने का प्रयत्न किया है। संक्षिप्तता की संकल्पना को सार्थक इकाइयों के बीच के प्रभेदक उपलक्षणों के लोप से जोड़ा है जबकि उनके मत में सरलीकरण की प्रक्रिया को उन विकल्पों के लोप से संबंधित किया है जो अपनी प्रकृति में व्याकरणिक स्तर पर सार्थक और प्रभेदक सिद्ध नहीं रहतीं। उदाहरण के लिए पूर्वी भारत-ईरानी[10] भाषाओं में प्राप्त प्रथम पुरुष के एकवचन और बहुवचन रूपों के सार्थक अंतर का लोप होकर एक रूप हो जाना संक्षिप्तीकरण का उदाहरण माना जाएगा जबकि पर्यायवाची शब्दों अथवा वाक्यों के विकल्पों में से किसी एक का चयन और अन्य का लोप सरलीकरण की प्रक्रिया मानी जाएगी।

भाषिक संरचना के किसी पक्ष का संक्षेपीकरण अथवा सरलीकरण पिजन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं लेकिन अगर दो भाषाओं के अभिसरण (कनवर्जेन्स) के व्यापक संदर्भ में 'पिजन' की बात उठाई जाए तब यह आवश्यक नहीं कि भाषिक संरचनाओं का संक्षेपीकरण हो ही। समारिन के अनुसार इसी आधार पर पिजन के दो रूप[11] निश्चित किये जा सकते हैं—एक पिजन रूप (सेलियेनट्ट) वह है जिसमें हम आगत प्रक्रिया का बहुलता के साथ प्रयोग पाते हैं जबकि पिजन का दूसरा रूप (सबस्टैंटिव) वह जहाँ सरलीकरण एवं संक्षिप्तीकरण प्रक्रिया का प्रयुक्त पाते हैं। इन दो पिजन रूपों का भेद सैद्धांतिक स्तर पर समझने में सहज है लेकिन यह संभव है (और जैसा कि हम आगे मराठी-हिंदी के संदर्भ में देखेंगे) कि एक पिजन रूप में ये दोनों प्रक्रियाएँ समान महत्व के साथ कार्य करती हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'सरलता' एवं 'संक्षिप्तता' की प्रक्रिया से उद्भूत भाषा रूप को ही 'पिजन' की संज्ञा प्रदान की जाती है, प्राप्त करने की प्रक्रिया की नहीं। प्रक्रिया की स्थिति को 'पिजनीकरण' (पिजनाइजेशन) कहा जाता है।

इसी बात को इस प्रकार से भी समझा जा सकता है। मान लीजिए एक बहुभाषा-भाषी क्षेत्र[12] है जिनमें एक समुदाय की मातृभाषा 'क' है और

दूसरे की 'ख'। और यह भी कल्पना कीजिए कि 'क' मातृभाषा वाले व्यक्ति में 'ख' भाषा की कुछ दक्षता है और 'ख' मातृभाषा वाले वर्ग के सदस्यों में 'क' की। इनके वार्तालाप के विश्लेषण करने पर यह पाया जाता है कि जो भाषा इनके बीच में संप्रेषण के लिए प्रयुक्त होती है वह न तो पूरी तरह 'क' के मानक व्याकरण के अनुरूप होती है और न ही 'ख' के। दोनों की भाषाएँ 'क' और 'ख'—संपर्क में आने के फलस्वरूप संप्रेषणीयता की सुविधा के लिए अपने व्याकरण को सरलीकृत करती पाई जाती हैं। इनके अलावा पर्यायवाची शब्दों[13] का भी अध्याहार करते हुए वे कुछ सीमित शब्दावली तक अपने को परिसीमित करती चलती हैं। इस प्रकार उत्पन्न हुई नई भाषा को 'पिजिन' की संज्ञा दी जा सकती है। इस सारी प्रक्रिया को नीचे के चित्र से समझा जा जा सकता है—

भाषा 'क'<br>+<br>भाषा 'ख' } 'क' पिजनीकृत 'ख'

अर्थात्

हिंदी<br>+<br>मराठी } हिंदी पिजनीकृत मराठी

(ऊपर दी गई स्थिति में हिंदी आधार भाषा[14] है। मराठी के संपर्क में आने के कारण मराठी-हिंदी रूप में स्वीकृत होती है।)

इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट होता है कि पिजन को शुद्ध रूप में मिश्रित भाषा कहना गलत है क्योंकि यह दो भाषाओं के यांत्रिक मिश्रण का परिणाम नहीं होती बल्कि एक भाषा के दबाव के फलस्वरूप किसी आधार-भूत भाषा में गुणात्मक परिवर्तन का प्रतिफल होती है।

यही पिजन उस समय 'क्रियोल' कहलाने लगती है जब दूसरी पीढ़ी इसे प्रारंभिक व्यवहार से ही मातृभाषा के रूप में स्वीकार कर लेती है और इसके व्यवहार क्षेत्र को व्यापकता देते हुए बहुमुखी बना देती है। इसी आधार पर वह पिजन से अलग हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में और भी कई ऐसे भेदक लक्षण हैं जिनके आधार पर इनमें अंतर किया जा सकता है।

पिजन के संदर्भ में उस जटिल प्रक्रिया का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाता है जो भाषा के आंतरिक रूप के सरलीकरण की प्रक्रिया से संबद्ध होता

है जबकि क्रियोल के संदर्भ में भाषा के आंतरिक रूप के उस परिवर्तन का समाजशास्त्रीय अध्ययन होता है जिनका संबंध भाषा-रूप के संकोच या सरलीकरण से न होकर उनके विस्तार और जटिलता के साथ होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक भाषा-व्यवहार के संदर्भ को सीमित करता है तो दूसरा उसका विस्तार; एक भाषिक संरचना के जटिल भेद-प्रभेद को सापेक्षतया कम करने की ओर प्रवृत्त होता है तो दूसरा दिए गए न्यूनतम व्याकरण में भेद और प्रभेद लाकर उसे जटिल बनाने की ओर उन्मुख होता है; एक का अपना कोई भाषा-समुदाय नहीं होता तो दूसरे का निश्चित भाषा-समुदाय होता है; एक में भाषा के औपचारिक प्रशिक्षण (फोर्मल ट्रेनिंग) की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती तो दूसरे में इसकी आवश्यकता होती है। एक का उद्देश्य दो भाषाओं में से एक को आधार मानकर संप्रेषणीयता की समस्या सुलझाने का होता है तो दूसरे का इस भाषा को फिर से 'सामान्य भाषा' की ओर उन्मुख करने का।

(2)

ऊपर जिन सिद्धांतों की चर्चा की गई है उनके संदर्भ में यह देखना अनुचित न होगा कि क्या हिंदी वह आधार भाषा है जिस पर अन्य भाषाओं के दबाव के फलस्वरूप उसके पिजन रूप विकसित हुए हों? इतना तो स्पष्ट ही है कि हिंदी वह भाषा है जो अपने मातृभाषा क्षेत्र की सीमा से बाहर भी व्यापक स्तर पर बोली और समझी जाती है; विशेषकर उन शहरों में जिन की प्रकृति सर्वजातीय (कास्मोपॉलिटन) राज्य की है, यथा—बंबई, कलकत्ता, मद्रास आदि। इन शहरों में बोली जाने वाली हिंदी को लोगों ने 'बंबइया हिंदी', 'कलकतिया हिंदी', 'मद्रासी हिंदी', 'बंगाली हिंदी', 'बाजारू हिंदी',[15] 'लघु हिंदी'[16] आदि नामों से अभिहित किया है।

प्रस्तुत लेख में हम 'बंबइया हिंदी' में लिखे गए, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के 'मुरदा घर'[17] नामक उपन्यास का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें एक ओर पात्रों की भाषा यह संकेत करती है कि किस प्रकार मराठी के संपर्क में आने पर हिंदी के संरचनात्मक भेदों की विविधिता कम हो गई है और वह सरलीकृत आधार-भाषा की ओर मुड़ती है तो दूसरी ओर किस अनुपात में मराठी की व्याकरणात्मक विशेषताओं से भी संयुक्त होती गई है।

बम्बई[18] में हिंदी का प्रयोग करने वालों को हम स्पष्ट रूप से दो वर्गों में बाँट सकते हैं। वर्ग एक के अंतर्गत वे लोग आते हैं जिन्होंने हिंदी की

औपचारिक शिक्षा ग्रहण की है तथा जो भाषा के व्याकरण समस्त विशुद्ध रूप के प्रति जागरूक हैं। और वर्ग दो के अंतर्गत उन लोगों की भाषा को रखा जा सकता है जिन्होंने हिंदी में कोई औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की किंतु जिन्हें अपने पेशे—कुली, टैक्सी ड्राइविंग, खोमचे आदि के कारण हिंदी का प्रयोग करना पड़ता है। औपचारिक शिक्षा के अभाव में इनकी भाषा में व्याकरणगत शुद्धता के प्रति वह सजगता नहीं होती जो वर्ग एक में प्राप्त होती है (क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य संप्रेषणीयता है)।

'मुरदा घर' की कहानी तथा पात्र इसी दूसरे वर्ग की भाषा के नमूने की कहानी है। इनकी भाषा एक ओर मराठी के प्रभाव को द्योतित करती है और दूसरी ओर हिंदो के। इसी मराठी-हिंदी पिजन का अध्ययन विश्लेषण व्याकरण के धरातल पर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

**ध्वनि :**

ध्वनि के धरातल पर मराठी-हिंदी में कई दिलचस्प बातें देखने को मिलती हैं। इनमें से कुछ का विवेचन प्रस्तुत किथा जा रहा है।

हिंदी में महाप्राण ध्वनियाँ शब्द की तीनों स्थितियों में आती हैं जबकि बोलचाल की मराठी में शब्द की मध्यम तथा अंतिम स्थिति में प्रायः महाप्राण अल्पप्राण में परिवर्तित हो जाती हैं[19]। यही स्थिति मराठी-हिंदी में भी प्राप्त होती है।

| हिंदी | मराठी | मराठी-हिंदी |
|---|---|---|
| समझाती | समजावते | समजाती |
| धंधा | धंदा | धंदा |
| झूठा | खोटा | झूटा |
| भूख | भूक | भूक |

महाप्राणता के संबंध में एक दूसरी स्थिति भी देखी जाती है। यदि हिंदी की घोष ध्वनियों के पश्चात् /ह/ ध्वनि है तो दोनों ध्वनियाँ समीकृत (आस्सेमिलेट) होकर मराठी-हिंदी में शब्द की आदि स्थिति में, महाप्राण ध्वनि का रूप ले लेती हैं। जैसे :

| हिंदी | | मराठी-हिंदी |
|---|---|---|
| बहुत | → | भोत |
| बहन | → | भेन |

इसके अतिरिक्त मराठी की ही भाँति मराठी-हिंदी में ही शब्द की मध्यम तथा अंतिम स्थिति में /ह/[20] को लोप भी प्राप्त होता है :

| | हिंदी | मराठी | मराठी-हिंदी |
|---|---|---|---|
| मध्य | नहीं | नाहीं | नई |
| | मोहब्बत | प्रेम | मोब्बत |
| अंत | मुँह | तोंड | मू |
| | परवाह | पर्वा | परवा |

ध्वनि के स्तर पर सबसे दिलचस्प स्थिति अनुनासिक ध्वनियों की है। हिंदी की [+अनुनासिक], मराठी-हिंदी में (—अनुनासिक) हो जाती हैं। यथा :

| हिंदी | मराठी | मराठी-हिंदी |
|---|---|---|
| (+अनुनासिक) | | (— अनुनासिक) |
| हूँ | आहे | हू |
| जाऊँ | जाऊ | जाऊ |
| देखूँ | बघू | देखू |
| रहूँ | राहू | रहू |

इसके विपरीत एक दूसरी स्थिति भी प्राप्त होती है जिसमें हिंदी के भविष्यत कालीन क्रिया रूपों के साथ प्रयुक्त होने वाले पुरुष-प्रत्यय,: जो [—अनुनासिक] होते हैं, मराठी-हिंदी में (+अनुनासिक) हो जाते हैं। उदाहरणार्थ :

| हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|
| ( — अनुनासिक) | (+अनुनासिक) |
| जाएगा, आएगा | जाएँगा, आएँगा |
| बोलेगा, मिलेगा | बोलेंगा, मिलेंगा |
| होगा | होंगा |

ध्वनि स्तर पर सरलीकरण की प्रवृत्ति को संयुक्त-स्वरों द्विस्वर-संध्यक्षरों के स्तर पर भी देखा जा सकता है। यहाँ विशेष रूप से हिंदी की /औ/ तथा /ऐ/[21] ध्वनियों का उल्लेख किया जा रहा है जो मराठी-हिंदी में क्रमशः /अउ/ तथा /अइ/ हो जाती हैं :

| | हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|---|
| औ→अउ | औरत | ओरत ~ अउरत |
| | कौन | कोन ~ कउन |
| ऐ→अइ | बैठ, पैसा | बेट ~ बइट, पइसा |
| | कैसा, जैसा | कइसा, जइसा |

मराठी-हिंदी का आधार क्योंकि बोलचाल की हिंदी (तद्भव-प्रधान हिंदी) है, अतः यह स्वाभाविक ही था कि बोलचाल की हिंदी की प्रवृत्तियाँ मराठी-हिंदी में भी प्राप्त हों। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

(क) बोलचाल की हिंदी में शब्दांत में

$$\begin{bmatrix} \text{इ} \\ \text{उ} \end{bmatrix} \rightarrow \begin{bmatrix} \text{ई} \\ \text{ऊ} \end{bmatrix}$$

यही स्थिति मराठी-हिंदी में भी है। उदाहरणार्थ :

| मानक-हिंदी | बोलचाल की हिंदी | मराठी हिंदी |
|---|---|---|
| शांति | शान्ती | शान्ती |
| मालूम | मालुम | मलूम |

(ख) इसी प्रकार मानक हिंदी के शब्दारंभ अथवा शब्दांत में प्राप्त होने वाले व्यंजन-गुच्छ बोलचाल की हिंदी में व्यंजन-स्वर-व्यंजन की स्थिति में प्राप्त होते हैं जो मराठी-हिंदी में भी द्रष्टव्य हैं।

| मानक हिंदी/उर्दू | बोलचाल की हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|---|
| शर्म | शरम | सरम |
| जन्म | जनम | जनम |
| मर्द | मरद | मरद |

(ग) मानक हिंदी की दो ध्वनियाँ—/स/और/श/मराठी-हिंदी में क्रमशः /श/ और /स/[22] हो जाती हैं। मराठी-हिंदी की यह प्रवृत्ति बोलचाल की हिंदी के समान है जहाँ इन दोनों ध्वनियों में 'स्वतंत्र-परिवर्तन' देखा जा सकता है।

| मानक हिंदी/उर्दू | बोलचाल की हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|---|
| शरीफ | सरीफ़—शरीफ | सरीफ |
| शर्म | सरम—शरम | सरम |
| सेठ | | शेट |

**व्याकरण :**

ध्वनि की ही भाँति व्याकरणिक स्तर पर भी सरलीकरण और संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

**संज्ञा :**

हिंदी की संज्ञाओं का लिंग-भेद—पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग—जो क्रिया से अन्विति के कारण भाषा में महत्वपूर्ण स्थान रखता है; मराठी-हिंदी में पूर्ण रूप से हिंदी के साथ नहीं जाता। उसकी कई स्त्रीलिंग संज्ञाएँ मराठी-हिंदी में पुल्लिगवत प्रयोग की जाती है तथा कई मराठी की नपुंसकलिंग की भाँति[23]। इसके साथ-ही-साथ कभी-कभी हिंदी की संज्ञाओं के लिंग को भी मराठी-हिंदी में वैसे ही प्रयोग किया गया है।

| **हिंदी** | **मराठी-हिंदी** |
|---|---|
| (+लिंग-भेद) | (+लिंग-भेद) |
| खत्म कर दूँगी | खतम कर देउगी |
| मैं क्या पूछ रही हूँ | क्या पूछी मैं |

तथा

| (+लिंग-भेद) | (—लिंग-भेद) |
|---|---|
| अच्छी अच्छी बातें सिखाई | अच्छा अच्छा बात सिखाई। |
| मैं कुछ नहीं माँगती | मेरे कू कुछ नई मगता। |

बम्बइया हिंदी की एक और मुख्य विशेषता संज्ञाओं के बहुवचन तथा उनके कारकीय रूपों के लोप[24] की है जबकि हिंदी में इनका प्रयोग होता है।

उदाहरणार्थ :

| **हिंदी** | **मराठी-हिंदी** |
|---|---|
| (+बहुवचन) | (—बहुवचन) |
| अच्छी अच्छी बातें सिखाईं | अच्छा अच्छा बात सिखाई |
| हाथ जोड़े | हाथ जोड़ा |

यहाँ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि बोलचाल की हिंदी में संज्ञाओं के साथ [लोग] पद लगा कर बहुवचन बनाने→तुम→तुम लोग, हम→हम लोग आदि की जो प्रवृत्ति प्राप्त होती है वह मराठी-हिंदी में भी देखी जा सकती है। इतना ही नहीं मराठी-हिंदी में 'बहुत', 'सब' तथा संख्यावाचक सर्वनाम

के प्रयोग से भी बहुवचन का बोध कराया जाता है जो हिंदी की प्रवृत्ति के भी अनुकूल हैं।

| हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|
| साहब लोग | साब लोक |
| इनको | इन लोक कू |

**सर्वनाम :**

मराठी-हिंदी के सर्वनाम सरलीकरण के सबसे अच्छे उदाहरण हैं। मानक हिंदी में वचन और पुरुष की दृष्टि से सर्वनामों की संख्या सात है—इसमें मध्यम पुरुष 'तुम' का प्रयोग एकवचन और बहुवचन दोनों रूपों में किया जाता है—जबकि मराठी हिंदी में तीन या चार हैं।

हिंदी

| | एकवचन | बहुवचन |
|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | मैं | हम |
| मध्यम पुरुष | तू, (तुम) | तुम, आप |
| अन्य पुषष | वह | वे |

मराठी-हिंदी

| | एकवचन | बहुवचन |
|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | मैं, हम | हम लोक |
| मध्यमपुरुष | तुम | तुम लोक |
| अन्य पुरुष | वो | वो लोक |

सर्वनाम ही नहीं उसके साथ उसके कारकीय रूप भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिंदीं के [मैं] और [तुम], दो सर्वनामों के रूपों में प्राप्त यह सरलीकरण की प्रवृत्ति द्रष्टव्य है:

हिंदी

मैं→ { मैंने / मुझे/मुझको / मेरा }     तुम→ { तुमने / तुम्हें/तुमको / तुम्हारा }

मराठी-हिंदी में क्रमश: इस प्रकार हैं:

**मराठी-हिंदी**

{मैं/—(—कारकीय } {तुम/—(—कारकीय)
{मेर/—(+कारकीय } {तेर/—(—कारकीय)

अर्थात् मराठी-हिंदी में (मैं), (तुम) आदि के साथ कर्ता कारक 'ने' का प्रयोग नहीं किया जाता जबकि हिंदी के कर्म कारक (मुझे) एवं (तुम्हें) तथा संबंध कारक (मेरा) एवं (तुम्हारा) आदि रूपों के बदले केवल एक-एक रूप का प्रयोग किया जाता है जिसके साथ कारकीय रूप का भी प्रयोग होता है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

(+ने)

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| हिंदी | : मैंने | क्या | किया | है ? | |
| मराठी | : मी | काय | केले ? | | |
| मराठी-हिंदी | : | क्या | किया | मे ? | |
| हिंदी | : मैंने | इसको | तंग | किया | है ? |
| मराठी-हिंदी | : मे | इसकू | तंग | किया ? | |
| हिंदी | : मुझे | किसने | बुलाया | है ? | |
| मराठी-हिंदी | : | कोन | बुलाया | मेरे | कू ? |

तथा

| | |
|---|---|
| हिंदी : | किसको मालूम ? |
| मराठी-हिंदी : | किसकू मलूम ? |
| हिंदी : | उसे भी अपने साथ ले जाना। |
| मराठी-हिंदी : | उसकू भी ले जाना अपने साथ में। |
| हिंदी : | मैं तुझे जाने के लिए पैसे देती हूँ। |
| मराठी-हिंदी : | तेरेकू पइसा देती में जाने का। |

(तुझे) के साथ-साथ (तुमको, तुझको, तुम्हें) के लिए भी मराठी-हिंदी में केवल एक रूप (तेरे कू) प्राप्त होता है। यही स्थिति अन्य सर्वनामों की भी है। उदाहरणार्थ :

| हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|
| इसे/इसको | इसकू |
| इन्हें/इनको | इनकू |
| उसे/उसको | उसकू |
| उन्हें/उनको | उनकू |
| किसे/किसको | किसकू |

हिंदी में कारक चिह्नों के प्रयोग से संज्ञा एवं सर्वनामों में परिवर्तन—मेरा कमरा→मेरे कमरे में—होता है, किंतु मराठी-हिंदी में ऐसा नहीं होता। यथा—

हिंदी : तुम्हारे लड़के को
मराठी-हिंदी : तुम्हारा लड़का कू

सर्वनामों में सरलीकरण की यह प्रवृत्ति एक दूसरे स्तर पर भी प्राप्त होती है। हिंदी में जहाँ निजवाचक सर्वनामों के लिए [अपना] का प्रयोग किया जाता है वहाँ मराठी-हिंदी में इसका लोप हो जाता है।

हिंदी : तू अपना प्यार अपने पास रख।
मराठी-हिंदी : तेरा प्यार मोहब्बत तेरे पास रख।

मराठी में, हिंदी के निजवाचक [अपना] के कारकीय रूप [अपने] [25] का प्रयोग प्राप्त होता है, किंतु यह प्रायः हिंदी के प्रथम पुरुष बहुवचन [हम] के कारकीय रूप की तरह ही होता है। उदाहरणार्थ :

हिंदी : हमें मालूम नहीं।
मराठी-हिंदी : अपने कू मलुम नई।

मराठी-हिंदी केवल हिंदी की ही प्रवृत्तियों को लेकर चली हो, ऐसी बात नहीं है। कहीं-कहीं तो वह केवल मराठी के व्याकरण का ही अनुसरण करती प्राप्त होती है। मराठी में प्रथम पुरुष सर्वनाम के दो प्रकार—समावर्ती (इक्लूज़िव) और व्यावर्ती (ऐक्सक्लूज़िव) प्राप्त होते हैं जो मराटी हिंदी में भी देखे जा सकते हैं।

| हिंदी | मराठी | मराठी-हिंदी |
|---|---|---|
| में | आम्ही | मे |
| | आपला | अपुन |

**विशेष :**

हिंदी में विशेषण, संज्ञा के लिंग-पुरुष वचन के अनुसार अन्विति ग्रहण करते हैं जबकि मराठी-हिंदी में वे अपरिवर्तित ही रह जाते हैं।

हिंदी : आप तीसरे कमरे में जाएँ।
मराठी-हिंदी : तुम तीसरा कमरा में जाउ।

**क्रियाविशेषण :**

क्रिया-विशेषण में भी अनेक दिलचस्प बातें प्राप्त होती हैं। यदि हिंदी में स्थानवाचक और दिशावाचक के लिए अलग-अलग सार्वनामिक प्रयोग प्राप्त होते हैं तो मराठी-हिंदी में केवल एक दिशावाचक।

| हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|
| यहाँ, इधर | इधर (में) |
| वहाँ, उधर | उधर (में) |
| कहीं, किधर | किधर (में) |

किंतु संज्ञाओं के साथ 'कू' का प्रयोग कर स्थानवाचक बनाए जाते हैं। जैसे : घर-—घर कू। इसी प्रकार 'कने', 'पे' आदि का प्रयोग भी उल्लेखनीय है।

**क्रिया :**

हिंदी की अनियमित (इररेगुलर) क्रियाओं का मराठी-हिंदी में नियमित रूप देने की प्रवृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है :

| हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|
| दे→दूँगी | देउँगी |
| ले→लूँगी | लेउँगी |

**शब्द भंडार :**

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि पिजन का शब्दभंडार बहुत सीमित होता है। अतः उसमें आधार-भाषा के एक-सा अर्थ रखने वाले कई शब्दों के लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाता है। मराठी-हिंदी में भी यह प्रवृत्ति दों स्तरों पर प्राप्त होती है—(क) क्रिया के स्तर पर तथा (ख) परसर्गों के स्तर पर।

हिंदी में प्रयुक्त होने वाली अनेक क्रियाओं के लिए मराठी-हिंदी में एक क्रिया रूप का प्रयोग मिलता है । जैसे :

| हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|
| कहना<br>बोलना | बोलना (बोलती) |
| चाहना<br>माँगना | माँगता (मागती) |

हिंदी : एक चांस और चाहता हूँ ।
मराठी-हिंदी : एक चानस और मँगता मेरे कू ।
हिंदी : अब कुछ नहीं माँगती ।
मराठी-हिंदी अभी कुछ नई मँगता ।
हिंदी : मैं कुछ नहीं चाहती ।
मराठी-हिंदी : मेरे कू कुछ नई मँगता ।

यही स्थिति परसर्गों में भी प्राप्त होती है । उदाहरणार्थ :

हिंदी : —को
मराठी-हिंदी : —कू

किंतु 'कू' का प्रयोग हिंदी के निम्नलिखित परसर्गों के अर्थ में भी प्राप्त होता है :

मराठी-हिंदी कू — को / के लिए / से
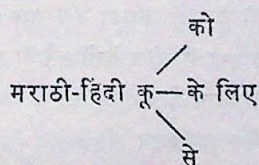
| हिंदी | मराठी-हिंदी |
|---|---|
| मुझे, तुम्हें | मेरे कू, तेरे कू |
| तुम्हें ले जाने के लिए | तेरे कू ले जाने कू |
| किसी से भी पूछ ले | पूछ ले कोई कू भी |

इसी प्रकार हिंदी परसर्ग 'का' मराठी-हिंदी में 'का' होने पर भी 'के पास', 'की', 'के' आदि अर्थों में भी प्रयुक्त किया गया है ।

हिंदी : सेठ के कारकून के पास ।
मराठी-हिंदी : शेट का कारकून का पास ।

हिंदी : उसके आदमी को लेकर मैं घर आया हूँ।
मराठी-हिंदी : उसका आदमी कू ले के इधर आया मैं।

**वाक्य :**

वाक्य के स्तर पर अनेक दिलचस्प बातें देखी जा सकती हैं। इसमें से नकारात्मक वाक्य, बल, प्रश्न-वाचक आदि कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिंदी में नकारात्मक सूचक पद मुख्य तथा सहायक क्रिया से पूर्व आता है, जबकि मराठी-हिंदी में वाक्यांत तथा मुख्य क्रिया से पूर्व दोनों स्थानों पर प्राप्त होता है।

| | | |
|---|---|---|
| वाक्यांत | हिंदी : | वह नहीं आएगा। |
| | मराठी : | ते येलार नाईं। |
| | मराठी-हिंदी : | वो आएगा नई। |
| मुख्य क्रिया से पूर्व | हिंदी : | मुझे कहीं नहीं जाना है। |
| | मराठी-हिंदी : | नई जाना है मेरे कू किधर भी। |

ठीक यही स्थिति 'बल' के विषय में भी प्राप्त होती है। मराठी-हिंदी में शब्द के स्तर पर तो (च) तथा (ज) पद लगाकर इसका बोध कराया जाता है— इधरिच 'यही', ये च 'येही', एकज 'एक ही', वोज 'वही' आदि तो दूसरी ओर वाक्य के स्तर पर मुख्य वाक्य को वाक्यांत में लाकर।

हिंदी : मैं तुझे कह रही हूँ मुझे ज्यादा तंग मत कर।
मराठी-हिंदी : जास्ती तंग मत कर मैं बोल देती तेरे से।
हिंदी : मुझे कहीं नहीं जाना है।
मराठी-हिंदी : नई जाना है मेरे कू किधर भी।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'मुरदाघर' की भाषा का यह रूप एक तरफ अपनी प्रकृति में ध्वनि तथा व्याकरण के स्तर पर एक ओर सरलीकरण की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख है तो दूसरी ओर शब्द भंडार तथा परसर्गों की दृष्टि से अर्थ विस्तार की ओर। अतः कहा जा सकता है कि इसमें मराठी-हिंदी का वह पिजन[26] रूप है जो अब 'क्रियोलीकरण' की ओर उन्मुख है। और जो उस भाषायी समाज की सत्ता को व्यंजित कर रही है जिसकी वह मातृभाषा बनती जा रही है। इस भाषा की अपनी प्रकृति में व्याकरणिक संरचनाएँ अपनी सरलीकरण की प्रवृत्ति के साथ-साथ नए नियमों

का विस्तार भी कर रही हैं। साथ ही वह उन कोशीय अर्थों के लिए नए शब्द के निर्माण की ओर भी प्रवृत्त हो रही है जो मातृभाषा के रूप में अपनाने के कारण किसी भाषा में सहज रूप से देखी जा सकती है।

(3)

अंत में हम हिंदी के संबंध में प्रारंभ में उठाए गए कुछ प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास कर रहे हैं। प्रथम खंड में निम्नलिखित दो प्रश्न उठाए गए थे :

(क) क्या हिंदी का कोई ऐसा रूप या संदर्भ है जिसे 'पिजन' कहा जा सके ?

(ख) उसमें कौन से ऐसे भाषा-वैज्ञानिक तथा समाज-सांस्कृतिक अभिलक्षण हैं जो उसे भाषा के अन्य रूपों से अलग करते हैं ?

निश्चित रूप से हर भाषा में संप्रेषण की आवश्यकता के कारण ऐसे रूप समय-समय पर जन्म लेते रहते हैं जिन्हें 'पिजन' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। और फिर हिंदी तो कई प्रदेशों में बोली जाती है और उन प्रदेशों में बहुभाषा-भाषी लोगों की भी कमी नहीं है। अतः निश्चित रूप से हिंदी के लिए आधार-भाषा बनकर ऐसे संदर्भ उत्पन्न करने के अनेक अवसर आते हैं। इन्हीं से प्रभावित होकर ही वह कहीं 'मद्रासी हिंदी' है तो कहीं 'बंबइया हिंदी'।

जहाँ तक इन संदर्भों के भाषा-वैज्ञानिक तथा समाज-सांस्कृतिक अभिलक्षणों का प्रश्न है यह अभी शोध का विषय है, क्योंकि यह कहना कि ऊपर बताई गई सभी विशेषताएँ केवल मराठी-हिंदी की ही हैं, तो यह सर्वथा ग़लत होगा। 'कलकत्ता हिंदुस्तानी'[27] से तुलना करने पर हम कह सकते हैं : दोनों में निम्नलिखित विशेषताएँ समान हैं। (क) /ऐ/तथा/औ/ के स्थान पर संयुक्त संध्यक्षरों का प्रयोग (ख) संज्ञाओं में बहुवचन रूपों का लोप (ग) विशेषणों में कारकीय रूपों का लोप आदि।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तभी अलग-अलग 'पिजन' रूपों की विशेषताओं को बता पाना संभव होगा।

**पाद टिप्पणियाँ :**

1. प्रस्तुत लेख 'भाषा' के विश्व हिंदी सम्मेलन अंक (1975) में छपे 'भाषा अवमिश्रण और हिंदी' का ही परिवर्धित तथा परिमार्जित रूप है।
2. विन्नोम (1971) "Only in a multilingual situation with one or more third parties, will a true pidgin emerge."
3. हमारी दृष्टि से 'पिजन' और 'क्रियोल' के लिए हिंदी में कोई उपयुक्त शब्द नहीं है—'अवमिश्रण' भी नहीं।
4. देखिए विलियम्ज़ जे. समारिन (1971)।
5. हॉकेट (1958 : 421) "The most important thing descriptively about a Pidgin is that it is a language".
6. देखिए ब्लूमफ़ील्ड (1933 : 471)
7. देखिए हाल (1966)
8. देखिए समारिन (1971 : 117-140)
9. देखिए हाइम्ज़ (1971)
10. देखिए साउथवर्थ एवं आप्टे (1974 : 11)
11. देखिए समारिन (1971 : 119)
11. विन्नोम (1971) के अनुसार पिजन का जन्म सरल द्विभाषिकता की स्थिति में नहीं होता —"It may well be that no simple biligual situation ever gives rise to a pidgin".
13. हॉकेट (1958 : 420) "Pidgins represent the most extreme results of borrowing".
14. ब्लूमफ़ील्ड (1933 : 472) ने 'आधार भाषा' के लिए "dominant language" तथा दूसरी भाषा को 'lower language" की संज्ञाएँ दी हैं।
15. देखिए चैटर्जी (1942 : 200 ) "Bāzār Hindi or Bāzār Hindustāni" a language with the grammar of correct

Hindustāni which is found in (1) & (2) considerably simplified,—in common use among the masses..."

16. देखिए चैटर्जी (1942 : 153) 'Bāzār Hindi' or 'Bāzār Hindustāni' or Hindustani of the masses; 'this is just a simplified form of (1) & (2) some High—Hindi writers preferred to call it laghu Hindi".
17. प्रस्तुत विश्लेषण मुरदाघर (1974) के पृष्ठ 17-19 तथा 85-100 पर आधारित है।
18. बंबई एक सर्वजातीय राज्य होने के कारण इसमें मराठी के साथ ही साथ गुजराती, उर्दू, कोंकणी, तमिल, तेलगु, कन्नड, मलयालम आदि भाषा-भाषी में प्राप्त होते हैं जिसकी संख्या प्रतिशत क्रमश: इस प्रकार है—42.5 (मराठी), 18.1 (गुजराती) 9.6 (उर्दू), 5.6 (कोंकणी), 2 5 (तमिल आदि) : Census (1961)
19. देखिए गंपर्ज़ तथा विल्सन (1971), महादेव आप्टे (1962), साउथवर्थ (1961)
20 देखिए साउथवर्थ (1958)
21. देखिए आप्टे (1974 : 24), चैटर्जी (1942)
22. देखिए साउथवर्थ (1958)
23. मराठी में संस्कृत की ही भाँति पुलिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग तीन लिंग हैं।
24. देखिए आप्टे (1974 : 25)
25. देखिए आप्टे (1974 : 28)
26. 'पिजन' इसलिए भी, क्योंकि दूसरी पीढ़ी इसी भाषा रूप का प्रारंभिक व्यवहार में प्रयोग कर रही है।
27. देखिए चैटर्जी (1942)

---

प्रस्तुत लेख के लिए मैं डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव का आभारी हूँ जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय एवं सुझाव देकर मार्ग दर्शन किया। मैं श्रीमती कमला मेहता, श्रीमती सुषमा जयसिंह तथा श्री वी. जी. वापट, विधि मंत्रालय के प्रति भी आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिन्होंने मराठी के लिए सूचक के रूप में काम किया।

## संदर्भ

Apte, M. L. 1962 : "Linguistic acculturation & its relation to urbanization and socio-economic factors", *Indian Linguistics*, 23 : 5-25

—1972 : Pidginization of Lingua Franca : A linguistic analysis of Hindi-Urdu spoken in Bombay, Vol. 3, no. 1., 21-44.

Bloomfleld, L. 1933 : *Language*, Delhi Motilal Banarsidass.

Census of India 1961 : Vol. X, Part X (I—B) Great Bombay.

Chatterji, S. K. 1942 : *Indo-Aryan and Hindi*, Ahmedabad Gujrat Vernacular Society.

Dell Hymes (ed.) 1971 : *Pidginization and Creolization of Language*, Cambridge Univ. Press.

Dikshit, J. P. 1974 : *Murda Ghar*, Delhi, Radhakrishan Prakashan.

Gumperz John, J. 1968 : 'The Speech Community' *International Encyclopedia of Social Sciences* 9 : 381-86.

—& Wilson, R. 1971 : Convergence and Creolization, Dell Hymes (ed ), 151-68.

Hall, R. A., Jr. 1953 : 'Pidgin English and linguistic change', *Lingua* 3 : 133—49.

—1962 : 'The life circle of Pidgin Languages' *Lingua* 11 : 151 : 56.

—1966 *Pidgin and Creole Languages*, N. York : Cornell Univ. Press, Ithaca.

—1972 : 'Pidgins and Creoles as Standard Languages' in *Sociolinguistics* (ed. by Pride & Holmes) :

Hockett, C. F. 1958 : *A Course in Modern linguistics*, New Delhi- Oxford & IBH Publishing Co.

Pride, T. S. & Holmes, J. (Ed.) 1972 *Socio-linguistics*, Penguin.

Samarin, William J. 1971 : 'Salient and Substantive Pidginization' in Dell Hymes : 117-40.

Southworth, F. C. 1958 : A Test of Comparative method : a linguistically controlled reconstruction based on four Indic languages (Thesis) Yale Univ.

—1961 : 'The Marathi Verbal Sequences & their Cooccurence', *Language* 31 : 201-8.

—1971 : 'Detecting Prior Creolization : An analysis of Historical Origins of Marathi' in Dell Hymes ; 255 –74.

—& Apte, M. L. 1974 : Introduction, IJDL, Deptt. of Linguistics, Univ. of Kerala, Trivandrum; Vol. 3, No. 1 ; 12-0.

Whinnom, K. 1971 : 'Linguistic Hybridization & the Special case of Pidgins & Creoles' in Dell Hymes : 91-116.

# संभाषण के विभिन्न पक्षों का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन

—अशोक कालरा

चॉम्स्की के अनुसार भाषा मानवीय बुद्धि का जैविक गुण है। भाषा का आदर्श रूप बुद्धि में जन्मजात ही होता है और उसको बाह्यरूप में सार्थक बनाने के लिए एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया काम करती रहती है। किंतु भाषा का सार्थक प्रयोग मनुष्य की बोधात्मक और अनुभूतिपूरक क्षमता पर निर्भर करता है। अतः भाषा का आदर्श व्याकरणिक रूप एक सार्वभौमिक और अपरिवर्त प्रक्रिया के रूप में मानव बुद्धि में रहता है। भाषा का यह मानसिक आदर्श रूप व्यवहार में आने पर जैविक, सामाजिक अथवा संप्रेषण के आधार पर संयमित होने के कारण स्खलित हो जाता है। अतः इस दृष्टिकोण से सामाजिक संदर्भों में प्रयुक्त भाषा का रूप आदर्श भाषा का क्षीण या अवमिश्रित रूप है।

किंतु अब यह माना जाने लगा है कि भाषा मूलतः एक सामाजिक यथार्थ है जो सामाजिक उपकरणों और संदर्भों के साथ जुड़कर व्यावहारिक बनती है। अतः भाषा का वास्तविक स्वरूप मानव-बुद्धि की नैसर्गिक भाषायी उपलब्धि और सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ के परस्पर द्वन्द्व के द्वारा स्पष्ट होता है। भाषा के सार्थक अध्ययन के लिए उसके बौद्धिक और सामाजिक अस्तित्व के परस्पर संबंधों को समझना नितांत आवश्यक है। समाजभाषाविज्ञान भाषा के इसी समन्वित रूप का अध्ययन करता है।

समाजभाषाविज्ञान यह मानकर चलता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में उसका अस्तित्व उसकी **सामाजिक भूमिका** और **सामाजिक स्थिति** पर निर्भर करता है। समाज के प्रत्येक सदस्य से विभिन्न परिस्थितियों में विशेष प्रकार के व्यवहार की प्रत्याशा अपेक्षित रहती है। किसी व्यक्ति की अनुक्रिया सामान्यतः इस सामाजिक प्रत्याशा के अनुरूप ही रहती है। अतः विशेष परिस्थितियों में विशिष्ट प्रत्याशाओं के अनुरूप विशिष्ट

अनुक्रियाओं के सामूहिक रूप को **सामाजिक भूमिका** कहते हैं। सामाजिक संगठन की शक्ति के कारण प्रत्याशा और अनुक्रिया का सामंजस्य प्रायः बना ही रहता है। इसमें किसी प्रकार का वैषम्य हास्यास्पद बन सकता है; व्यंग्य, अपमान अथवा धृष्टता का सूचक भी माना जा सकता है, किंतु ऐसी स्थितियाँ प्रायः अपवाद ही होती हैं।

जिस प्रकार नाटक के पात्रों की भूमिका कथानक के संदर्भ में निश्चित रहती है, उसी प्रकार समाज में प्रत्येक सदस्य की भूमिका भी उसकी सामाजिक स्थिति के संदर्भ में निश्चित हो जाती है। एक ही परिवेश की संबंद्ध भूमिकाओं के सामूहिक रूप को सामाजिक स्थिति कहते हैं। जैसे एक व्यक्ति एक साथ अध्यापक, मकान-मालिक, ग्राहक, लेखक, परिवार का सदस्य आदि हो सकता है। ये सब उसकी सामाजिक स्थितियाँ हैं और प्रत्येक स्थिति में उसे कई प्रकार की भूमिकाएँ निभानी होती हैं। अध्यापक की स्थिति में विद्यार्थियों, सहयोगियों, प्रधानाध्यापक, अध्यापकसंघ, विश्वविद्यालय, छात्रों के माता-पिता आदि के साथ उसकी भूमिकाएँ अलग-अलग होंगी। इनकी प्रत्याशाएँ और उसकी अनुक्रियाएँ भी भूमिका विशेष के आधार पर निर्धारित होंगी।

समाज के सभी सदस्यों की सभी स्थितियों के सामूहिक रूप को **सामाजिक व्यवस्था** कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से व्यवस्था उस समूह को कहेंगे जिसके निर्धारक घटकों की संरचना इस प्रकार की हो कि किसी एक में परिवर्तन होने पर उसका प्रभाव हमारे समूह पर पड़े। व्यवस्था के घटकों का विशिष्ट प्रकार्य समग्र संरचना की संपूर्णता और साम्य को बनाए रखना है। इस प्रकार्य का परिणाम अच्छा है या बुरा, प्रशंसनीय है अथवा निंदनीय, ऐसा मूल्यांकन स्वतंत्र रूप से तो किया जा सकता है, किंतु प्रकार्य को परिणाम के आधार पर नहीं मापा जाना चाहिए।

सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों में सार्थक संप्रेषण संभाषण द्वारा होता है। इसमें कई प्रकार के माध्यम प्रयुक्त हो सकते हैं किंतु सबसे सशक्त, संवेदनशील और जटिल माध्यम भाषा है। प्रो० ऐबरक्रॉम्बी का मत है कि मौखिक अवयव केवल बोलने के काम आते हैं, किंतु संभाषण में शरीर के सभी अवयव क्रियाशील रहते हैं। अतः संभाषण में भाषायी और भाषेतर तत्व दोनों रहते हैं और वे परस्पर समवर्तित होते हैं। रौजर ब्राउन का मत

है कि अर्थ का पूर्ण बोध भाषायी और भाषेतर तत्वों के अंतर्संबंध द्वारा ही होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में संभाषण के कई पक्षों का अध्ययन समाजभाषा-वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। इसके पीछे यह धारणा रहती है कि यदि भाषा एक सामाजिक यथार्थ है और सामाजिक नियंत्रण का एक सशक्त साधन भी है तो इसका अध्ययन सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए जिससे भाषा के विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यवहृत रूपों का विश्लेषण किया जा सके और भाषायी और भाषेतर तत्वों के प्रयोग का समाज-स्वीकृत औचित्य वैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट किए जा सकें। समाजभाषाविज्ञान यह मान कर चलता है कि भाषा का सहज ज्ञान होने पर भाषा के नियम और उनके समाजगत औचित्य का ज्ञान वक्ता को स्वाभाविक रूप से हो जाता है। डेल हाइम्स इसे **संप्रेषण क्षमता** कहते हैं।

संभाषण में सबसे अधिक प्रयुक्त होने वाले महत्वपूर्ण भाषायी तत्व **पुरुषवाचक सर्वनाम** हैं। ये संकेत इतने सशक्त होते हैं कि किसी भी वार्तालाप की प्रकृति और उसका भावी स्वरूप इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता अपने लिए, श्रोता के लिए और अन्य व्यक्ति के लिए किस सर्वनाम रूप का चयन करता है। वास्तव में इन छोटे से भाषायी प्रतीकों के पीछे पूरा भाषायी और सामाजिक व्यवहार विद्यमान रहता है। वक्ता की भाषिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक, शैक्षणिक, क्षेत्रीय और समाजवर्गीय पृष्ठ-भूमि का अनुमान सर्वनाम प्रयोग से लगाया जा सकता है। अतः सर्वनाम एक ओर भाषायी व्यवहार के अंग हैं तो दूसरी ओर सामाजिक व्यवहार के प्रतीक
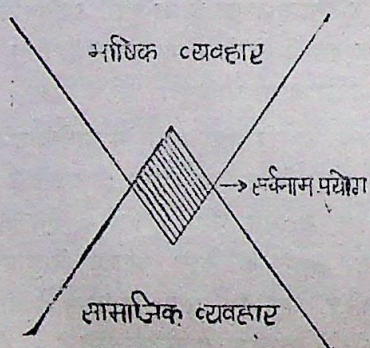
भी हैं। इस प्रकार सर्वनाम का प्रयोग-क्षेत्र भाषिक और सामाजिक व्यवहार के प्रतिच्छेदित क्षेत्र में आता है।

हिंदी में सर्वनामों का अध्ययन विशेष रूप से कठिन है, क्योंकि इनकी भाषायी व्यवस्था बहुत जटिल है। तीनों पुरुषों के एकवचन और बहुवचन में एक से अधिक विकल्प हैं जिनके अर्थक्षेत्र निश्चित नहीं हैं।

जैसे, हिंदी में **तू** का प्रयोग घनिष्ठता, सौहार्द्र, मैत्री या आत्मीयता के लिए होता है, किंतु विशेष स्थितियों में यह धृष्टता का प्रतीक बन जाता है। अन्य स्थितियों में यह स्पष्ट करता है कि **तू** का प्रयोग करने वाला वक्ता श्रोता से बड़ा है—आयु में, बल में, पद या स्थान में। किंतु विशेष परिस्थितियों में **तू** के प्रयोग द्वारा श्रोता का अपमान या तिरस्कार भी किया जा सकता है। इसी प्रकार **आप** का प्रयोग आदर, प्रतिष्ठा या सम्मान देने के लिए किया जाता है और साथ ही वक्ता की श्रोता के मुकाबले में निम्न स्थिति का आभास देता है। विशेष परिस्थितियों में इसका प्रयोग औपचारिकता, अलगाव या सामाजिक अथवा व्यक्तिगत दूरी को प्रगट करने के लिए भी किया जाता है। इन दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही रूप के चार अर्थगत आयाम हैं। इसी प्रकार कई सर्वनाम रूप ऐसे भी हैं जिनके प्रयोग की सामाजिक आवश्यकता का विश्लेषण किए बिना ही शुद्धतावादी वैयाकरण अशुद्ध या गलत प्रयोग कह कर ध्यान नहीं देते; जैसे **आप आओ**। हिंदी व्याकरण के नियम इस महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट नहीं कर पाते कि इन विभिन्न प्रयोगों के संदर्भगत अर्थ को समझने के लिए श्रोता किन संकेतों अथवा आधारों का ध्यान रखता है। प्रायः यह कह दिया जाता है कि अपने से छोटे या आत्मीय के लिए **तू** और अपने से बड़े को **आप** कह कर संबोधित किया जाता है। किंतु सामान्य प्रयोग में इनके कई अपवाद मिलते हैं।

सामान्यतः हिंदी के व्याकरणों में केवल **आप** ही आदरसूचक सर्वनाम है, **तुम** नहीं। भाषा के सार्वभौमिक नियम इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि बहुवचन रूप का एकवचन में प्रयोग आदरार्थ किया जाता है। अतः हिंदी में भी **आप** और **तुम** (जो वस्तुतः बहुवचन रूप हैं) का एकवचन में प्रयोग आदरार्थ होना चाहिए था, किंतु हिंदी के व्याकरण भाषा प्रयोग की इस वस्तुस्थिति को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं कर पाए हैं।

विभिन्न सर्वनाम रूपों के साथ क्रिया के अन्वित होने के कारण कई अन्य विकल्प भी प्रयोग में आने लगे हैं, किंतु हिंदी के व्याकरणों में प्रायः इस ओर भी ध्यान नहीं दिया जाता ।

किसी भाषा के प्रयोग के नियम तभी सार्थक माने जा सकते हैं जब वे इस प्रकार के विकल्पों में से एक विकल्प के चयन के आधार स्पष्ट कर सकें । किंतु हिंदी के व्याकरणों में प्रत्येक विकल्प के प्रयोग की कुछ विशेष स्थितियाँ या संबंध बता दिए जाते हैं, जिनमें परस्पर अंतर्विरोध पाया जाता है । इसके अतिरिक्त विशिष्ट संबंधों की सूची कभी पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में उसके सदस्यों के संबंध कई प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के लिए केलॉग (1892 : 168-72), बाजपेयी (सं. 2014 वि. 235), गुरु (सं. 2017 वि. 75-86), शर्मा (1972 : 46-71), मैग्रागर (1972 : 11-15), बान ऑल्फ़न (1972 : 39-44), बाहरी (1972 : 83-91), व्यास, तिवारी, श्रीवास्तव (1972)

आधुनिक भाषाविज्ञान और समाजभाषाविज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर न्यूनाधिक विवरण दासवानी (1971), श्रीवास्तव (1973), जैन (1973), बहुगुणा (1974), गोस्वामी (1974) और भटनागर (1974) में मिलता है ।

समाजभाषाविज्ञान समाज में व्यवहृत भाषा का अध्ययन करता है । भाषा के इस रूप का विश्लेषण करने के लिए कुछ प्रतिरूप एकत्रित करना आवश्यक होता है और इसके लिए विभिन्न साधन प्रयोग में लाए जाते हैं जैसे— साक्षात्कार, प्रतिभागी-पर्यवेक्षण, पर्यवेक्षण, लिखित/मौखिक प्रश्नावली और प्रकाशित साहित्य आदि ।

भाषा के अन्य अंगों में इन साधनों का अपना महत्व होगा किंतु, सर्वनाम प्रयोग के लिए कुछ विधियाँ—साक्षात्कार, प्रतिभागी-पर्यवेक्षण और लिखित/मौखिक प्रश्नावली—भ्रामक सिद्ध हो सकती हैं । इसका कारण यह है कि सार्वजनिक प्रदर्शन में हमारा सामाजिक और भाषायी व्यवहार आदर्शोन्मुख हो जाता है जो वास्तविक स्थिति से बहुत भिन्न होता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि भाषा प्रयोग के नियमों का आधार निश्चित करने से पहले भाषा के प्रतिरूपों का चयन उचित ढंग से हो ।

आधुनिक भाषाविज्ञान के आधार पर किए गए अध्ययनों में केवल जैन ने (1973) प्रतिरूप एकत्रित करने के लिए साक्षात्कार, प्रतिभागी-पर्यवेक्षण और पर्यवेक्षण का प्रयोग किया है। किंतु स्वयं जैन इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि पुरुषों के आदर्शोन्मुख व्यवहार की प्रवृत्ति अधिक होती है, इसलिए उन्होंने अपनी सामग्री में पुरुषों के सर्वनाम प्रयोग का बहुत कम उपयोग किया है। इससे तो अच्छा यह होता कि प्रतिरूप एकत्रित करने का कोई और अच्छा साधन ढूँढ़ा जाता। जैन के शोधप्रबंध से ऐसा भी आभास मिलता है कि भाषा के सहज बोध के आधार पर बनाए गए नियम अपर्याप्त और अपूर्ण होते हैं। इसके विपरीत भटनागर (1974) का मत है कि केवल सहज बोध के आधार पर भी नियम बनाए जा सकते हैं, क्योंकि उसी भाषा का प्रयोग करने वाले समाज के सामान्य सदस्य होने के नाते लेखक का भाषायी सहज बोध उतना ही होता है जितना अन्य सदस्यों का। वास्तव में ये दोनों धारणाएँ अतिवादी हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषा-व्यवहार के वास्तविक प्रतिरूप पर्यवेक्षण आदि विधियों से एकत्रित किए जाएँ तो उनका आधार सुदृढ़ होगा, किंतु इनका विश्लेषण करते समय और नियम बनाते समय इन विधियों की सीमाओं के प्रति सावधान रहना और भी आवश्यक है। जैन ने लगभग 200 हिंदी भाषियों के भाषा-व्यवहार में सर्वनाम-प्रयोग का अध्ययन किया। किंतु यह कहना अतिशयोक्ति ही होगा कि इस अध्ययन से हिंदी-भाषी समाज में सर्वनाम प्रयोग की वास्तविक एवं संभावित स्थितियाँ स्पष्ट हो गई हैं। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि हिंदी-भाषी प्रदेश के एक विशेष भाग में सर्वनाम-प्रयोग की व्यवस्था अमुक प्रकार की है। दूसरी ओर केवल सहज बोध द्वारा नियम बनाना भी निर्देशात्मक व्याकरण की कोटि में समझा जाएगा।

प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार का कोई पूर्वाग्रह नहीं है। विभिन्न स्रोतों से सर्वनाम प्रयोग की जो सामग्री उपलब्ध हुई उसी के आधार पर निर्धारक तत्व एवं सर्वनाम रूपों के अर्थक्षेत्र निर्धारित करने का प्रयत्न यहाँ किया गया है। सर्वनाम-प्रयोग को द्विदिक संबंधों में सीमित नहीं किया गया, क्योंकि ऐसा करने से भाषा-प्रयोग का यह विरोधाभास एकदम उभर आता है कि भाषा एक ओर रूढ़िबद्ध होती रहती है और दूसरी ओर परिवर्तनशील भी होती है। इसके अतिरिक्त स्वयं द्विदिक संबंधों में ही कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुतः इस अध्ययन में प्रचलित सर्वनाम रूप और उनके

अर्थक्षेत्र की परिकल्पना (hypothesis) ही की गई है जिसका वास्तविक प्रयोग के सर्वेक्षण द्वारा समर्थन हो सकता है या प्रतिकूल प्रयोग के आधार पर विरोध किया जा सकता है। समूचे हिंदी भाषी समाज का सर्वेक्षण एक दो व्यक्तियों के बस का है भी नहीं। कुछ ही समय पहले "राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्" के तत्वावधान में हिंदी भाषी समाज में प्रयुक्त स्वनिमिक परिवर्तों का निर्धारण करने के लिए एक सर्वेक्षण हुआ था। इसी प्रकार का विस्तृत सर्वेक्षण सर्वनाम आदि के लिए भी हो तब ही विभिन्न रूपों के अर्थक्षेत्र एवं निर्धारक तत्व परिभाषित हो सकते हैं।

इसके साथ ही नियमों की क्षमता का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। जैन (1973) के नियम विशेष द्विदिक् संबंधों पर लागू होते हैं। जैसे, पिता अपने पुत्र को **तू** या **तुम** द्वारा संबोधित करेगा और पुत्र अपने पिता को **आप** द्वारा। यदि पिता पुत्र को **आप** से संबोधित करता है तो यह प्रयोग व्यंग्यार्थक माना जाएगा।

इसी प्रकार भटनागर (1974) भी विशेष संबंधों के आधार पर सर्वनाम प्रयोग के नियम बनाते हैं। जैसे, पति अपनी पत्नी को **तू** या **तुम** कह कर पुकारता है और व्यंग्य में **आप** का प्रयोग करता है। पत्नी अपने पति के लिए **तुम** या **आप** का प्रयोग करती है, **तू** का कदापि नहीं (अपवाद के रूप में पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित आधुनिक परिवार है)।

किंतु यदि नियम तर्क संगत और वैज्ञानिक आधार पर बनाए जाएँ तो वे सभी संभावित स्थितियों में लागू हो सकते हैं। जैसे, पति-पत्नी परस्पर **आप-आप, तुम-आप, तुम-तुम, तू-तुम, तू-तू** का प्रयोग कर सकते हैं (और करते हैं), लेकिन जैन के एकत्रित प्रतिरूपों में यदि ये प्रयोग नहीं आए तो ये नियमबद्ध नहीं हो सकते, और भटनागर के सहज बोध में कुछ प्रयोग अपवाद बन कर रह जाएँगे। ऊपर दिखाया जा चुका है कि एक विकल्प के चार आयाम तो हो ही सकते हैं। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या कुछ ऐसे निर्धारक आधार निश्चित नहीं किए जा सकते जिससे किसी भी प्रयोग के 'सामान्य' रूप और 'विशिष्ट' प्रयोग तर्कसंगत के आधार पर स्पष्ट किए जा सकें ? इस अध्ययन में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि कुछ सुनिश्चित आधारों के द्वारा सभी प्रयोगों के सामान्य रूप और विशिष्ट प्रयोग और उनका एक दूसरे से संबंध प्रस्तुत किया जा सके। वैज्ञानिक आधार पर

बनाए गए नियमों में एक विशिष्टता तो रहेगी ही कि भाषा प्रयोग में जितना वैविद्धय होगा, नियम उतने ही अधिक सामान्यीकृत होंगे।

ऊपर (पृ० 142) में दिए गए कार्य के संदर्भ में ब्राउन और गिलमैन (1960) का नाम अवश्य आ जाता है। यह लेख यूरोपीय और कुछ भारतीय भाषाओं में मध्यम पुरुष सर्वनाम के प्रयोग का एक गहन और विचारोत्तेजक विश्लेषण है। इस लेख की धारणाओं के आधार पर कई भाषाओं के संदर्भ में इस प्रकार के अध्ययन हुए और हिंदी के लिए भी अधिकतर काम इसी लेख के आधार पर हुआ है।

प्रस्तुत लेख के लिए भी मूल प्रेरणा ब्राउन और गिलमैन के भगीरथ प्रयत्न द्वारा ही मिली। हिंदी की विशेष प्रवृत्ति के कारण उनकी धारणाओं का पूरा उपयोग नहीं हो पाया। उनकी कुछ धारणाओं से मतभेद भी है जिसका विवेचन उचित स्थान पर किया जा रहा है।

सर्वनाम में बहुवचन रूप का एकवचन में आदरार्थ प्रयोग करने की प्रवृत्ति लगभग सभी भाषाओं में पाई जाती है। ब्राउन और गिलमैन ने यूरोपीय भाषाओं में इस प्रचलन के दो कारण बताए हैं।

पहला कारण लोक विश्वास के आधार पर है। जब रोमन साम्राज्य दो भागों में विभाजित हो गया तो दो सम्राट अलग-अलग स्थान पर बैठने लगे किंतु जनता उनमें से किसी एक को संबोधित करते समय बहुवचन रूप का प्रयोग करने लगी जिससे दोनों सम्राटों के प्रति संबोधन निहित हो। धीरे-धीरे यह प्रयोग एक सम्राट के लिए और फिर उच्च कुलीन सामंतों आदि के लिए भी होने लगा।

लोक विश्वास पर आधारित दूसरा कारण यह भी बताया गया कि सम्राट् को सारे राज्य की शक्ति और बाहुल्य का प्रतीक माना जाता था। अतः उसके लिए बहुवचन रूप का प्रयोग ही उचित समझा गया। इसी भावना से प्रेरित होकर सम्राट् स्वयं अपने लिए भी प्रथम बहुवचन रूप का ही प्रयोग करते थे। सिकन्दर का दूत के रूप मे पोरस के दरबार में आना और हम प्रयोग करने पर पोरस द्वारा पहचाने जाने की किंवदंति तो सर्वविदित है ही।

इन लोक विश्वासों पर आधारित धारणाओं के कारण ब्राउन और गिलमैन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि एक व्यक्ति के लिए बहुवचन रूप का प्रयोग

उसमें निहित प्रभुत्व के आधार पर हुआ होगा। यहाँ प्रभुत्व का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। चाहे वह धन, आयु, ज्ञान, पद, स्थिति आदि किसी भी समाज स्वीकृत कारण से हो, किंतु इसमें मूल भावना यही है कि एक व्यक्ति में दूसरों के ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण रखने की क्षमता हो ओर वह क्षमता एक पक्षीय ही होगी। प्रभुत्व के कारण परस्पर वार्तालाप में सर्वनाम रूपों का असमान प्रयोग होगा।

आरेख—2
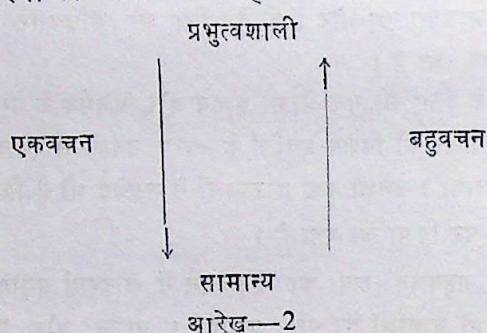
लेखकद्वय के अनुसार शक्ति का प्रथम बोध पिता में मिलता है और इस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन समकक्ष हो जाते हैं, क्योंकि सम्राट को प्रायः पिता तुल्य माना जाता है और पिता की स्थिति अपने परिवार में किसी सम्राट् से कम नहीं होती।

ब्राउन और गिलमैन का मत है कि प्रभुताजन्य असमान सर्वनाम-रूप के विनिमय संबंध स्थापित हो जाने के बाद परस्पर समभाव की भावना को अधिक महत्व दिया जाने लगा। इसके फलस्वरूप समान सर्वनाम-रूप विनिमय होने लगा। समभाव को भी विस्तृत अर्थ में लिया गया है और इसमें समान पद, आयु, धन, सामाजिक पारिवारिक स्थिति आदि के आधार पर उत्पन्न होने वाले मैत्रीपूर्ण भावों को सम्मिलित किया गया है। अधिकांश यूरोपीय भाषाओं के अध्ययन के आधार पर लेखकद्वय इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जिन द्विद्विक संबंधों में पहले शक्ति-जन्य बहुवचन-एकवचन रूपों का प्रयोग होता था वहाँ अब समभाव से प्रेरित होकर परस्पर एकवचन का प्रयोग होने लगा है जैसे—माता/पिता, पुत्र/पुत्री, मालिक/नौकर, बड़ा भाई/बहन-छोटा भाई/बहन आदि परस्पर एकवचन रूप का प्रयोग करते हैं।

किंतु हिंदी के व्यावहारिक संदर्भ में उक्त निष्कर्ष ठीक नहीं प्रतीत होते क्योंकि अभी हिंदी-भाषी समाज में ऊपर दिए गए संबंधों में प्रायः बहुवचन-

एकवचन का ही प्रयोग होता है और परस्पर एकवचन का प्रयोग अब बहुत ही सीमित क्षेत्र और विशेष संबंधों में ही किया जाता है।

इसके साथ ही ब्राउन और गिलमैन की यह धारणा भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि प्रभुत्व और समभाव के आयामों का क्रमशः विकास हुआ। वास्तव में प्रत्येक समाज में ये दोनों पक्ष सदा विद्यमान रहते हैं। केवल इनके सापेक्षिक महत्व की मात्रा कम या अधिक होती रहती है और इसी सापेक्षिक महत्व के आधार पर उचित सर्वनाम रूप का चयन होता है। आगे दिए गए विवरण द्वारा यह मत और भी स्पष्ट हो जाता है। हिंदी भाषी समाज की विशिष्ट प्रवृत्तियों के आधार पर ब्राउन और गिलमैन के 'प्रभुत्व' और 'समभाव' के स्थान पर 'सापेक्षिक प्रतिष्ठा' और 'सापेक्षिक व्यक्तिगत संबंध' के दो आयाम इस लेख में प्रयुक्त किए गए हैं। यूरोपीय सभ्यता के प्रतिस्पर्धात्मक परिवेश में प्रभुत्व उपयुक्त शब्द होगा, किंतु भारतीय संदर्भ में इसके लिए प्रतिष्ठा अधिक तर्क-संगत प्रतीत होती है। यह प्रयोग भी विस्तृत अर्थ में किया गया है। अर्थात् धन, गुण, कुल, जाति परिवार, पद आदि द्वारा होने वाली प्रतिष्ठा। समभाव के स्थान पर व्यक्तिगत-संबंध का चुनाव भी हिंदी भाषी समाज की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है, क्योंकि कई स्थितियों में परस्पर समभाव होने पर भी एकवचन का प्रयोग स्वाभाविक नहीं है जबकि व्यक्तिगत संबंध की मात्रा के कम या अधिक होने पर सर्वनाम रूप का चयन अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके लिए 'घनिष्ठता', आत्मीयता, सौहार्द्र, तादात्म्य, आदि शब्द भी प्रयुक्त किए जा सकते थे, किंतु इनमें 'व्यक्तिगत-संबंध' जैसा मूल्य-निरपेक्ष भाव नहीं आ पाता। (क्या यह प्रयोग उचित होगा कि 'औपचारिक स्थिति में **आप** का प्रयोग इसलिए किया जाता है, क्योंकि वक्ता और श्रोता में **तादात्म्य** बहुत कम है' ?)

इस अध्ययन की मूलभूत धारणा यह भी है कि सर्वनाम-चयन के इन दोनों पक्षों में अन्योन्याश्रित संबंध है। किसी भी सर्वनाम रूप का चयन इन दोनों पक्षों के सापेक्षिक महत्व की तुलना के बाद ही होता है। इस सिद्धांत को निम्नलिखित आरेख (पृ० 148) द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

इस आरेख में लंबात्मक-अक्ष समाज में प्रतिष्ठा पर आधारित स्तर-भेद का सूचक है जिससे ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, पंडित-अपंडित आदि के आधार

पर तुलनात्मक वर्ग बनते हैं। सामाजिक व्यवस्था में 'स्थितियों' और 'भूमिकाओं' की प्रतिष्ठा भी इसी अक्ष द्वारा दिखाई जा सकती है। समतल-अक्ष पर समाज में समानता-बोधक व्यक्तिगत संबंधों के परिणाम दिखाए जा सकते हैं। जिसमें एक छोर पर अन्य व्यक्ति के अस्तित्व के बारे में केवल बोध से लेकर घनिष्टतम आत्मीयता की स्थिति संभव है।
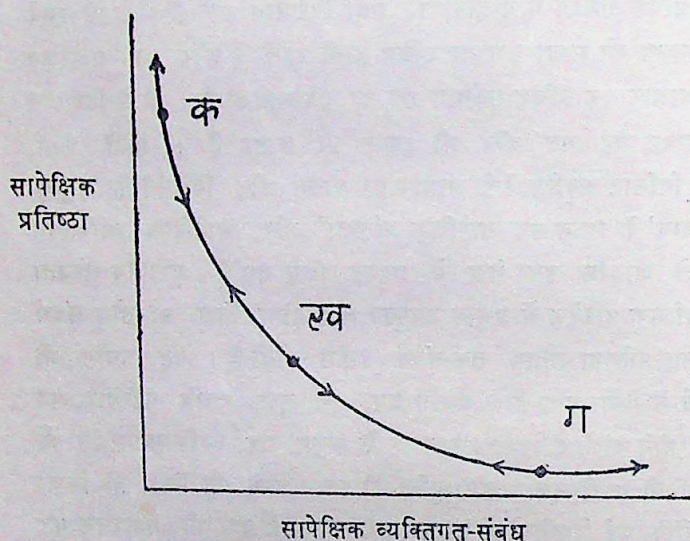
आरेख — 3

वक्र रेखा पर दोनों पक्षों की परस्पर तुलना के फलस्वरूप निर्धारित सर्वनाम रूप दिखाए जा सकते हैं। बाद में यह भी दिखाया गया है कि न केवल सर्वनाम अपितु संबोधन शब्दावली, भाषेतर व्यवहार की विशिष्ट भंगिमाओं के विकल्प भी इसी वक्र रेखा पर दिखाए जा सकते हैं।

वक्र रेखा के अविच्छिन्न रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषायी (और भाषेतर) विकल्पों का एक नैरंतर्य है जिस पर बदलते हुए सापेक्षिक महत्व-बोध के आधार पर कई प्रकार की स्थितियाँ संभव हो सकती हैं। इस रेखा पर तत्कालीन उपलब्ध रूप तो दिखाए ही जा सकते हैं, साथ ही एक जीवंत समाज और भाषा में उभरते हुए नए रूपों के लिए भी स्थान रहता है, क्योंकि उपलब्ध विकल्प कोई निश्चित या स्थायी कोटियाँ नहीं हैं। ये तो प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंध के सामंजस्य की कुछ संभावनाएँ हैं जिनके बीच में स्थान, काल, व्यक्तिविशेष के अनुसार अन्य विकल्प भी आ सकते हैं प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंध के आधार पर निर्धारित रूप केवल आरेख में बिंदु के रूप

में दिखाए गए हैं किंतु यथार्थ में इनका प्रयोग-क्षेत्र वक्र रेखा पर ऊपर और नीचे फैला रहता है। अर्थात् यह कहना कठिन है कि अमुक मात्रा में प्रतिष्ठा होने पर आप का प्रयोग होगा, क्योंकि अन्य विशेष स्थितियों में कम प्रतिष्ठा वाले के लिए भी आप का प्रयोग हो सकता है। इसीलिए इस आरेख तथा अन्य आरेखों में प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंध के **सापेक्षिक** अंश का महत्व अधिक है।

इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिए कि सर्वनाम रूप के चयन में इस बात का महत्व नहीं होता कि श्रोता की प्रतिष्ठा कितनी है, अपितु उसकी प्रतिष्ठा को उस समय कितना महत्व दिया जा रहा है, महत्व इस बात का होता है। इस दृष्टिकोण से यह लाभ है कि हम सर्वनाम प्रयोग का अध्ययन द्विदिक संबंधों या सामाजिक स्थिति/भूमिका एवं अन्य परि-स्थितियों की रूढ़िवद्ध सीमा से स्वतंत्र होकर कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि द्विदिक् संबंधों, सामाजिक स्थितियों आदि को नकार दिया जाए। यदि किसी विशेष स्थान या काल में सर्वनाम प्रयोग का अध्ययन करना हो तो ये आधार सहायक हो सकते हैं और इनके नियम भी अधिक स्पष्ट होंगे, किंतु ये नियम उसी स्थान/काल विशेष तक सीमित रहेंगे, उनको 'हिंदी में सर्वनाम प्रयोग के नियम' कहा भ्रामक होगा।

इस संबंध में एक महत्वपूर्ण तथ्य को याद रखना आवश्यक है कि आरेख का प्रकार्य सिद्धांत को प्रतिपादित करना है। यदि आरेख ठीक नहीं बना होगा तो कई बार सिद्धांत के बारे में भी भ्रम उत्पन्न हो सकता है। जैसे ब्राउन और फ़ोर्ड (1961) ने अमरीका में बोली जाने वाली अंग्रेजी में प्रयुक्त संबोधन शब्दावली की संभावित स्थितियों को एक सीढ़ी के रूप में दिखाया है :

**आरेख—4**
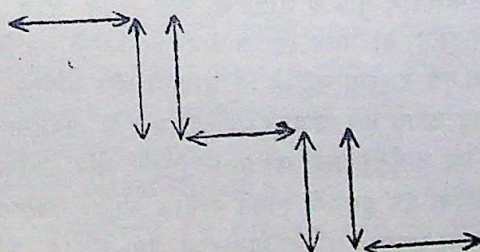
उक्त आरेख से यह प्रतीत होता है कि संबोधन-शब्दों की निश्चित कोटियाँ हैं जिसमें 'या यह, या वह' विकल्प ही संभव है और इनके बीच में कोई स्थिति नहीं हो सकती। किंतु किसी भी समाज में, चाहे वह कितना रूढ़िबद्ध क्यों न हो, इतना वैविध्य तो अवश्य रहता है कि उसके सभी सदस्यों के परस्पर संबंध को इस प्रकार निश्चित कोटियों में नहीं बाँधा जा सकता। जहाँ पर संबंध स्पष्ट नहीं हो पाते, वहाँ वक्ता अन्य साधनों द्वारा नए संबोधन विकल्प ढूंढने का यत्न करता है। इस प्रकार की स्थिति मध्यमपुरुष सर्वनाम में स्पष्ट हो जाती है। पृष्ठ 148 की आरेख की वक्र रेखा पर इस प्रकार के नए प्रयोग भी भाषायी व्यवस्था के अंतर्गत दिखाए जा सकते हैं।

ब्राउन और गिलमैन के अतिरिक्त अन्य कई विद्वानों ने कुछ अन्य निर्धारक आधार दिए हैं जिनका विवेचन यहाँ आवश्यक है। पाउल फ्रीडरिख़ (1966) ने रूसी सर्वनाम प्रयोग के संदर्भ में दस आधार लिये हैं जैसे सामाजिक संदर्भ, प्रतिभागियों की विशिष्टता, वार्तालाप का विषय, बोली की विशेषता आदि। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये आधार सर्वनाम रूप के चयन की प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं, किंतु साथ ही ये इन पर आधारित नियमों की क्षमता को भी सीमित कर देते हैं। इसके अलावा ये **स्थितियाँ** हैं; **निर्धारक आधार** नहीं। मूलभूत आधार फिर भी प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंध ही रहेंगे। उदाहरण के लिए, फ्रीडरिख़ के दो आधार, सामाजिक संदर्भ और वार्तालाप का विषय, लें। औपचारिक संदर्भ या औपचारिक वार्तालाप वही होगा जिसमें व्यक्तिगत संबंध को कम महत्व दिया जाए और प्रतिष्ठा को अधिक। इसी प्रकार यदि किसी बोली विशेष में किसी संबंध या स्थिति में परस्पर प्रतिष्ठा को अधिक महत्व दिया जाता है (जैसे लखनऊ या हैदराबाद में संबोधन में **आप** के अतिरिक्त कोई मध्यम पुरुष एकवचन रूप प्रयुक्त ही नहीं होता) तो निर्धारक आधार प्रतिष्ठा है, न कि बोली। इस लेख की आधारभूत मान्यता यही है कि भाषायी और भाषेतर तत्व मिलकर अर्थ का पूर्णबोध कराते हैं। लखनऊ या हैदराबाद में सर्वनाम रूप के साथ अन्य भाषायी एवं भाषेतर तत्वों का प्रयोग (पहले आप, आदाब, एक दूसरे के गुलाम, ख़ादिम, एक दूसरे के सामने नाचीज़ आदि) प्रतिष्ठा के आधार पर ही समझा जा सकता है। यहाँ पिता-पुत्र, प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी सभी परस्पर **आप** का प्रयोग करते हैं। 'यहाँ तक कि 'आप गधे हैं' और 'आप गधे

के बच्चे हैं' । इस संदर्भ में जैन और भटनागर के नियमों की सीमा स्पष्ट हो जाती है ।

सूज़न एरविन-ट्रिप (1969) ने ज्योज-हेगन के कम्प्यूटर-फ्लो चार्ट के आधार पर अमरीका में प्रयुक्त संबोधन शब्दावली के संदर्भ में निर्धारक आधार दिए हैं । अमरीकी परिवेश में इसके निष्कर्ष कितने उपयुक्त हैं, यह सवाल उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि इन आधारों के द्वारा हम अन्य (विशेष रूप से हिंदी भाषी) समाज की प्रवृत्ति को किस मात्रा तक पकड़ पाते हैं । बहुगुणा (1974) ने इसका प्रयोग हिंदी संबोधन-शब्दावली के लिए किया है । किंतु इस रूप में इस चार्ट को अन्य भाषायी या भाषेतर तत्वों के साथ संबध नहीं किया जा सकता । इसके अलावा संबोधन शब्दावली के कई उपलब्ध विकल्प इस चार्ट में नहीं आ पाए हैं । [तुलना के लिए देखिए बहुगुणा (1974)]

इसके विपरीत जैन (1973) ने एक ही निर्धारक आधार माना है— 'संदर्भगत सामाजिक अंतर' और ब्राउन और गिलमैन के प्रभुत्व एवं समभाव के आधारों को इसी आधार के दो पक्ष माना है । वैज्ञानिक अध्ययन की परि-पाटी के अनुसार दो आधारों का एक में समाहित हो जाना लाभदायक माना जाता यदि विवेचनात्मक सामर्थ्य उतना ही रहता । किंतु ऐसा प्रतीत नहीं होता । जैन के अनुसार सर्वनाम के दो अर्थ हैं—भाषिक और संदर्भगत । विशेष द्विदिक संबंधों में सामान्यरूप से प्रयुक्त होने वाले रूप सर्वनाम के भाषिक अर्थ को प्रकट करते हैं । इस सामान्य प्रयोग से विचलित रूप, संदर्भ-गत अर्थ का बोध कराते हैं । जैसे, पुत्र का पिता को **आप** द्वारा संबोधित करना भाषिक अर्थ को स्पष्ट करना है और इससे (+औपचारिक+आदर) अभिलक्षण सामने आते हैं । किंतु जब पिता पुत्र को **आप** द्वारा संबोधित करता है तो (+व्यंग्य) अभिलक्षण विशेष संदर्भ का सूचक है । जैन के अनुसार इनका निर्धारण 'सामाजिक अंतर' द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।

इस प्रकार जैन के अनुसार एक सर्वनाम रूप के दो 'अर्थ' हो सकते हैं । इनका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है ।

वस्तुतः एक कोटि के विकल्पों (जैसे-तू, तुम, आप आदि) का भाषिक अर्थ है—'मध्यमपुरुष एक वचन' । तू, तुम, आप आदि इस अविकारी रूप के संदर्भगत रूप भेद हैं । अर्थात् ये समाज के विभिन्न संदर्भों द्वारा परिभाषित होते हैं । ये परिस्थितियाँ क्या हैं, इसके बारे में भिन्न मत पहले

बताए जा चुके हैं। ब्राउन और गिलमैन, पाउल फ्रीडरिख़, सूजन एरविन ट्रिप, जैन, भटनागर एवं दासवानी ने विशिष्ट संबंधों अथवा स्थितियों को आधार बनाया है। अतः इनमें प्रचलित रूप सामान्य 'अर्थ' के बोधक हैं और इनसे विचलन 'व्यंग्यार्थ' या 'विशिष्ट अर्थ' का। वास्तव में ये एक रूप के दो 'अर्थ' न होकर दो 'प्रयोग' हैं। एक प्रयोग जिसमें संबंधों का सामंजस्य बना रहता है और दूसरा जिसमें जान-बूझकर अथवा अज्ञानवश निर्धारित आधारों के सापेक्षिक महत्व को कम या अधिक कर दिया जाता है। इसका विस्तृत विवेचन बाद में किया गया है। अतः यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि सर्वनाम प्रयोग के 'विचलन' को इस परिप्रेक्ष्य में देखने से नियम अधिक स्पष्ट और सक्षम हो जाते हैं।

संभाषण में सबसे अधिक आवृत्ति सर्वनामों की होती है। सर्वनामों में सबसे अधिक प्रयोग मध्ययपुरुष सर्वनाम का होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मध्यमपुरुष सर्वनाम सबसे अधिक संवेदनशील होते हैं, किंतु हिंदी में अन्यपुरुष और प्रथमपुरुष सर्वनाम के विभिन्न विकल्प भी महत्वपूर्ण हैं और इनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया है। अन्य भाषाओं के आधार पर हिंदी में भी अधिकतर अध्ययन केवल मध्यमपुरुष सर्वनाम तक ही सीमित रहे हैं। मध्यमपुरुष सर्वनाम में कई प्रकार की जटिलताएँ हैं। बहुवचन के दो रूप **तुम** और **आप** का एकवचन में प्रयोग होता है। यदि बहुवचन को एकवचन में आदरार्थ प्रयोग किया जाता है तो इन दोनों का प्रयोग आदर प्रकट करने के लिए होना चाहिए किंतु वास्तव में ऐसा होता नहीं है।

सर्वनाम के साथ क्रिया के अन्वित होने के कारण सर्वनाम-रूप और क्रिया-रूप के कई संयुक्तक प्रचलित हैं और इनके बारे में काफ़ी मतभेद हैं।

प्रायः सभी भाषाओं में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि सर्वनाम में एकवचन रूप का प्रयोग सामान्य रूप से होता है और बहुवचन रूप का एकवचन में प्रयोग आदर प्रकट करने के लिए किया जाता है। हिंदी में मूलतः दो रूप थे—एकवचन में **तू** और बहुवचन में **तुम**। **आप** का प्रयोग अपेक्षाकृत बाद में आरंभ हुआ। तिवारी (1966) के अनुसार इसका प्रथम व्यापक प्रयोग भक्तिकाल में मिलता है, विशेष रूप से कबीर में और वह भी ईश्वर को संबोधित करने के लिए।

विद्वानों में इस बात पर भी मतभेद है **आप** की व्युत्पत्ति कैसे हुई, इसलिए यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मूलतः यह मध्यम

पुरुष, एकवचन है अथवा बहुवचन या अन्य पुरुष का एकवचन अथवा बहुवचन है। निजवाचक में भी यही रूप प्रयुक्त होने के कारण यह समस्या और भी जटिल हो जाती है।

व्युत्पत्ति के बारे में यह स्पष्ट मत न होते हुए भी हिंदी-भाषी समाज में इसके विशिष्ट प्रयोग के आधार पर **आप** के अर्थ क्षेत्र के विस्तार पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। यह तो निश्चित ही है कि एक आदरसूचक बहुवचन रूप **तुम** के रहते हुए भी आप का प्रयोग इसलिए आरंभ हुआ होगा, क्योंकि भक्तिकाल में ईश्वर के सर्वशक्तिमान रूप को संबोधित करने के लिए **तुम** में निहित सामान्य आदर तत्व पर्याप्त न रहा होगा। इसके साथ ही यह वह सर्वव्यापक भी है। अर्थात् उसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में संबोधित किया जा तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि हिंदू समाज में ईश्वर के कई रूप माने गए हैं और सकता है। इसलिए मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष के एकवचन और बहुवचन में इसका प्रयोग स्वाभाविक था। किंतु क्रिया की अन्विति से स्पष्ट हो जाता है कि इसका मूल रूप बहुवचन सूचक ही है।

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी व्यवस्था के घटकों का प्रकार्य उस व्यवस्था के साम्य को बनाए रखना है। भाषा की एक व्यवस्था है और उसके घटक भी यही कार्य करते हैं। किंतु जब कोई नया घटक व्यवस्था में आ जाए तो अन्य घटकों के परस्पर संबंधों और उनके निजी अस्तित्व में कुछ फेर बदल होना स्वाभविक है। हिंदी के सर्वनामों की व्यवस्था में आप का प्रयोग आरंभ होने के बाद कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

भाषायी नियमों के अनुसार एकवचन रूप **तू** का प्रयोग सामान्य श्रोता के लिए होना चाहिए था और बहुवचन रूप **तुम** का आदर के लिए। यह अनुमान कि आप का प्रयोग (ईश्वर की) अत्यधिक प्रतिष्ठा के लिए आरंभ हुआ, सही प्रतीत होती है, क्योंकि **आप** के प्रयोग के बाद **तुम** और तू में प्रतिष्ठा तत्व का ह्रास हो गया है। इस समय स्थिति यह है कि प्रतिष्ठा-आधार पर तू का प्रयोग लगभग समाप्त हो गया है। **तुम** में भी आदर तत्व इतना कम हो गया है कि समान्यतः हिंदी के व्याकरणों में यह बताया जाता है कि यह रूप बराबर वालों के लिए प्रयुक्त होता है, अर्थात् जो प्रकार्य एकवचन **तू** का था वह अब बहुवचन **तुम** का हो गया है। इस भ्रम

की पराकाष्ठा यह है कि दासवानी (1971 : 60-63) हिंदी में केवल दो रूप मानते हैं—बहुवचन में **आप** और एकवचन में **तुम**।

**तू, तुम, आप** परंपरागत रूप हैं और इनके रूढ़िबद्ध अर्थ और प्रयोग हैं, किंतु समाज के सभी संबंधों को पूर्वनिश्चित प्रतीकों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता, इसके लिए प्रायः नए रूपों का जन्म होता है। हिंदी में तीनों रूपों के साथ क्रिया की अन्विति होने के कारण कई नए संयुक्त भी पाए जाते हैं। इस समय हिंदी में मध्य पुरुष एकवचन में निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | आप | आइएगा | 5. | तुम | आना |
| 2. | आप | आइए | 6. | तुम | आओ |
| 3. | आप | आना | 7. | तू | आना |
| 4. | आप | आओ | 8. | तू | आइओ ~ (अइओ) |
| | | | 9. | तू | आ |

(2) (6) और (9) को छोड़कर अन्य रूपों के बारे में कई प्रकार के पूर्वाग्रह और भ्रांतियाँ हैं। अधिकांश हिंदी व्याकरण तो प्रायः इन्हें अशुद्ध प्रयोग कह कर छोड़ देते हैं। जैन (1973) के अनुसार (5) और (7) में (6) और (9) की अपेक्षा कुछ भविष्यकाल बोधक तत्व हैं। केलॉग के अनुसार (5) का प्रयोग उस स्थिति में होता है जब तात्कालिक अनुक्रिया की अपेक्षा न हो। गंपर्ज़ (1962) (5) को (2) और (6) के मध्य रखते हैं।

किंतु विभिन्न हिंदी भाषियों के विचार और प्रयोग के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि (2) (6) और (9) की अपेक्षा (1) (3) (5) (7) और (8) में कुछ भविष्यकाल का बोध तो संदर्भ के अनुसार हो ही जाता है, किंतु तात्कालिक वर्तमान में इनका प्रयोग कुछ अधिक अनुरोध (और इसलिए कुछ अधिक प्रतिष्ठा) का पुट लिये रहता है।

परंपरागत हिंदी व्याकरण के अनुसार (2) (6) (9) को छोड़कर अन्य रूप अशुद्ध माने जाएँगे, किंतु भाषा को परिमार्जित करने के महाप्रयत्न के बावजूद ये रूप प्रयुक्त होते हैं और इनके पीछे भाषागत अज्ञान नहीं, सामाजिक आवश्यकता और समाजभाषावैज्ञानिक सिद्धांत हैं। आदेशात्मक व्याकरण ऐसे वाक्यों को अशुद्ध बता सकते हैं, किंतु विवरणात्मक व्याकरण में औचित्यवाद के सिद्धांत द्वारा इन प्रयोगों के भाषायी एवं सामाजिक

औचित्य का तर्कसंगत आधार देना आवश्यक है। व्याकरणिक नियम बनाते समय यह महत्वपूर्ण तथ्य भुला दिया जाता है कि भाषा के नियम किसी नैसर्गिक, ईश्वरीय अथवा दैविक महाशक्ति के अध्यादेश द्वारा नहीं बनते। भाषा के सामान्य प्रयोग को सुव्यवस्थित करने के लिए व्याकरण के नियम बनते हैं। किसी एक विशेष वर्ग, क्षेत्र, स्थान की प्रतिष्ठा के कारण ये नियम प्राय: अनुकरणीय मान लिये जाते हैं, किंतु इनका आधार शैक्षिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक प्रभुत्व होता है, भाषा का आंतरिक गुण नहीं।

अत: समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन समाज में व्यवहृत भाषा के सभी रूपों का अध्ययन करता है। हिंदी भाषा समाज में उपर्युक्त सभी रूप प्रयुक्त होते हैं। इन्हें प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंध के निर्धारक आधारों के संबंध में निम्नलिखित आरेख द्वारा स्पष्ट किया गया है।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | आप | आइएगा | 5. | तुम | आना |
| 2. | आप | आइए | 6. | तुम | आओ |
| 3. | आप | आओ | 7. | तू | आना |
| 4. | आप | आना | 8. | तू | आइओ |
| | | | 9. | तू | आ |

आरेख—5
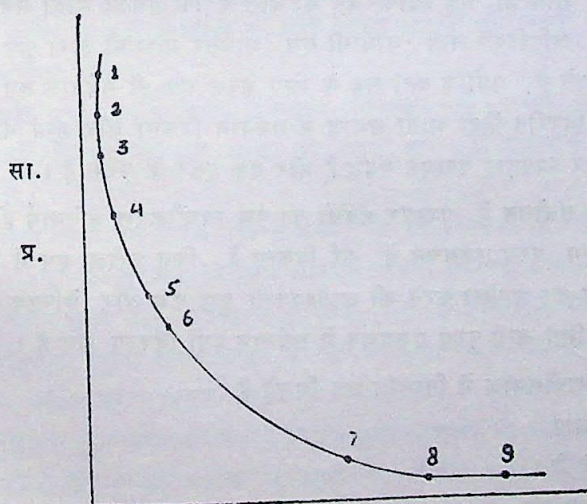
मध्यम पुरुष एकवचन में इतने अधिक विकल्प होना अस्वाभाविक नहीं है। समाज के बदलते हुए मूल्यों के अनुसार संभाषण के औचित्य का पालन करने के लिए वक्ता विकल्प-नैरंतर्य में ही उचित रूप का चयन या निर्माण करता है। हिंदी में संज्ञा/सर्वनाम और क्रिया के अन्वित रूपों के विभिन्न संयुक्तकों द्वारा कुछ नए रूप उभर आए हैं।

प्रायः देखा गया है कि जिस समाज में प्रतिष्ठा सप्रयत्न प्राप्त की जाती है वहाँ संबोधन के विकल्प बहुत थोड़े होते हैं और उनका अर्थ क्षेत्र विस्तृत होता है, किंतु जिस समाज में प्रतिष्ठा विभिन्न आधारों पर जन्मजात मिलती है वहाँ संबोधन शब्दावली और सर्वनाम रूप संख्या में बहुत अधिक होते हैं और इनका अनुस्तरण भेद सूक्ष्म और जटिल होता है। इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग उसी समाज के सदस्य 'संप्रेषण क्षमता' के आधार पर स्वाभाविक रूप से कर लेते हैं, किंतु अन्य लोगों को इसका प्रयोग सीखने में काफ़ी कठनाई होती है। पहली स्थिति का उदाहरण अंग्रेजी भाषी समाज है और दूसरी का हिंदी, रूसी, जावा, जाफ़ना तमिल (करुणातिल्के एवं सुसीन्दीराजा : 1975) भाषी आदि हैं।

इसके साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि अंग्रेजी भाषी समाज में सर्वनाम के अतिरिक्त अन्य भाषायी एवं भाषेतर माध्यमों द्वारा कुछ सूक्ष्म भेद किए जाते हैं, क्योंकि वहाँ सब के लिए केवल एक ही सर्वनाम रूप है—**यू**। इसके विपरीत हिंदी भाषी समाज में सर्वनाम विकल्प और अन्य भाषायी और भाषेतर व्यवहार परस्पर संबद्ध हैं और एक दूसरे के पूरक हैं।

प्रत्यक्ष संबोधन में परस्पर संबंधों का पूर्ण स्पष्टीकरण अनिवार्य होने के कारण मध्यम पुरुष एकवचन में कई विकल्प हैं, किंतु परोक्ष रूप में किसी अन्य व्यक्ति का उल्लेख करने की आवश्यकता कुछ कम और ऐच्छिक होती है, और इसलिए अन्य पुरुष एकवचन में सर्वनाम रूपों विकल्प कम हैं।

हिंदी भाषीसमाज में निम्नलिखित मिलते हैं :—

1. आप
2. वे/ये
3. वह/यह

सर्वनाम प्रयोग पर किए गए अधिकांश अध्ययन मध्यमपुरुष एकवचन के रूपों का ही विश्लेषण करते हैं। यह स्थिति आश्चर्यजनक है, क्योंकि यदि
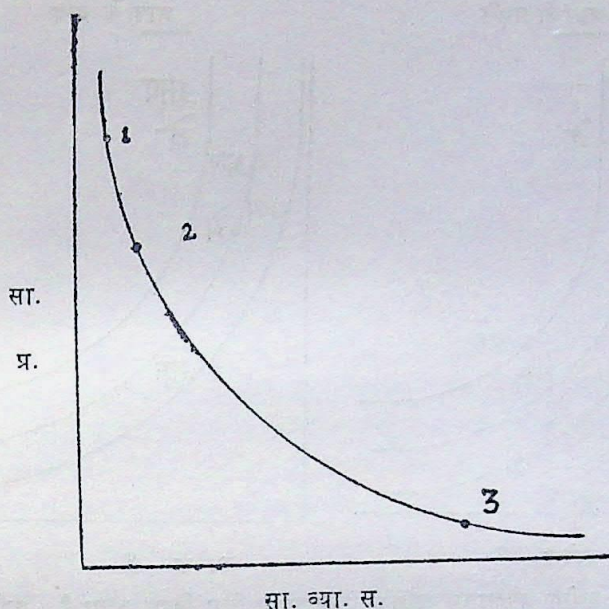
आरेख—6

भाषा प्रयोग की पूरी व्यवस्था को नहीं समझा जाएगा तो उसके नियम अधूरे और संदिग्ध रहेंगे।

यदि अन्य पुरुष एकवचन में प्रयुक्त विकल्पों की तुलना मध्यम पुरुष एकवचन के विकल्पों के साथ की जाए तो कई महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं।

आप का प्रयोग आरंभ होने से अन्य पुरुष की व्यवस्था में भी परिवर्तन हुआ। इसमें भी दूरवर्ती (वे/वह) और निकटवर्ती (ये/यह) विकल्पों में अंतर है। मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष (दूरवर्ती एवं निकटवर्ती) के विकल्पों में परिवर्तन की तुलना निम्नलिखित आरेखों में दिखा कर उसका स्पष्टीकरण करना अधिक सरल रहेगा।

आरेख-7 में आप का प्रयोग आरंभ होने से पहले की स्थिति की कल्पना की गई है और दाहिने आरेख में आप का प्रयोग आरंभ होने के बाद की वर्तमान व्यवस्था को दिखाय गया है।

मध्यम पुरुष में तुम में प्रतिष्ठा तत्व बहुत कम हो गया है और आप का प्रयोग थोड़ी-सी प्रतिष्ठा के लिए भी हो जाता है। निकटवर्ती अन्य पुरुष
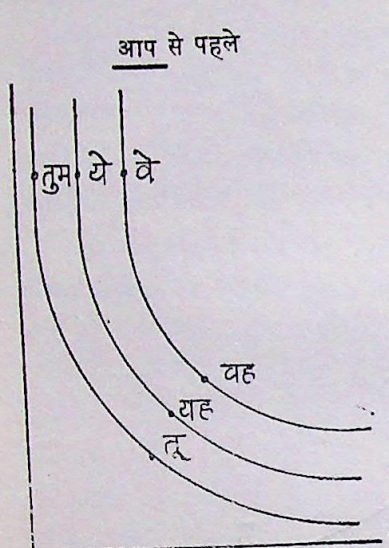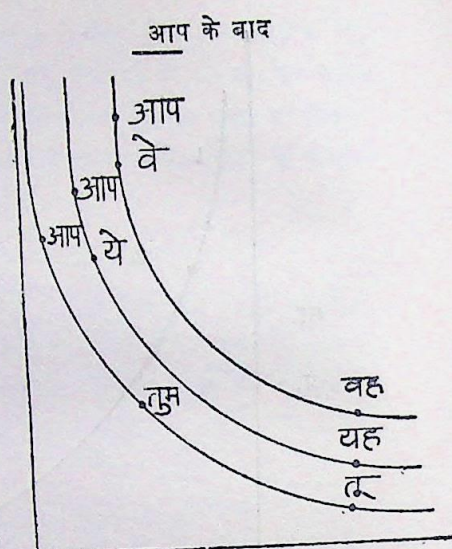
आरेख—7 आरेख—8

में **आप** का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है, क्योंकि **वे** में—स्वयमेव पर्याप्त प्रतिष्ठा बोधक गुण हैं। दूरवर्ती अन्य पुरुष में **आप** का प्रयोग तभी किया जाता है जब अत्यधिक प्रतिष्ठा देनी हो अन्यथा **वे** ही पर्याप्त प्रतिष्ठा द्योतक है।

दोनों आरेखों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य पुरुष में **तुम** और **तू** से समान लगभग बराबरी और हीनता प्रदर्शित करने के लिए अलग विकल्प नहीं हैं। इसमें **वह/यह** के द्वारा अपने बराबर और अपने से हीन का उल्लेख किया जा सकता है।

मध्यम पुरुष में अन्य विकल्प भी प्रयुक्त होने लगा है, किंतु अन्य पुरुष में ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मध्यम पुरुष सर्वनाम सीधे संभाषण में प्रयुक्त होते हैं। अतः परस्पर प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंधों में जरा सी भी चूक हो जाने पर वक्ता और श्रोता की स्थित नाजुक हो सकती है। अतः परस्पर संबंधों को असंदिग्ध रूप से प्रकट करने के लिए अनेक विकल्प बन गए हैं। अन्य पुरुष में इस प्रकार की अनिवार्यता न होने के कारण विकल्प भी सीमित हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि अधिकांश हिंदी के व्याकरणों में मध्यम पुरुष में बराबर वालों के लिए प्रयुक्त रूप **तुम** ही है। किंतु हिंदी

भाषी समाज में पत्नी पति को, पुत्री/पुत्र माता को प्रायः **तुम** द्वारा भी संबोधित करती है। हिंदी व्याकरण के नियम अनुसार परस्पर **तुम** का प्रयोग करने वाले वक्ता और श्रोता में बराबर का संबंध है। भाषा की व्यवस्था का एकांगी अध्ययन शायद इस बात की पुष्टि कर दे, किंतु सर्वांगीण अध्ययन करने पर निष्कर्ष कुछ और ही निकलते हैं। उक्त स्थितियों से **तुम** का संबोधन सीधे वार्तालाप में होगा. किंतु परोक्ष में पत्नी पति का उल्लेख करते समय '**वह/यह**' का प्रयोग नहीं करेगी और न ही पुत्र/पुत्री अपनी माता के यिए **वह/यह** का प्रयोग करेंगे। एक संभाव्य स्थिति यह भी हो सकती है कि इन स्थितियों में भी **वह/यह** का प्रयोग न हो। इन दोनों स्थितियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि **तुम** का प्रयोग केवल बराबर वालों के लिए नहीं, अपितु कुछ प्रतिष्ठा ज्ञापन के लिए भी होता है। मूल रूप से बहुवचन होने के कारण **तुम** में आदर भाव निहित है। किंतु **आप** का प्रयोग अधिक विस्तृत हो जाने के कारण इसका प्रतिष्ठा बोधक रूप क्षीण हो गया है।

एक ही भाषा में समान प्रकार्य और समान स्थिति वाले घटकों के अथ क्षेत्रों में इतना अधिक और भिन्न प्रकार का परिवर्तन उस भाषायी समाज की विशेष प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। मध्यम पुरुष एवं अन्य पुरुष में सर्वनाम रूपों के असमान श्रेणी के विकल्पों का चयन प्रत्यक्ष और परोक्ष व्यवहार का अंतर दिखाता है। सामाजिक अनिवार्यता के कारण वक्ता एक विशेष श्रोता के लिए प्रत्यक्ष में आदर सूचक **आप** का प्रयोग करता है, किंतु परोक्ष में वक्ता के सामने दो विकल्प हैं—सार्वजनिक संदर्भ में वह उसी व्यक्ति के लिए संभवतः **वे** का प्रयोग करे, किंतु सामान्य परिस्थिति में यह आवश्यक नहीं कि वह उसके लिए वे आदि आदरार्थ सर्वनाम प्रयुक्त करे। अनौपचारिक पर्यवेक्षण से तो यही सिद्ध होता है कि कुछ विशिष्ट अपवादों को छोड़ कर प्रायः दूरवर्ती अन्य पुरुष एकवचन में वह का प्रयोग होता है। अतः नेताओं, शक्ति संपन्न पदाधिकारियों, अध्यापकों आदि के लिए प्रत्यक्ष में मध्यम पुरुष एकवचन में आदरसूचक **आप** का प्रयोग होता है, किंतु परोक्ष में अन्य पुरुष एकवचन का सामान्य रूप **वह** प्रयुक्त होता है। इस प्रकार का अंतर संबोधन-शब्दावली में भी पाया जाता है।

इस प्रवृत्ति से हिंदी भाषी समाज के सामाजिक और समाजभाषावैज्ञानिक पक्ष को समझने में सहायता मिलती है। यह स्पष्ट है कि प्रतिष्ठा का ज्ञापन सामाजिक आवश्यकता के लिए ही होता है। व्यक्ति विशेष के गुणों की अपेक्षा उसकी प्रतिष्ठा का बोध कराने के लिए प्रत्यक्ष में आदरसूचक सर्व-

नाम रूप (और अन्य संबोधन शब्दावली) का प्रयोग होता है। अत: केवल **आप** संबोधन से यह स्पष्ट नहीं होता कि संबोधन व्यक्ति आदर योग्य है; केवल विशेष परिस्थिति में वक्ता विशेष रूप से निहित स्वार्थ अथवा सामाजिक परंपरा से विवश होकर **आप** का प्रयोग करता है जिससे श्रोता इस सर्वनाम रूप में निहित समाज स्वीकृत आदर भाव से प्रभावित हो सके।

व्यक्तिगत स्तर पर इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। वक्ता किसी भी सर्वनाम विकल्प का चयन संबोधित व्यक्ति की सामाजिक स्थिति/भूमिका और इनके महत्व के अनुसार करता है। यदि वह प्रत्यक्ष संबोधन में आदर सूचक **आप** का प्रयोग करता है तो इतना तो स्पष्ट है कि उसकी अपनी स्थति/भूमिका श्रोता की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण है। इस असमान संबंध के कारण उत्पन्न हीन भाव को वह परोक्ष रूप से कम प्रतिष्ठा एवं अधिक व्यक्तिगत संबध सूचक **वह** का प्रयोग कर, अपनी ओर से कुछ सीमा तक (और उस क्षण में) अपने और संबोधित व्यक्ति में समानता ले आता है।

इतना ही नहीं, यदि दोनों व्यक्तियों में किसी प्रकार का द्वेष अथवा प्रतिस्पर्धा भी हो, तो वक्ता अपने आप को संबोधित व्यक्ति से अधिक ऊँचा बनाने के लिए परोक्ष में अपशब्दों, हीनता सूचक शब्द प्रतीकों अथवा भाषेतर भंगिमाओं (मुँह बिचकाना अथवा अपनी आवाज में कटुता के भाव लाना) का प्रयोग करता है। चलचित्र 'रंजनीगंधा' में नाट्य द्वारा अपने सहयोगी के लिए 'साला रंगानाथन तो रह ही गया', का प्रयोग अपने आपको उससे अधिक अच्छा बताने के लिए ही किया गया है। इसी प्रकार के प्रयोग जिनमें प्रत्यक्ष में **आप**, परोक्ष (सामान्य) में **वह**, और परोक्ष (द्वेष) में **साला** आदि कम लोकप्रिय या अधिक दबदबे वाले अफ़सर, नेता, अध्यापक आदि के लिए प्राय: मिलते हैं।

मध्यम पुरुष एकवचन और अन्य पुरुष एकवचन की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी भाषी समाज में आदर सूचक बहुवचन रूप का एक-वचन में प्रयोग संबोधित व्यक्ति में निहित प्रतिष्ठा के ज्ञापन के लिए अवश्य होता है, किंतु यदि प्रतिष्टा स्वाभाविक एवं सर्वमान्य होगी तो मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष के सर्वनाम रूपों में समानता रहती है, अन्यथा मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष में अंतर हो जाता है।

संभाषण में वक्ता अपने लिए भी सर्वनाम का प्रयोग करता है। इनमें भी उचित चयन के लिए निर्धारण आधार वे ही हैं जो मध्यम पुरुष

और अन्य पुरुष में काम आते हैं, अर्थात् प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंध। प्रथम पुरुष एकवचन में तीन विकल्प मिलते हैं—**अपन, हम** और **मैं**। इनके अर्थ-क्षेत्र असंदिग्ध रूप से निश्चित नहीं किये जा सकते, क्योंकि हिंदी-भाषियों एवं भाषाविदों में इस बात को लेकर तीव्र मतभेद हैं कि किस रूप से प्रतिष्ठा या व्यक्तिगत संबंध का बोध होता है। वस्तुतः दोनों दृष्टिकोण एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं। एक मत के अनुसार बहुवचन रूप का प्रयोग समूह के साथ संबद्ध होने के कारण वक्ता को सामान्य से अधिक प्रतिष्ठा देता है। दूसरे मत के अनुसार बहुवचन प्रयोग द्वारा वक्ता का व्यक्तिगत संबंध समूह के साथ स्थापित हो जाता है और उसकी निजी प्रतिष्ठा (अहम्) का महत्व कम हो जाता है। (देखिए, कालरा, 1974) इस अध्ययन में पहले दृष्टिकोण के अनुसार ही तीन उपलब्ध रूपों का अर्थ-क्षेत्र निर्धारित किया गया है। यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रथम पुरुष सर्वनाम का विश्लेषण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। कदाचित् विस्तृत सर्वेक्षण और गहन विश्लेषण द्वारा ही इस समस्या का समाधान संभव है।

**अपन** (या अपने राम) आदि का प्रयोग तभी होता है जब वक्ता अपने आप को अन्य पुरुष के रूप में दिखाकर प्रतिष्ठा दिलाना चाहता है। जैसे, अपन गए। अपन तो बैठे हैं। अपने राम को क्या परवाह है? अपन को कोई मतलब नहीं। इस प्रयोग की विशेषता यही है कि वक्ता अपने अहम् का प्रक्षेपण अन्य पुरुष के रूप में करता है और इसके साथ क्रिया के बहुवचन रूप का प्रयोग करता है जो कि एकवचन कर्ता के साथ प्रयुक्त होने के कारण आदर का संकेत देता है।

कई लोगों का मत है कि यह रूप केवल बोली विशेष में पाया जाता है और इसका कोई सामाजिक महत्व नहीं है। यह धारणा तभी ठीक मानी जा सकती है जब एक विशेष बोली-क्षेत्र में तीनों ही विकल्प प्रयुक्त होते हों और वक्ता तीनों का प्रयोग यादृच्छिक ढंग से कर सकता हो। किंतु ऐसी स्थिति है नहीं। हिंदी भाषी समाज के पूर्ववर्ती छोर (बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश) एवं मध्य प्रदेश में **अपन** का प्रयोग सामान्यतः होता है, किंतु इसके प्रयोग द्वारा वक्ता का मंतव्य क्या है, यह निश्चित करने के लिए पर्याप्त मात्रा में सामग्री और समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता है।

प्रथम पुरुष एकवचन में दूसरा और अधिक सामान्य विकल्प **हम** है। इसमें भी प्रतिष्ठा का तत्व बहुत है। जैसे, राजा, महाराजा, सामंतों आदि

द्वारा किए गए प्रयोग 'यह हमारा हुक्म है' 'हम कहते हैं' आदि। इसमें अपनी सामाजिक स्थिति के अनुरूप वक्ता अपनी प्रतिष्ठा को जतलाने के लिए हम का प्रयोग करता है। धनी-मानी, उच्च कुलीन वर्गों में भी वक्ता अपने लिए **हम** का ही प्रयोग करता है। **हम** के इस प्रयोग में निजी प्रतिष्ठा का बोध रहता है और उसी के अनुरूप वह अपने लिए आदर सूचक **हम** का प्रयोग करता है। यथा, यूनियन के नेता, समाचार पत्र के संपादक, सरकार अथवा सरकारी प्रतिष्ठानों के अधिकारी, संस्थाओं के प्रधान आदि प्रायः अपने लिए **हम** का प्रयोग करते हैं। कवि और लेखक आदि भी अपने आपको वर्ग क्षेत्र, देश या मानवता के प्रवक्ता अथवा प्रतिनिधि मानकर **हम** का प्रयोग करते हैं।

पारिवारिक संदर्भ में भी सामूहिक शक्ति आदि का बोध कराने के लिए वक्ता **हम** का प्रयोग एकवचन में करता है। 'तुमने हमारा उद्धार कर दिया', 'तुमने हमें कहीं का न छोड़ा', 'तुमने हमारी नाक कटवा दी' आदि।

अतः प्रथम पुरुष एकवचन में **अपन** और **हम** दोनों ही प्रतिष्ठा सूचक हैं, किंतु इनमें अंतर है। **अपन** में समूह से अलगाव या पार्थक्य है और प्रथम पुरुष का अन्य पुरुष में प्रक्षेपण है, जब कि **हम** में समूह की भावना निहित है।

**हम** अन्य बहुवचन सर्वनाम रूपों से एक और प्रकार से भी भिन्न है। अन्य बहुवचन रूपों का प्रयोग यथार्थ में एक से अधिक के लिए किया जाता है, किंतु बहुवचन **हम** का प्रयोग एक से अधिक के लिए होने पर भी एक ही व्यक्ति द्वारा होता है। जैसे, 'हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अपराधी निर्दोष है' या 'जब तक हमारी माँगें नहीं मानी जाएँगी, हम काम नहीं करेंगे'। इन वाक्यों में **हम** का प्रयोग केवल बहुवचन का सूचक है और इसे प्रतिष्ठाबोधक एकवचन **हम** से अलग रखना आवश्यक है।

प्रथम पुरुष एकवचन में तीसरा विकल्प **मैं** है। इसका प्रयोग वक्ता तभी करता है जब वह अपने अहम् व्यक्तित्व का प्रक्षेपण केवल व्यक्तिगत रूप से करना चाहता है। इस प्रयोग में न तो प्रतिष्ठा का तत्व रहता है और न ही समूह का प्रतिनिधि होने का बोध। अतः सामान्य एकवचन के रूप में इसका प्रयोग होता है।

मूल आरेख पर इन विकल्पों को इस प्रकार दिखाया जा सकता है :
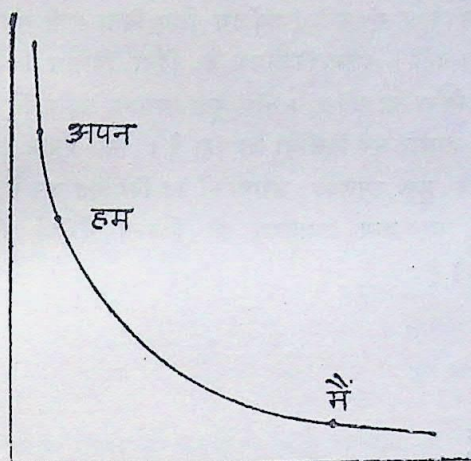
आरेख—9

इस प्रकार हिंदी भाषी समाज में सर्वनाम प्रयोग के दो निर्धारक आधार हैं जिनको दृष्टि में रखकर यथोचित विकल्प का चयन किया जाता है।

ऊपर दिए गए विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि श्रोता, उल्लेख व्यक्ति अथवा वक्ता की प्रतिष्ठा का महत्व जितना अधिक होगा उतना ही आदर सूचक (सर्वनाम) रूप प्रयुक्त होगा। हिंदी में अन्य भाषाओं के समान बहु-वचन रूप का एकवचन में प्रयोग प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है और व्यक्तिगत संबंध दिखाने के लिए सामान्य एकवचन रूप का प्रयोग होता है।

यदि भाषा के नियम सशक्त और संपूर्ण हैं तो उनके आधार पर केवल एक भाषायी कोटि ही नहीं, अपितु अन्य भाषायी और भाषेतर व्यवहार का भी तर्कसंगत विश्लेषण किया जा सकता है। नीचे इन निर्धारक आधारों का प्रयोग संबोधन शब्दावली, अपवाद (गाली) और भाषेतर प्रतीक (जैसे, शारी-रिक क्रियाओं, भाव-भंगिमाओं) को सर्वनाम प्रयोग के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में समझने का यत्न किया गया है।

हिंदी भाषी समाज में प्रयुक्त संबोधन शब्दावली का अध्ययन नगण्य ही है। बहुगुणा (1974) ने ज्योज हेगन के फ्लो चार्ट पर आधारित सूजन एरविन ट्रिप के कार्य के अनुरूप हिंदी में संबोधन-शब्दावली के प्रयोग के कुछ आधार निश्चित किए हैं, किंतु कई वास्तविक प्रयोग इसमें नहीं आ पाए हैं।

वस्तुतः हिंदी में संबोधन-शब्दावली की एक श्रृंखला है जिसके अंशों में कई प्रकार के संयुक्तक संभव हैं। सर्वेक्षण किए बिना सभी संबोधन-शब्दों की सूची देना संभव नहीं। गहन विश्लेषण के बिना विभिन्न विकल्पों का अंतर भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। नीचे कुछ सामान्य प्रयोग दिए गए हैं। इन्हें मूल आरेख के आधार पर दिखाया जा रहा है। इस प्रयत्न के पीछे धारणा यही है कि यदि कुछ उपलब्ध उदाहरणों का नियमित रूप से विवेचन किया जा सकता है, तो अन्य उदाहरण भी विकल्प नैरंतर्य की वक्ररेखा पर दिखाए जा सकते हैं :
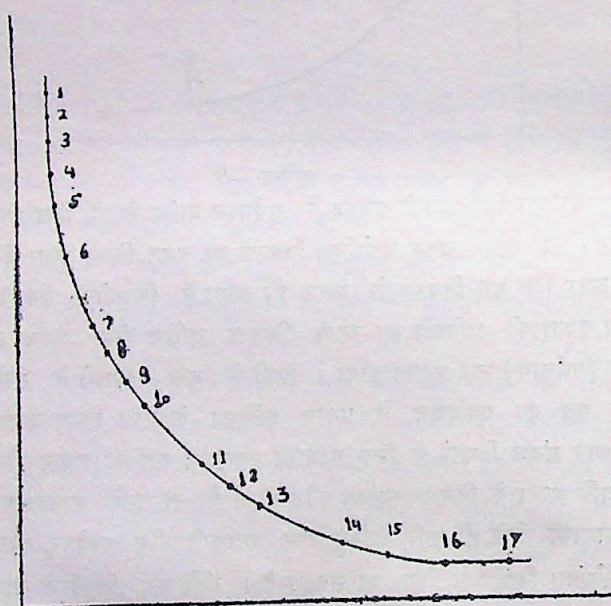
आरेख—10

1. अथवा केवल संकेत द्वारा
2. पद/उपाधि/व्यवसायसूचक + (श्री) + नाम + कुल-नाम + जी + महाराज/साहब आदि
3. पद/उपाधि सूचक + नाम + जी + कुलनाम
4. पद/उपाधि/व्यवसाय सूचक + नाम कुलनाम + जी

5. पद/उपाधि सूचक + साहब/ महोदय
6. पद/उपाधि सूचक + नाम + कुलनाम
7. श्री (मती) + नाम + कुल-नाम + जी
8. कुलनाम + जी/साहब
9. श्रीमती/सुश्री + नाम + जी
10. नाम + बाबू + (जी)
11. श्री (मती) + नाम + कुलनाम
12. नाम + कुलनाम
13. कुलनाम
14. नाम
15. उपनाम
16. घनिष्ठ संबोधन
17. संकेतित/भ्रष्ट/विकृत संबोधन

उक्त आरेख के सीमित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंधों के आधार पर संबोधन शब्दावली में तदनुरूप परिवर्तन आ जाता है। संबोधित व्यक्ति की सापेक्षिक प्रतिष्ठा के अनुसार आदर सूचक अंश नाम/कुलनाम के आगे-पीछे जोड़े जाते हैं और व्यक्तिगत संबंध के आधार पर आदर सूचक अंश कम होते जाते हैं। अत्यधिक संबंध न्यूनतम प्रतिष्ठा महत्व की स्थिति में घनिष्ठ संबोधन अथवा नाम के भ्रष्ट रूप भी प्रयुक्त होने लगते हैं। वस्तुतः इसके नीचे का स्तर अपशब्दों (गालियों) का है, किंतु इनका विवेचन स्वतंत्र रूप से किया गया है।

उक्त विकल्पों में (1) के लिए विशेष रूप से कहना आवश्यक है। इस स्थिति में संबोधन किया ही नहीं जाता। यदि करना ही पड़ जाए तो किसी अन्य संकेत द्वारा किया जाता है। यह स्थिति रूढ़िवादी स्त्री द्वारा अपने पति को संबोधित करते समय होती है। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि घनिष्ठतम व्यक्तिगत संबंध होने पर भी पति की सापेक्षिक प्रतिष्ठा इतनी अधिक है कि सभी उपलब्ध आदर सूचक विकल्प अपर्याप्त रहते हैं। किंतु यह स्थिति रूढ़िवादी परिवारों तक ही सीमित है, आधुनिक विचारों वाली पत्नी अपने पति के लिए (14) (15) 16) का प्रयोग भी करती है।

इस संबंध में इस विषय पर हुए अन्य अध्ययन में मूलभूत अंतर स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जैन (1973) पत्नी द्वारा पति के लिए (14), (15)

(16) या मध्यम पुरुष सर्वनाम में तू अथवा अन्य पुरुष में वह का प्रयोग 'सामान्य' प्रयोग के अपवाद के रूप में संदर्भगत अर्थ सहित मानेंगे। भटनागर (1974) तो ऐसी स्थिति को लगभग असंभव मानते हैं।

किंतु क्या कोई वैज्ञानिक नियम इस बात पर निर्भर करता है कि फिलहाल वह कितने अंश पर लागू होता है? वास्तव में भाषा के नियम तभी उपयोगी सिद्ध होंगे जब वे न्यूनाधिक प्रयोग वैविध्य को समान रूप से और एक ही वैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट कर सकें।

इस अध्ययन में दो मूल निर्धारण आधारों का आश्रय लेने से यह लाभ होता है कि भाषा के सभी उपलब्ध अथवा संभावित विकल्पों का एक साथ विवेचन किया जा सकता है और यही प्रश्न बेमानी हो जाता है कि अमुक विकल्प का प्रयोग कितने लोग करते हैं। यदि मान लिया जाए कि आधुनिक विचारों का प्रसार होने पर पत्नी द्वारा पति के लिए तू, वह और ऊपर के (14) (15) अथवा (16) का प्रयोग सामान्य बन जाता है तो जैन के अध्ययन का आधार ही बदल जाएगा और भटनागर को भी अपने दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। किंतु इस अध्ययन के आधारों का प्रयोग करने से मूलभूत स्थिति वैसी ही रहेगी, प्रयोग करने वालों की संख्या केवल इस सामाजिक प्रवृत्ति को स्पष्ट कर देगी कि इस समाज में इस काल में विशेष द्विदिक् संबंध में अधिक महत्व प्रतिष्ठा का है अथवा व्यक्तिगत संबंध का।

जैसा कि 8·0 के अंत में बताया जा चुका है, अपशब्दों का प्रयोग संबोधन शब्दावली के नैरंतर्य में ही आता है, किंतु किसी भी समाज में अपशब्दों का अपना अलग स्थान होता है।

अपशब्द विकृत संबोधन के प्रतीक हैं। इनके प्रयोग द्वारा वक्ता का उद्देश्य श्रोता की प्रतिष्ठा को कम करना है। इसके लिए कई साधन हैं। जैसे, श्रोता को प्रतिष्ठा रहित विशेषणों से संबोधित करना। यथा—**कमीना, जलील, घटिया,** आदि या श्रोता की प्रतिष्ठाहीन प्राणियों से तुलना करना; जैसे : **गधा, उल्लू, कुत्ता, साँप** आदि। इससे कुछ अधिक मात्रा में अपमान श्रोता के परिवार के सदस्यों (विशेष कर पिता) का भी संबंध जोड़ देने से होता है। जैसे, **गधे का बच्चा, उल्लू का पट्ठा, कुत्ते की औलाद** आदि। इस कोटि के अपशब्दों के प्रयोग का आधार यही है कि श्रोता की वास्तविक प्रतिष्ठा को नगण्य कर दिया जाए। इसके लिए उपमाएँ तो काम में आती

ही हैं, साथ ही श्रोता के लिए या उसके विरुद्ध प्रतिष्ठाहीन क्रियाएँ प्रयुक्त करके भी इस उद्देश्य की सिद्धि की जाती है।

अपशब्दों का दूसरा आयाम व्यक्तिगत संबंध-अक्ष पर भी संभव है। इस प्रकार के अपशब्दों में वक्ता, श्रोता (अथवा उसके परिवार के स्त्री-सदस्यों) के साथ ऐसे अपमानजनक 'घनिष्ठ व्यक्तिगत संबंध' आरोपित करता है जिससे श्रोता की स्थिति हीन हो जाती है।

गालियों का सामाजिक और समाजभाषावैज्ञानिक अनुस्तरण करने के लिए और अधिक विश्लेषण और विवेचन की आवश्यकता है, किंतु इन्हें भी मूल निर्धारक आधारों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

समाजभाषाविज्ञान केवल भाषायी प्रतीकों का अध्ययन नहीं करता, अपितु उनके साथ समवर्तित भाषेतर प्रतीकों के महत्व को भी स्पष्ट करता है। कई प्रकार की शारीरिक क्रियाएँ, मुद्राएँ और मुख-भंगिमाएँ संभाषण प्रक्रिया की अनिवार्य अंग मानी जाती हैं। भाषावैज्ञानिक अध्ययन में केवल भाषा का ही विश्लेषण होता है, किंतु समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूरी संभाषण प्रक्रिया का अपना महत्व है। वास्तव में ये भाषेतर भाषायी प्रक्रिया के अनुरूप बदलते रहते हैं। यदि इनमें परस्पर सामंजस्य न हो तो वक्ता के बारे में कई प्रकार के भ्रम हो सकते हैं। यदि उसका भाषायी व्यवहार आदरसूचक है, किंतु भाषेतर व्यवहार इसके विरुद्ध है तो शायद श्रोता यह समझे कि वक्ता केवल शब्दों का सहारा लेकर उसे बेवक़ूफ़ बना रहा है या उसकी वास्तविक भावना वह नहीं है जो शब्दों से प्रकट हो रही है। इसके विपरीत यदि वक्ता का भाषेतर व्यवहार आदर सूचक हो, किंतु भाषा अपमानजनक हो तो श्रोता यही समझेगा कि वक्ता का दिमाग़ चकराया हुआ है और उसे मालूम नहीं कि वह क्या कह रहा है। (रॉबिन्सन : 1973)

वास्तव में संभाषण में भाषेतर तत्वों का महत्व बहुत ज्यादा होता है, क्योंकि भाषायी व्यवहार स्पष्ट न होने पर भी भाषेतर व्यवहार के संकेतों द्वारा श्रोता संभाषण की मूल सूचना ग्रहण कर लेता है। इसके साथ ही यह भी देखा गया है कि वक्ता अपनी मनोदशा के अनुरूप भाषा में तो परिवर्तन आसानी से कर लेता है, किंतु व्यवहार में यथोचित परिवर्तन करने के लिए पूरे प्रयत्न के बावजूद शायद ही सफल हो पाए। इसीलिए संपूर्ण संप्रेषण तभी हो सकता है जब भाषायी और भाषेतर तत्वों में पूरा संतुलन रहे।

हिंदी भाषी समाज की शारीरिक क्रियाओं, मुख-मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं का पूरा वर्णन और उनका सामाजिक एवं समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण यहाँ संभव नहीं है। नीचे कुछ विशिष्ट उदाहरण दिए गए हैं। ये केवल वक्ता की ओर से हैं, किंतु यथार्थ भाषायी व्यवहार के समान इनमें भी विशेष प्रकार की प्रत्याशा एवं अनुक्रिया अनिवार्य होती है। इस संदर्भ में ये उदाहरण केवल यह दिखाने के लिए चुने गए हैं कि भाषेतर व्यवहार के अंश भी भाषीय व्यवहार के समान दोनों निर्धारक आधारों के द्वारा समझे जा सकते हैं और इनका भाषीय अंशों के साथ तदनुरूप संबंध स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है :

आरेख—11
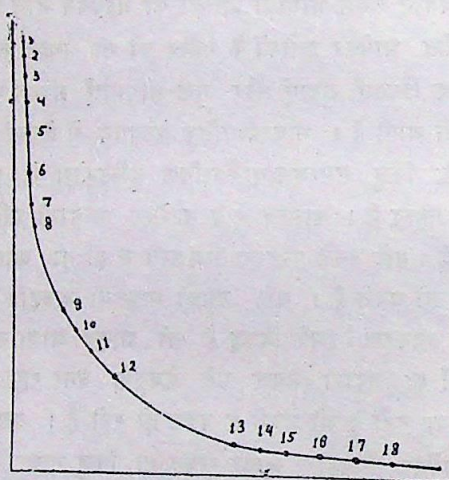
1. साष्टांग प्रणाम
2. चरण-स्पर्श
3. झुक कर अभिवादन—चरण स्पर्श करने की मुद्रा
4. हाथ जोड़कर अभिवादन
5. 'श्रोता' की उपस्थिति में खड़े हो जाना—खड़े रहना—कहे जाने पर बैठना—दूसरे के बैठने के बाद बैठना।
6. विनम्र मुखमुद्रा

| | |
|---|---|
| 7. भाषीय व्यवहार में सुर एवं सुरक्रम पर विशेष नियंत्रण शब्द-चयन पर नियंत्रण | 13. आशीर्वाद देना |
| 8. हाथ मिलाना—हाथ हिलाकर अभिवादन | 14. पीठ थपथपाना |
| 9. दूसरे की उपस्थिति में खड़े होने/बैठने की कोई निश्चित स्थिति नहीं | 15. सिर पर हाथ फेरना |
| 10. गले मिलना | 16. दूसरे (श्रोता) की उपस्थिति में बैठे रहना—बैठे हुए ही बैठने के लिए कहना—इसकी आवश्यकता ही न समझना |
| 11. भाषीय व्यवहार में स्वच्छंदता | 17. भाषायी व्यवहार में सुर आदि पर नियंत्रण (प्रतिष्ठा और अधिकार जतलाने की दृष्टि से) |
| 12. सामान्य/स्वाभाविक मुखमुद्रा | 18. कठोर, रौबीली मुखमुद्रा |

संभाषण में प्रयुक्त विभिन्न तत्वों के संदर्भ में यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी भाषायी अथवा भाषेतर प्रतीकों को प्रतिष्ठा एवं व्यक्तिगत संबंध के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है। इन विभिन्न प्रतीकों के परस्पर संबंध और दूसरे वर्ग के प्रतीकों के साथ इनकी तुलना भी की जा सकती है।

अभी तक जो अध्ययन हुए हैं उनमें विशिष्ट स्थितियों (फ़ीडरिख़), विशिष्ट संबंधों (ब्राउन और गिलमैन, भटनागर, जैन) में विभिन्न विकल्पों के सामान्यतः प्रयुक्त रूपों को आधार मान लिया गया है। इसलिए सामान्य प्रयोग से विचलन को विशिष्ट संदर्भ के अंतर्गत परिभाषित किया जाता है। इससे सर्वनाम प्रयोग के नियमों के दो पक्ष बन जाते हैं—विशेष द्विदिक् संबंध में परस्पर सर्वनाम—प्रयोग का सामान्य रूप और दूसरा सहेतुक विशिष्ट प्रयोग। इसके साथ ही पूरी व्याख्या करनी पड़ती है कि विशिष्ट प्रयोग किस संदर्भ में किया गया, क्यों किया गया, इसके पीछे वक्ता का मंतव्य क्या था, श्रोता पर उसका क्या असर पड़ा और क्यों? यह सारी व्याख्या लेखक की अपनी सूझ (अथवा एकत्रित सामग्री में निहित सूचना की सीमा) के अनुसार ही होती है।

विशेष द्विदिक् संबंधों की सीमा में बँध जाने के कारण सर्वनाम प्रयोग का एकमात्र सामान्य रूप निश्चित करना कठिन हो जाता है। इसलिए कई संबंधों के लिए जैन व भटनागर को एक से अधिक 'सामान्य' रूप देने पड़े, किंतु वे इस विविध प्रयोग का कोई तर्कसंगत कारण नहीं बता पाए।

प्रस्तुत अध्ययन में मूल आधार के रूप में उन मूलभूत भावनाओं को लिया गया है जिनके आधार पर प्रत्येक स्थिति, संबंध, संदर्भ आदि में संभाषण का कोई भी तत्व और उसका रूप प्रयुक्त होता है। इससे इन तत्वों के प्रयोग के नियम अधिक वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष हो जाते हैं। संभाषण में प्रयुक्त सभी विकल्पों को इन आधारों के संदर्भ में अनुस्तरित कर लिया गया है। अतः यह पहले ही निश्चय कर लिया गया है कि अमुक विकल्प में अधिक महत्व प्रतिष्ठा का है अथवा व्यक्तिगत संबंध का। इस प्रकार के निर्धारण के पीछे भाषा के सार्वभौमिक नियम, हिंदी भाषा की अपनी प्रवृत्ति और उसके सामाजिक संदर्भ के ठोस प्रमाण हैं।

प्रत्येक उपलब्ध विकल्प का मूल्यांकन करने के बाद विभिन्न स्थितियों अथवा संबंधों के संदर्भ में उसके प्रयोग को परखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि पत्नी अपने पति को आप द्वारा संबोधित करती है तो वह पति की प्रतिष्ठा को अधिक महत्व देती है, यदि तुम द्वारा संबोधित करती है तो प्रतिष्ठा का महत्व उतना नहीं है और यदि वह तू का प्रयोग करती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पति पत्नी में प्रतिष्ठा के आधार पर ऊँच-नीच नहीं मानी जाती और दोनों की स्थिति बराबर की है। इस प्रकार के नियम के अनुसार किसी भी द्विदिक् संबंध में किसी भी विकल्प के प्रयोग की संभावना और परिणाम पर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक 'असंभव' सी स्थिति लें—जिसमें पत्नी पति को तू द्वारा संबोधित करती है और पति पत्नी को तुम या आप द्वारा। जैन के विश्लेषण के अनुसार यदि ऐसा प्रयोग पर्यवेक्षण की परिधि में नहीं आया, तो इसका कोई महत्व नहीं है। भटनागर के भाषायी सहज बोध के परिवेश में इस प्रकार का प्रयोग अकल्पनीय है। किंतु हमारे नियमों के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि पत्नी अपने पति की प्रतिष्ठा को नगण्य समझती है और पति किन्हीं कारणों से पत्नी को अधिक प्रतिष्ठा देता है।

इसी संदर्भ में 'विचलन' की प्रवृत्ति को भी देखा जा सकता है। सर्वनाम के कुछ रूपों को विशेष संदर्भों में प्रयुक्त करना जैन के अनुसार

विचलन है और इसकी तुलना 'सामान्यतः प्रयुक्त' रूप से करके विभिन्न संदर्भगत अर्थ निश्चित किए गए हैं। किंतु ये 'सामान्य रूप' दो या अधिक भी हो सकते हैं और ऐसी स्थिति में विचलन की मात्रा संदिग्ध हो जाती है।

हमारे नियमों के अनुसार ऐसी स्थिति को समझने के लिए निम्नलिखित आरेख और उसकी व्याख्या पर्याप्त होगी :
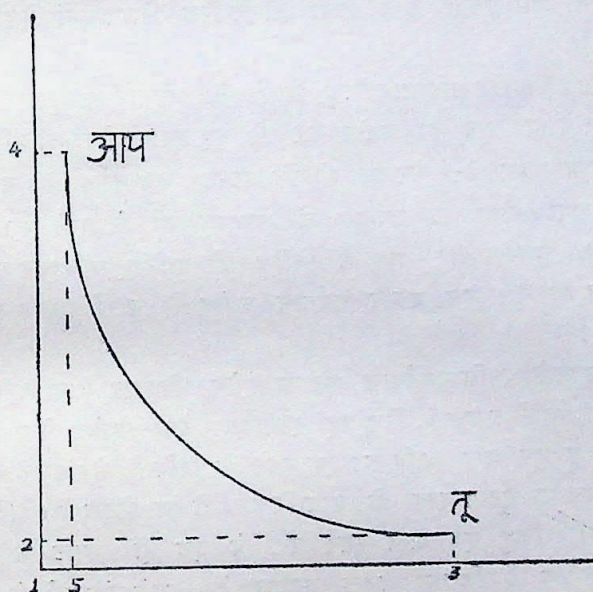
सा० व्या० स०

आरेख—12

उदाहरण के लिए, क की समाज में प्रतिष्ठायुक्त स्थिति है और प्रतिष्ठा को प्रकट करने वाला मध्यम पुरुष सर्वनाम विकल्प **आप** है, तो उसको संबोधित करते समय **आप** ही उपयुक्त है। ऐसी स्थिति में वक्ता क की प्रतिष्ठा को 1-4 महत्व दे रहा है और उसके साथ व्यक्तिगत संबंध को केवल 1-5 महत्व दिया जा रहा है। किंतु यदि वक्ता आप के स्थान पर तू का प्रयोग करता है तो उसके इस संबोधन मात्र से क की प्रतिष्ठा 1-4 से कम होकर 1-2 रह जाती है। क के लिए ऐसा प्रयोग तिरस्कार और अपमान का प्रतीक

होगा । तू का प्रयोग करके वक्ता क के साथ व्यक्तिगत संबंध को 1-5 से बढ़ा कर 1-3 तक ले आता है जो कि दोनों की सामाजिक स्थिति के अनुकूल नहीं है । अतः ऐसे प्रयत्न को वक्ता की धृष्टता भी कहा जा सकता है । किंतु अन्य परिवेश में यह भी हो सकता है कि वक्ता क की प्रतिष्ठा के महत्व को घटा कर व्यक्तिगत संबंध इसलिए बढ़ा रहा हो जिससे दोनों में आत्मीयता बढ़े । क ऐसे प्रयत्न को मेल-जोल बढ़ाने का इशारा मान कर प्रसन्न भी हो सकता है । प्रायः औपचारिक मित्रता में ऐसी स्थिति आती है ।

इसके विपरीत यदि सामाजिक स्थिति के अनुसार उपयुक्त विकल्प तू हो और वक्ता आप का प्रयोग करे तो यह प्रयोग श्रोता की प्रतिष्ठा को 1-2 से बढ़ा कर 1-4 कर देगा जो उसे अटपटा लग सकता है । वक्ता ऐसे प्रयोग द्वारा श्रोता का उपहास कर सकता है जो श्रोता को बुरा भी लग सकता है । दूसरी ओर आप में निहित औपचारिक व्यक्तिगत संबंध ही रखना चाहता है । इस प्रकार सर्वनाम प्रयोग के चारों आयाम स्पष्ट हो जाते हैं ।

वास्तव में अनुचित सर्वनाम रूप का प्रयोग 'विचलन' है या नहीं, इसके पीछे पूरा सैद्धांतिक पक्ष है, किंतु यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि एक स्तर पर तू, तुम, आप आदि रूप एक दूसरे के पर्याय हैं और इनमें से किसी एक विकल्प का चुनाव वक्ता की सामाजिक शैली का द्योतक है । (देखिए : गोस्वामी), किंतु एक अन्य स्तर पर ये एक ही कोटि के स्वतंत्र भाषीय प्रतीक हैं जिनका अपना आयाम है। इनके संकेतार्थ की जातीय संकल्पना और संकेतित 'वस्तुओं' का भौतिक यथार्थ अलग अलग है । इस दृष्टिकोण से आप के स्थान पर तू का प्रयोग एक प्रतीक प्रयुक्त करना माना जाएगा । इसका प्रभाव वैसा ही होगा जैसा 'प्रो० जगन्नाथ प्रसाद सिंह जी' के स्थान पर 'जगन' या 'जग्गू' या 'साला जग्गू' और इससे भी नीचे 'गधा' 'गधे का बच्चा' आदि प्रयुक्त करना । इस शृंखला में क्रमशः प्रतिष्ठाहीन प्रतीकों द्वारा एक संकेतित व्यक्ति के ऊपर अपमानजनक प्रतीकों की जातीय संकल्पना का आरोपण हो रहा है ।

वास्तव में इस प्रकार की कठिनाइयाँ इसलिए सामने आई हैं, क्योंकि इन सभी लेखकों ने किसी एक विकल्प को द्विदिक् संबंधों अथवा स्थिति का

आधार माना है। वे एक महत्वपूर्ण तथ्य भूल जाते हैं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में समाज के सदस्यों के संबंध उनकी सामाजिक स्थिति और सामाजिक भूमिका के अनुसार निर्धारित होते हैं। इसके लिए समाज में दो मुख्य दबाव रहते हैं—परस्पर प्रतिस्पर्धा और परस्पर सौहार्द्र। इनके कारण कुछ भूमिकाओं अथवा स्थितियों में प्रतिष्ठा का महत्व अधिक रहता है और कुछ में इतना नगण्य कि परस्पर व्यक्तिगत संबंध का जोर प्रतिष्ठा को दबा देता है। सामाजिक संबंधों और प्रतिक्रियाओं को अमूर्त रूप से प्रकट करने के लिए कई भाषायी और भाषेतर प्रतीक प्रयुक्त किए जाते हैं। किंतु हैं ये मूलतः प्रतीक ही, यथार्थ नहीं। इसलिए यथार्थ में परिवर्तन होने पर प्रतीकों में भी परिवर्तन आ जाएगा। पिता-पुत्र का संबंध ही लें। सामाजिक स्थिति और भूमिका के अनुसार पिता-पुत्र को पहले तू कह कर बुलाता है और पुत्र पिता को **आप**। किंतु पुत्र के युवावस्था में पहुँचने पर उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप पिता पुत्र को **तुम** द्वारा संबोधित करता है और पुत्र **आप** का ही प्रयोग करता है। पुत्र के विवाह के पश्चात् अथवा किसी ऊँचे ओहदे पर पहुँचने पर पिता पुत्र को **आप** द्वारा भी संबोधित करता है। पिता के अधिक वृद्ध, असहाय होने पर पुत्र पिता को **तुम—तू** द्वारा भी संबोधित कर सकता है।

अतः 'सामान्य' प्रयोग वस्तुतः किसी द्विदिक् संब्रंध की तत्कालीन परिस्थिति में प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंध की तुलना के आधार पर निश्चित संबंधों को प्रकट करने वाले उपयुक्त विकल्प हैं। किंतु ये अपने आप में केवल संकेत मात्र हैं, नियम नहीं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि समाज के सदस्यों के संबंध कुछ सीमा तक नियमित और रूढ़िबद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार सामाजिक स्थिति और भूमिका में प्रतिष्ठा की मात्रा भी कालावधि में निश्चित हो जाती है और इसके अनुरूप प्रत्याशा और अनुक्रिया का सर्वस्वीकृत रूप भी निर्धारित हो जाता है। कुछ सीमा तक भाषायी और भाषेतर प्रत्याशाएँ और अनुक्रियाएँ सामाजिक यथार्थ को समझने में सहायक हो जाती हैं। किंतु अध्ययनकर्ता को यह ध्यान रखना चाहिए कि ये स्वयमेव यथार्थ नहीं हैं।

यह एक सर्वमान्य सामाजिक सत्य है कि एक ओर समाज के संबंध परम्परागत होकर रूढ़िबद्ध हो जाते हैं और दूसरी ओर समाज में परिवर्तन की धारा सदा क्रियाशील रहती है जो उसके जीवंत होने का लक्षण है।

समाज में प्रतिस्पर्धात्मक संबंध कई आधारों पर निश्चित होते हैं। जैसे, स्त्री-पुरुष भेद, पारिवारिक संबंध, आयु, ज्ञान, गुण, पद, कुल, गोत्र, संपत्ति, बल, बुद्धि, प्रकार्य आदि। ब्राउन और गिलमैन के अनुसार ये प्रभुत्व प्रदान करने वाले आधार हैं, जबकि हमारे मत में ये आधार प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। सामाजिक व्यवस्था में कुछ स्थितियों अथवा भूमिकाओं में ये आधार सहज और स्वाभाविक होते हैं। जैसे, परिवार के वरिष्ठ सदस्यों में आयु-प्रतिष्ठा रहती है। विद्वानों में ज्ञान की प्रतिष्ठा होगी। कवि, लेखक, गायक, संगीतज्ञ आदि में उनके गुणों की प्रतिष्ठा होगी। उच्च पदाधिकारियों को पद-प्रतिष्ठा मिलती है। ब्राह्मण आदि जातियों में जन्मजात प्रतिष्ठा का आधार रहता है। इनमें परस्पर कुल या गोत्र के आधार पर अधिक या कम प्रतिष्ठा का आधार रहता है। धनाढ्य और बलवान की समाज में अपनी प्रतिष्ठा है।

इसी प्रकार विभिन्न सामाजिक संदर्भों में प्रतिष्ठा की मात्रा के बारे में समाज में कुछ नियम होते हैं। धार्मिक उत्सव, सार्वजनिक परिस्थिति, भाषण, उपदेश, प्रवचन में संलग्न व्यक्ति परस्पर प्रतिष्ठा को अधिक महत्व देते हैं, किंतु मित्र-मंडली, बैठकबाजी आदि अनौपचारिक संदर्भों में प्रतिष्ठा को उतना महत्व नहीं दिया जाता। कई उत्सवों जैसे—होली आदि में प्रतिष्ठा के आधारों को भुला दिया जाता है। पारस्परिक संबंधों में भी कुछ समाज स्वीकृत नियम हैं। अतिथि की प्रतिष्ठा हिंदी भाषी समाज में बहुत अधिक है। इसी प्रकार दामाद, बहनोई, समधी आदि की प्रतिष्ठा भी अत्यधिक है।

स्थान विशेष का भी अपना महत्व होता है। शहरी सभ्यता में परस्पर प्रतिष्ठा को महत्वपूर्ण समझा जाता है, जबकि गाँव आदि में स्थिति भिन्न रहती है।

प्रतिष्ठा का निर्धारण बोली के कारण होता है। एक ही वक्ता और श्रोता में सर्वनाम आदि का विनिमय मानक भाषा और स्थानीय बोली में अलग अलग होगा। इस प्रकार के कई आधार हैं जिनका ध्यान रखकर समाज के सदस्य एक दूसरे की प्रतिष्ठा की मात्रा का निर्धारण करते हैं।

चाहे किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था हो, सापेक्षिक प्रतिष्ठा-निर्धारण की प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में प्रधान रहती है। लेकिन इस होड़ के बावजूद एक दूसरी मूलभूत मानवीय प्रवृत्ति भी सक्रिय रहती है जो समाज के सदस्यों को उनकी प्रतिष्ठाजन्य दूरी को कम करने के लिए

बाध्य करती है। यह प्रवृत्ति कई प्रकार से मुखरित होती है। एक ही वर्ग के समाज प्रतिष्ठावान सदस्यों के बीच व्यक्तिगत स्तर पर संबंध हो सकते हैं। जैसे, दो अध्यापकों में, भिन्न वर्गों में एक जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त सदस्यों में, जैसे, डाक्टर और वकील में, फिर एक ही वर्ग या भिन्न वर्गों के अधिक और कम प्रतिष्ठावाले सदस्यों से भी परस्पर व्यक्तिगत संबंध हो सकते हैं—जैसे, मालिक-नौकर, धनी-निर्धन, ज्ञानी-अज्ञानी आदि में।

ये दोनों प्रवृत्तियाँ सभ्यता के उसी चरण से आरंभ हो गई होंगी जब आदि मानव ने समाज की व्यवस्था अपना ली थी। रायकृष्णदास की कहानी 'अंतःपुर का आरंभ' सभ्यता के आदिकाल में पुरुष और स्त्री की सामाजिक भूमिका निश्चित करने की प्रक्रिया की झलक दिखाती है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के आधार पर प्रतिस्पर्धा पहले भी होगी और कही न कहीं, किसी आधार पर संबंध भी स्थापित हो जाते होंगे, किंतु उनका क्षेत्र केवल व्यक्तिगत था। समाज-व्यवस्था आरंभ होने पर इन प्रवृत्तियों का प्रभाव-क्षेत्र पूरा समाज बन गया (चाहे वह एक छोटा सा कबीला हो या एक छोटा सा गाँव और चाहे हिंदी भाषी समाज के समान एक विशाल भूभाग या अंग्रेजी भाषी समाज की तरह विश्व का एक बहुत बड़ा भाग)।

सामान्य सामाजिक व्यवस्था में ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्वतः क्रियाशील रहती हैं और सामाजिक संबंधों को प्रभावित करती रहती हैं, किंतु कई कारणों से उत्प्रेरित होकर इनके प्रभावित करने की क्षमता में वृद्धि हो जाती है।

राजनैतिक उथल-पुथल के कारण शासक वर्ग और उस पर आश्रित की प्रतिष्ठा में अंतर आ जाता है। भारत के विभाजन और स्वतंत्रता ने समाज में कई मूलभूत परिवर्तन कर दिए हैं। लड़ाई के कारण कई पुरानी परंपराएँ समाप्त हो जाती हैं और नई परम्पराएँ जन्म लेती हैं। यूरोप में सौ साल की लड़ाई एवं दो विश्व युद्धों ने कई सामाजिक व्यवस्थाओं में अप्रत्याशित परिवर्तन किए। धार्मिक आंदोलनों में समाज के सदस्यों के परस्पर संबंध नये संदर्भ में परिभाषित होते हैं। शासकीय और सामाजिक पुनर्व्यवस्था के कारण कई वर्ग प्रतिष्ठा में पिछड़ जाते हैं और कई आगे आ जाते हैं। जैसे, तमिलनाडु में ब्राह्मण वर्ग का अधिकार काफी मात्रा में कम हो गया है। वर्तमान सरकारी नीति के कारण तथाकथित हरिजनों एवं पददलित जातियों को कई विशेषाधिकार मिल गये हैं जिनके कारण उनमें प्रतिष्ठा की मात्रा पहले से कहीं अधिक है। देश की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन होने

के कारण कोई वर्ग उचित या अनुचित रास्ते अपना कर सहसा धनवान (और इसलिए प्रतिष्ठावान) बन जाता है। औद्योगिक विकास और इसके साथ ही आधुनिक शहरी सभ्यता के प्रकार के कारण रूढ़िबद्ध सामाजिक स्थितियों एवं भूमिकाओं की प्रतिष्ठा का ह्रास अथवा लोप हो जाता है।

इस प्रकार के परिवर्तन समाज में प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित पुरानी परंपराओं को एकदम बदल कर रख देते हैं और नए संबंधों को सुचारु रूप से स्थापित होने में काफ़ी समय लग जाता है। ऐसे समय में सामाजिक संबंधों को प्रकट करने वाले भाषीय एवं भाषेतर प्रतीकों के अर्थ-क्षेत्र में परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

ब्राउन और गिलमैन ने इंग्लैंड में क्वेकर्स मत के प्रवर्तक जॉर्ज फ़ॉक्स के सामाजिक अभियान का वृतांत दिया है। इन लोगों का मत था कि सबको परस्पर एकवचन, दाऊ, दी (thou,thee) का प्रयोग करना चाहिए जिससे बड़े-छोटे, अमीर-गरीब आदि में कोई भेद न रह जाए। उनके अनुसार एक व्यक्ति के लिए एकवचन रूप का प्रयोग ही प्रकृति और तर्क के अनुकूल है। किंतु इस आंदोलन की प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र हुई और अब अंग्रेजी भाषा का मूल एकवचन रूप केवल ऐतिहासिक तथ्य बनकर रह गया है। फ्राँस में क्रांति के बाद परस्पर एकवचन रूप का प्रयोग सामान्य हो गया था, किंतु यह भी थोड़े समय तक ही रहा। यूगोस्लाविया में भी साम्यवाद के आने के बाद कुछ समय तक एकवचन रूप के प्रयोग पर बहुत बल रहा, किंतु प्रारंभिक जोश कुछ ही दिनों में ठंडा पड़ गया।

हिंदी क्षेत्र में भी कई परिवर्तन हुए हैं और उनके कारण भी कई प्रकार के रहे हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ऐसे परिवर्तनों के कुछ उदाहरण ऊपर (5.1, 5·2,6.1,6·2, 6.3) दिए गए हैं।

भाषा-व्यवहार में परिवर्तन लाने वाले कारणों का अध्ययन करने पर समसामयिक व्यवस्था को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है। अन्य भाषाओं में भी जो परिवर्तन हुए हैं वे उस भाषीय समाज की प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हैं। इस संबंध में समाजभाषाशास्त्रियों ने कई निष्कर्ष निकाले हैं। यह देखना आवश्यक है कि क्या ये निष्कर्ष हिंदी भाषी समाज पर भी लागू हो सकते हैं ?

अधिकांश यूरोपीय भाषाओं के आधार पर ब्राउन और गिलमैन ने यह निष्कर्ष निकाला कि एकवचन रूप का प्रयोग बढ़ता जा रहा है और जिन द्विदिक् संबंधों में पहले असमान सर्वनाम रूपों का विनिमय होता था उनमें भी परस्पर एकवचन का प्रयोग प्रचलित हो गया है। लेखक द्वय के मत में यह प्रवृत्ति समाज के सदस्यों में परस्पर समभाव की वृद्धि या द्योतक है।

इसके विपरीत हिंदी भाषी समाज में मूल एकवचन रूप तू का प्रयोग बहुत ही सीमित हो गया है और बहुवचन रूप **आप** का प्रयोग बहुत विस्तृत हो गया है।

ब्राउन और गिलमैन इस प्रकार की प्रवृत्ति को सामंतवादी दृष्टिकोण एवं स्थायी सामाजिक व्यवस्था का परिचायक मानते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी भाषी समाज में सामंतवादी प्रवृत्ति अधिक बलवती रही है और समाज में विभिन्न परिवर्तन होने पर भी मूल दृष्टिकोण सामंतवादी ही रहा है। समाज के प्रत्येक सदस्य का स्तर-निर्धारण पूर्वनिश्चित समाज-स्थिति एवं सामाजिक-भूमिका में निहित प्रतिष्ठा के आधार पर किया जाता है! प्रतिष्ठा का आधार जन्मजात होने के कारण किसी प्रकार के परिवर्तन की 'कुचेष्टा' सहन नहीं होती कृषि प्रधान क्षेत्र में एक ही स्थान पर रहने की प्रवृत्ति के कारण परस्पर संबंध स्थायी से हो गए हैं। आडंबर, अंधविश्वास और रूढ़ियों में बँधे समाज ने प्रतिष्ठा के आधारों (11.7) ने स्थायी रूप ग्रहण कर लिया। अतः समाज का ढाँचा और उसकी मान्यताएँ प्रायः स्थायी हो गई हैं।

किंतु सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होने पर भी 'स्वभाव सूचक' एकवचन रूप का प्रयोग अधिक नहीं हो पाया। राजनैतिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक क्षेत्रों में प्रतिष्ठा करने की होड़ में कई मूलभूत परिवर्तन हुए हैं और समाज के सदस्यों के पुराने संबंध छिन्न-भिन्न हो गए हैं, किंतु फिर भी **आप** का प्रयोग अधिक हुआ है, कम नहीं।

इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि प्रत्यक्ष रूप में ब्राउन और गिलमैन का यह मत हिंदी भाषी समाज के संदर्भ में खरा नहीं उतरता कि आदरसूचक बहुवचन के अधिक प्रचलन का अर्थ है कि उस समाज का ढाँचा स्थायी होना। अतः **आप** के विस्तार के अन्य कारण ढूँढ़ना आवश्यक है।

यद्यपि रूढ़िगत स्थितियों और भूमिकाओं की प्रतिष्ठा में कई परिवर्तन हुए हैं, किंतु प्रतिष्ठा के आधार अब भी हिंदी भाषी समाज में स्वीकृत हैं। इनके महत्व की मात्रा में कुछ फेर-बदल अवश्य हो गया है। जैसे— पद, धन, राजनैतिक प्रभाव आदि का महत्व अधिक हो गया है और आयु, गुण, जाति कुल आदि का कम।

पुरानी प्रतिष्ठा जन्य स्थितियाँ और भूमिकाएँ अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं और कई नई स्थितियाँ पैदा हो गई हैं। जमाखोरी, तस्करी आदि द्वारा धन एकत्रित कर कई प्रतिष्ठाहीन व्यक्ति अब प्रतिष्ठा के अधिकारी हो गए हैं। भाई-भतीजावाद द्वारा अयोग्य व्यक्ति प्रतिष्ठावान बन गए हैं। सरकारी नीति द्वारा कई पिछड़े वर्गों को प्रोत्साहन मिलने के कारण उनको प्रतिष्ठा देना अनिवार्य हो गया है।

देश के विभिन्न भागों के लोगों के एक ही स्थान पर रहने के कारण नए संबंध स्थापित होने आरंभ हो गए हैं जो स्वभावतः औपचारिक ही होते हैं। अतः **आप** का प्रयोग अधिक होता है।

नई सभ्यता के साथ एक-दूसरे से काम करवाना इतना सरल नहीं रह गया है। अतः विभिन्न स्तरों पर श्रोता को **आप** द्वारा संबोधित कर उसे प्रतिष्ठा का आभास कराया जाता है। अपना सामान बेचने वाली कंपनी का सेल्समैन से लेकर सामान्य फेरीवाले भी अपने ग्राहक को **आप** द्वारा प्रतिष्ठा देते हैं। किसी दफ्तर में कोई काम करवाना हो तो छोटे से छोटे कर्मचारी को भी **आप** द्वारा प्रतिष्ठा देकर खुश किया जाता है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े नेता भी "जनता-जनार्दन" की वोट प्राप्त करने के लिए **आप** द्वारा संबोधित करते हैं।

पुरानी कम प्रतिष्ठा वाली स्थितियों और भूमिकाओं में नई 'जागरूकता' आने के कारण स्वाभिमान उत्पन्न हो गया है। अतः छोटे से छोटे कर्मचारी को भी कम प्रतिष्ठा-सूचक **तू** द्वारा संबोधित करना उचित नहीं समझा जाता। इसके विपरीत कई प्रतिष्ठावान स्थितियों एवं भूमिकाओं के प्रति आस्था कम हो गई है। अतः धार्मिक पंडितों, नेताओं, अध्यापकों को उतना सामाजिक मान नहीं मिलता जितना पहले मिलता था।

जैन ने एक प्रश्न उठाया है कि विदेशियों को हिंदी सिखानेवाली पुस्तकों में **तू** का प्रयोग क्यों नहीं दिया जाता? इस अध्ययन के संदर्भ में

इसका उत्तर बहुत कठिन नहीं है। प्रतिष्ठा के आयाम पर **तू** में प्रतिष्ठा तत्व इतना कम है कि किसी भी विदेशी के लिए इसका ठीक प्रयोग कर पाना कठिन है। जिस समय विदेशियों का प्रभुत्व था और कोई भी विदेशी अपने आपको स्थानीय जनता का शासक समझता था, केलॉग ने अपने व्याकरण में टिप्पणी दी है कि विदेशियों को **तू** का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। व्यक्तिगत संबंध के आधार पर **तू** का प्रयोग अत्यंत घनिष्ठ स्थितियों में ही होता है और प्रायः विदेशी ऐसी स्थिति में नहीं होते कि हिंदीभाषी लोगों के साथ हिंदी में आत्मीयता से बात कर सकें।

उक्त विवरण से शायद यह निष्कर्ष निकल सकता है कि हिंदी भाषी समाज में परस्पर आदर सूचक सर्वनाम का प्रयोग बहुत होता है। अतः लोग एक दूसरे का आदर करते हैं और संभाषण में शालीनता, सभ्यता एवं आदर का पुट रहता है। हिंदी में सर्वनाम प्रयोग के अधिकांश (लगभग सभी !) अध्ययन मध्यम पुरुष रूप तक ही सीमित रह जाते हैं और उनमें इस प्रकार का निष्कर्ष अकाट्य होगा। किंतु हम देख चुके हैं कि अन्य पुरुष सर्वनाम प्रयोग ऐसी धारणा का पूर्णतया खंडन करते हैं। वास्तविक स्थिति तो यह है कि आदर सूचक **आप** का प्रयोग लखनऊ या हैदराबाद की नफ़ासत और अदब का प्रतीक न होकर औपचारिकता मात्र रह गया है। आर्थिक विकास के साथ समाज में एक अजीब सी होड़, प्रतिस्पर्धा और एक दूसरे को पीछे छोड़ने की प्रवृत्ति के कारण समाज के सदस्यों को एक निरापद प्रतीक मिल गया है—**आप**। किसी कम प्रतिष्ठा वाले को भी **आप** द्वारा संबोधित करने से श्रोता के रुष्ट होने का कोई ख़तरा नहीं रह जाता। इस प्रकार समाज में स्वीकृत भाषा रूप **आप** में निहित आदर का उपयोग किया जाता है, श्रोता की अपनी प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में नहीं, केवल भाषायी प्रतीक के रूप में।

भाषा प्रयोग की नई प्रवृत्ति का प्रभाव भाषा और समाज की व्यवस्था पर पड़ा है। **आप** और **तुम** बहुवचन रूप हैं और इनका सामान्य प्रयोग बाहुल्य के लिए होता है। किंतु पिछले कुछ वर्षों में व्याकरणों में कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है। 1970 के पूर्व के व्याकरणों में बहुवचन रूप के साथ टिप्पणी पाई जाती थी कि बहुवचन के लिए **तुम** और **आप** के साथ **लोग** भी लगाया जाता है। किंतु अब कालरा (1971), व्यास, तिवारी, श्रीवास्तव (1972) में (+लोग) रूप नियमित रूप से सामान्य

बहुवचन के रूप में दिखाया जाता है—अर्थात् **तुम, तुम लोग** और **आप, आप लोग** आदि। दैनंदिन व्यवहार में भी (+लोग) रूप का प्रयोग बढ़ रहा है। इसका कारण है : सामान्य बहुवचन रूप **तुम** और **आप** का एक-वचन में प्रयोग इतना अधिक बढ़ गया है : भाषा प्रयोग करने वालों को शायद यह भ्रम हो जाता है कि ये हैं ही एकवचन के रूप।

उक्त विलेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक विषय से संबद्ध भाषा के सभी तत्वों का समग्र रूप से अध्ययन करने पर ही तर्कसंगत निष्कर्ष निकल सकते हैं। इस लेख में जो आधार दिए गए हैं उनकी सहायता से संभाषण में प्रयुक्त सभी तत्वों को एक साथ समझा जा सकता है। (इस प्रकार की सुविधा अन्य अध्ययनों या हिंदी के व्याकरणों में नहीं मिलती)। इस अध्ययन के संदर्भ में हम भाषा के विभिन्न अंगों का परस्पर और इन सबकी अन्य भाषेतर तत्वों के साथ संबंध भली प्रकार समझ सकते हैं। इस आरेख—13 में उपर्युक्त तत्वों को एक साथ दिखाया गया है :

सा० व्या० सा०

आरेख—13
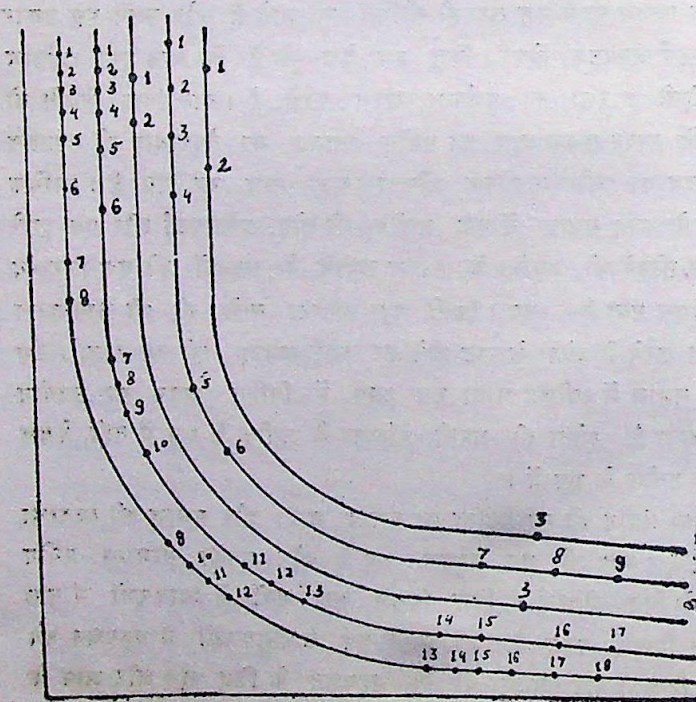
उक्त आरेख संभाषण में प्रयुक्त सभी तत्वों को समान आधार पर प्रस्तुत कर देता है। ऐसी स्थिति में विशिष्ट द्विदिक संबंधों में सर्वनाम प्रयोग कर ही सीमित रहना आवश्यक नहीं है। किसी भी सामाजिक स्थिति, भूमिका, परिस्थिति, स्थान, बोली, परिवार में इन सभी तत्वों के प्रयोग का अध्ययन किया जा सकता है। इस अध्ययन द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि प्रतिष्ठा के निर्धारक आधार क्या हैं और उनमें समाज की प्रवृत्ति के बारे में क्या सूचना मिल सकती है ?

**संदर्भ-ग्रंथ**


1. बाहरी, हरदेव 1972, व्यावहारिक हिंदी व्याकरण, इलाहाबाद, लोक भारती।
2. बहुगुणा, ल० मो० 1975, 'हिंदी की संबोधन-शब्दावली', भाषा, विश्व-हिंदी-सम्मेलन अंक।
3. Bhatnagar, R.P. 1974, "Forms of Address in Hindi." Paper read at 4th. All India Conference of Linguists. New Delhi J. N. U.
4. Brown and Gilman, 1960, "The Pronouns of Power and Solidarity" in Sebeok, T. A., ed. *Style in Language*. M. I. T.
5. Brown and Ford, 1961, 'Address in American English' *Journal of Abnormal and Social Psychology* 62, 375—85.
6. Daswani C. J. "A note on variation in the use of IInd person pronouns in Hindi' अनुवाद 26-27 60-63.
7. Erwin-Tripp, S. M. (1971) 'Sociolinguistic Rules of Address', in L. Berkowitz (ed.) *Advances in Experimental Social Psychology*, Vol. 4, 93-107.
8. Friedrich, Paul 1966, 'The structural implications of Russian Pronominal usage' in Bright. W. (ed,) *Sociolinguistics*, Mouton.

9. गोस्वामी, कृ० कु० 1975, 'हिंदी की सामाजिक शैलियाँ', भाषा, विश्वहिंदी सम्मेलन अंक।
10. Gumperz, J. 1962. Conversational Hindi-Urdu, University of California.
11. गुरु, कामता प्रसाद (सं० 2017 वि०), हिंदी व्याकरण, काशी-नागरीप्रचारिणी सभा।
12. गुप्त, सुधा, 1969, 'हिंदी-आप' भाषा, 8·3.
13. Jain, D. K. 1973, *Pronominal Usage. A socio-linguistic Study*. Ph. D. Dissertation, University of Pennsylvania (Unpublished).
14. कालरा, अशोक 1975, 'हिंदी में सर्वनाम-प्रयोग का सामाजिक संदर्भ', भाषा, विश्वहिंदी-सम्मेलन-अंक
15. कालरा, सुधा 1971, हिंदी वाक्य-विन्यास, इलाहाबाद, लोक-भारती।
16. Karunacillake, W. S. and Suseendirajah, S. (1975), 'Pronouns of Address in Tamil and Sinhalese : A Sociolinguistic Study,' IJDL. IV 1183—96.
17. Kellogg, S. H. 1892, *A Grammar of the Hindi-Language*. London, Kegan Paul.
18. McGregor R. S. 1972. *Outline of Hindi Grammar*, London, Oxford Univ. Press.
19. Robinson, W. P. 1972, *Language and social Behaviour*. Penguin.
20. Sharma, A 1972, *A Basic Grammar of Modern Hindi*, New Delhi, Central Hindi Directorate.
21. Shrivastava, R. N. 1973, 'Linguistic Perspective of the Study of Social Meaning' Simla, A. I. A. S.
22. तिवारी, भोलानाथ 1966, हिंदीभाषा, इलाहाबाद, किताब-महल।

23. वाजपेयी, किशोरीदास (सं०) 2014 वि०, हिंदी शब्दानुशासन, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा ।
24. वर्मा, धीरेन्द्र (सं०) 2022 वि०, हिंदी-साहित्य का वृहद इतिहास, द्वितीय भाग, काशी, नागरी-प्रचारिणी सभा ।
25. व्यास, तिवारी, श्रीवास्तव, 1972, हिंदी-व्याकरण और रचना, नई दिल्ली, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ।
26. Van Olphen, H. 1972, *Elementary Hindi Grammar and Exercises*, Center of Asian Studies, University, Texas, (Mimeo).

# हिंदी में टैबू प्रयोग

—उमाशंकर सतीश

आचरण के स्तर पर सामाजिक व्यवहार में दो प्रकार की स्थितियाँ उभर कर सामने आती हैं। एक स्थिति ऐसी है जिसमें हम मुक्तभाव से मानवीय आचरण करते हैं। मानवीय आचरण से संबंधित चर्चा करते हैं और जिसे सार्वजनिक रूप से मान्य माना जाता है उसे बुरा, असंगत, घृणित नहीं माना जाता। उदाहरण के तौर पर पति-पत्नी में यौन संबंध वर्जित नहीं है, वाँछनीय है। इसके ठीक विपरीत पिता-पुत्री में यौन संबंध वर्जित है और इस सामाजिक आचरण का पालन करना सामाजिक स्तर पर ही नहीं, नैतिक स्तर पर भी कर्तव्यपरायणता माना जाता है। आचरण के स्तर पर सामाजिक व्यवहार की यह दूसरी स्थिति स्पष्ट हुई। उपर्युक्त दो स्थितियों और उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि समाज में वर्जित आचरण को ही 'टैबू' कहते हैं।

विभिन्न संप्रदायों, वर्गों, धर्मों, जातियों और संदर्भों में वर्जित आचरण भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न किस्म का है और जिसका अपना सामाजिक औचित्य है। यह सर्वमान्य है कि सामाजिक आचरण की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। अतः भाषिक संदर्भ में टैबू का अध्ययन-विश्लेषण अर्थपूर्ण है।

हिंदी में टैबू के अध्ययन पर अभी तक किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। विदेशों में भी भाषिक संदर्भ में कम और मानव-शास्त्र के संदर्भ में ज्यादा कार्य हुआ है। प्रस्तुत निबंध में इस विषय पर संक्षेप में चर्चा मात्र की जा रही है। आशा है, भविष्य में विस्तार से अध्ययन किया जा सकेगा। 'हिंदी भाषी समुदाय में टैबू' की व्यापकता की चर्चा विभिन्न स्तरों तथा संदर्भों में की जा सकती है। यह एक मान्य धारणा है कि टैबू के अध्ययन की सार्थकता भाषा के संस्कृतिमूलक पक्ष में निहित है। मेरी मान्यता है कि

संस्कृतिमूलक पृष्ठभूमि में टैबू का भाषिक संदर्भ निम्न प्रकार आँका जा सकता है—

(1) एकभाषीयता (Monolingual)

(2) द्विभाषिकता (Bilingual)

(3) अंतर भाषीयता (Interlingual)

रेखांकन 'क' में टैबू अध्ययन के व्यवहार क्षेत्र का वर्गीकरण स्पष्ट कर दिया गया है । एक भाषीयता की स्थिति में परिवेशगत भिन्नता है । ग्राम्य परिवेश और नगर परिवेश के रूप में यह भिन्नता स्पष्ट कर दी गई है । ग्राम्य परिवेश के अंतर्गत टैबू प्रयोग तीन प्रकार से किया जाता है—विनोद पूर्ण ढंग से, संकेतात्मकना से और पीढ़ी-अंतर से । नगरपरिवेश में उक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त संबोधन सूचक प्रयोग सम्मिलित है । द्विभाषिकता की स्थिति में वर्गगत विभिन्नता परिलक्षित होती है । ये वर्ग—उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के रूप में उभर कर सामने आते हैं । वर्गगत टैबू दो प्रकार से किया जाता है—विदेशी शब्द प्रयोग के रूप में तथा पीढ़ी अंतर के रूप में । अंतरभाषीयता की स्थिति में परिवेशगत एवं वर्गगत सीमायें टूट जाती हैं और शिक्षित तथा अशिक्षित भेद नहीं रहता ।

विभिन्न स्थितियों में टैबू शब्दों का प्रयोग उदाहरण सहित इस प्रकार है—एक भाषीयता की स्थिति में नगरपरिवेश तथा ग्राम्यपरिवेश में [टट्टी] [पख़ाना] शब्दों का प्रयोग न करके [बाहर जाना] कहकर तथा पेशाब करना [मूतना] के लिए [लघुशंका] कहकर मंतव्य प्रकट कर लिया जाता है। द्विभाषीयता की स्थिति में [टट्टी] ∽ [पख़ाना] के लिए अंग्रेजी शब्द [लैट्रिन] और [पेशाब करना] ∽ [मूतना] के लिए [बाथरूम] ∽ [यूरिनल] कह दिया जाता है इसी प्रकार [गोसल] ∽ [स्नान] ∽ [नहाना] के लिए प्रायः [बाथ] ∽ [ट्वाइलेट] का प्रयोग किया जाता है । डाक्टरी के दौरान पुरुष के गुप्तांग का हिंदी नाम न लेकर [पेनिस] कहकर काम चलाया जाता है । [संभोग] के लिए [इंटरकोर्स] शब्द का ही प्रयोग किया जाता है ।

यह सर्वविदित है कि पत्नी अपने पति, जेठ, ससुर तथा सास का नाम नहीं ले सकती । लेकिन परोक्ष में बातचीत के दौरान पति का नाम न लेकर [वो] 'मुन्नी के पापा' कहकर सामाजिक आचरण का निर्वाह करती है । इसी प्रकार पति सामने हो तो [ऐजी] ∽ [सुनो जी] ∽ [मैंने कहा] ∽ [मुन्नी के पापा] कहने से मंतव्य प्रकट कर लिया जाता है ।

एक दिलचस्प घटना याद आई। एक स्त्री अपने मायके गई हुई थी। मायके से अपने पति को उसने पत्र लिखा और लिफ़ाफे में उसे बंद कर दिया। लिफ़ाफे पर उसने पति के नाम के स्थान पर [ × ] चित्र बना दिया। बाकी पता बिलकुल सही लिखा और पत्र डाक में डाल दिया। जब पत्र संबंधित गाँव के डाकिये के पास पहुँच गया तो वह सोचने लगा कि यह पत्र किसे दूँ, कहाँ दूँ—इस पर तो नाम लिखा नहीं है ! अपनी सूझबूझ के आधार पर डाकिये ने गाँव के बड़े-बूढ़ों से पूछा तो पता चला कि पत्र छेदीलाल का है जिसे उसकी पत्नी ने लिखा होगा। क्योंकि गाँव में कोई भी पत्नी अपने पति का न नाम लेती है और न ही लिखती है। सचमुच पत्र छेदीलाल का था जो उसे उसकी पत्नी ने लिखा था।
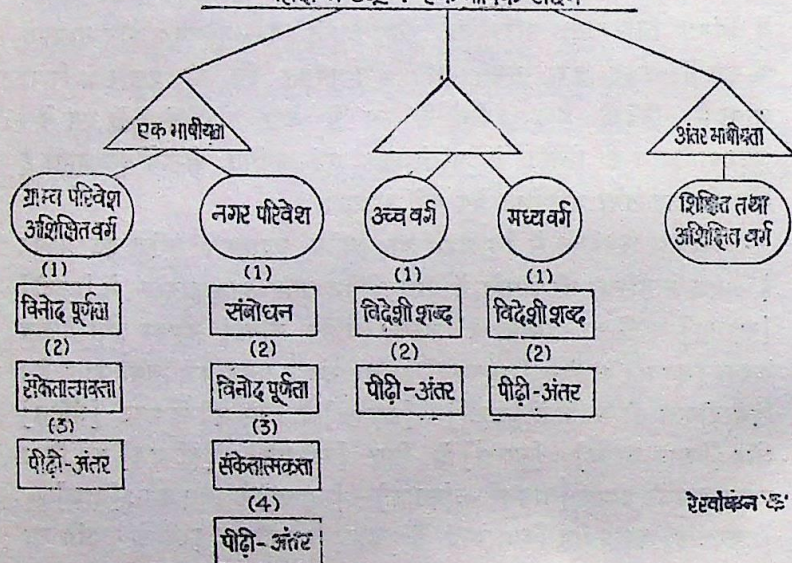
रेखांकन 'क'

जवान औरतें आपस में जब अपने पति के बारे में विनोदपूर्ण बातें करती हैं तो अपने पति का [गुलाबसिंह] नाम न लेकर गुलाब के फूल का चित्र बनाती हैं या गुलाब के फूल की ओर करके बतला देती हैं। पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग का भी प्रचलन है—[ईश्वरसिंह] के लिए [भगवानसिंह] या [प्रेमसिंह] के लिए [प्यारासिंह] आदि। एक स्त्री ने तो एकबार बहुत ही मनोरंजक प्रयोग किया जिसे सुनकर हँसी के फव्वारे छूटते हैं—हिंदू समाज

में प्रायः स्त्रियाँ उन दिनों ससुराल नहीं जातीं जब कि तारा डूबा हो। तारा उदित होने के पश्चात् ससुराल जाने के शुभ दिन माने जाते हैं। एक स्त्री ने दूसरी स्त्री से पूछा—बहन, ससुराल कब जा रही हो? उत्तर मिला—अभी तो 'मुन्नी के पापा' डूबे हैं, बहन! जब वो दिखाई देंगे तब जाऊँगी। स्पष्ट है कि पति का नाम तारा रहा होगा। यदि कोई स्त्री [मासिक धर्म] में हो तो ग्राम्यपरिवेश में उसका [छूत में होना] कहा जाता है। इसी प्रकार यदि कोई स्त्री गर्भ धारण कर लेती है तो उसे [उसके रह गया] ही कहा जाता है। द्विभाषिकता की स्थिति में [मासिकधर्म] के लिए [मेन्सस] और [गर्भधारण] के लिए [प्रेगनेंट] शब्दों का प्रयोग होता है।

कई बार महिलाओं को ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है जब वे संकेतात्मकता से अपना मंतव्य प्रकट कर लेती हैं। जब कभी घर में पति के दोस्त या अतिथि आए हों तो चाय या खाना तैयार हो चुकने पर खाँसकर, खटखटा कर पत्नी मंतव्य प्रकट कर लेती हैं। टैबू शब्द पीढ़ी-अंतर से भी न बच पाए हैं। एक परिवार में छोटा भाई अपने बड़े भाई का नाम लेकर संबोधित नहीं करता, बल्कि [भैया] ~ [भाई साहब] ~ [दादा] कह कर संबोधित करता है। इसी प्रकार पुत्र [पिताजी] ~ [बाबूजी] कहकर, नाती [दादाजी] ~ [बाबा] कहकर और भतीजा [चाचाजी] तथा [चाचीजी] कहकर व्यावहारिक निर्वाह करता है।

अंतरभाषीयता (Interlingual Situation) की स्थिति उपर्युक्त दोनों स्थितियों से भिन्न और दिलचस्प है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन का उदाहरण पर्याप्त होगा—कुछ हिंदी भाषी छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विश्वभारती विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। बंगलाभाषी छात्रों के बीच बातचीत करते हुए जब वे (बाल) 'Hair' शब्द का प्रयोग करते थे तो बंगलाभाषियों को बहुत ही बुरा लगता था। क्योंकि बंगला में [बाल] का अर्थ '..........' है। बंगलाभाषी छात्रों से जब उन्हें मालूम हो गया कि [बाल] बंगला में '..........' को कहते हैं तो तब से बँगलाभाषियों के बीच हिंदी भाषी छात्र [बाल] शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। यदि उन्हें बाल कटवाने नाई की दुकान पर जाना हो तो—'नाई की दुकान पर केश कटवाने जा रहा हूँ', कहा करते थे। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि शांतिनिकेतन या बंगलाभाषी क्षेत्र में रहने तक ही हिंदी भाषियों के लिए शब्द टैबू बना रहा।

भाषिक संदर्भ में टैबू के अध्ययन की ओर विद्वानों का कम ही ध्यान गया है। वस्तुतः यह भाषा समस्या ही कुछ ऐसी है जिसकी ओर आसानी से ध्यान नहीं जा पाता।

**संदर्भ-ग्रंथ**

Emeneau, Murry B. 1948 : "Taboos on Anima Names." *Language*, 24, pp. 56-63.

Hass, Mary R, 1964 : "Interlingual Word Taboos" in *Language in Culture & Society*, Ed. Dell Hymes PP. 489-494

Leslau, Wolf, 1952 : "A Footnote on Interlingual word Taboo". *American Anthropologist*, 54.

Webster, Hutton, 1942 : *Taboo : A Sociological Study*, Stanford, Stanford University Press.

# नाते-रिश्ते की आधारभूत शब्दावली

—वैश्ना नारंग

किसी समाज में पाए जाने वाले मनुष्य के आपसी रिश्तों तथा संबंधों के बारे में विभिन्न मानव-शास्त्रियों ने विभिन्न रीति से विचार किया है। किसी ने केवल वैवाहिक संबंध को आधार मानकर रिश्ते (kinship) को परिभाषित किया है तो किसी ने रिश्तों के साथ सामाजिक नियमों एवं कर्तव्यों को भी महत्वपूर्ण बनाया है। कुछ परिभाषाएँ यहाँ दी जा रही हैं।

लेवी स्ट्रॉस के अनुसार "किस तरह वैवाहिक संबंधों को व्यवस्थित किया जाए—यही रिश्ते के मूल तत्व[1] हैं।" किसी अन्य संदर्भ में इसी परिभाषा को दूसरा रूप देते हुए लेवी स्ट्रॉस का कहना है—"अपने समाज की महिलाओं को पद के साथ आप किस तरह स्थान-परिवर्तन करते हैं—यही रिश्ते का आधारभूत तत्व है[2]।"

रेडक्लिफ ब्राउन तथा डेरिल फोर्ड ने इसे वह व्यवस्था माना है जिसमें व्यक्ति एक व्यवस्थित सामाजिक जीवन व्यतीत करते हुए इकट्ठे रहते हैं[3]। सामाजिक संदर्भ में रिश्ते का महत्व बताते हुए रेडक्लिफ ब्राउन तथा डेरिल-फ़ोर्ड का कहना है कि रिश्तों की व्यवस्था सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था है जिसे पूरी सामाजिक संरचना का एक अंग माना जा सकता है।

---

1. "How to organise marriage relations—is kinship." (1944 : 47-63).
2. "How you move ladies of your society with status is kinship." (1949 : 47-63).
3. "A system of kinship can be looked at as an arrangement which enables persons to live together and co-operate with one another in an orderly social life." (1970 : 1-84, p. 3)

एक दूसरे से संबंधित व्यक्तियों के पारस्परिक कर्तव्य एवं अधिकार इस व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग हैं[1]।

इसी प्रकार रिश्ते को कई प्रकार से परिभाषित किया गया है और इन सभी परिभाषाओं के आधार पर रिश्ते के बारे में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि (1) जन्म (2) विवाह और (3) मृत्यु—इन तीनों के आधार पर संबंध-व्यवस्था समाज को नियंत्रित करती है।

लीच ने इस व्यवस्था की रंगों की शब्दावली एवं व्यवस्था से तुलना की है। बर्लिन तथा केय के कथनानुसार रंगों को ग्यारह वर्गों में बाँटा जा सकता है जिनमें से कुछ रंग एवं उनके लिए प्रयुक्त शब्द सभी भाषाओं में मिल सकते हैं और इन्हें बर्लिन और केय ने सार्वभौमिक (Universal) माना है। इनके अतिरिक्त जो रंगों के वर्ग हैं उनकी किसी भाषा में उपस्थिति एक दूसरे पर निर्भर है। अर्थात् इनमें एक प्रकार का अनुस्तरण देखा जा सकता है।

इस व्यवस्था की रिश्तों के साथ तुलना करते हुए ज्यौफ्रे लीच ने जो प्रश्न उठाए हैं वे इस प्रकार हैं—क्या रिश्ते की व्यवस्था में कुछ सार्वभौमिक तत्व (Universal) हैं ?

जैसे, क्या रिश्तों का ऐसा वर्गीकरण हो सकता है कि कुछ रिश्ते या कुछ वर्ग सभी भाषाओं में पाए जा सकें और अन्य वर्गों की उपस्थिति या अनुपस्थिति प्रत्येक भाषा की अपनी विशेषता है ? लेकिन कुछ संबंधों को सभी सांस्कृतिक संदर्भों तथा भाषाओं में मान्य समझने से पहले क्या हमें कुछ तत्वों को सांस्कृतिक दृष्टि से सार्वभौमिक नहीं मानना होगा ?

यदि हम इस प्रकार के सांस्कृतिक, सार्वभौमिक तत्वों को मानते हैं तो देखना होगा कि क्या मूल परिवार की संकल्पना सभी संस्कृतियों में है ?

---

1. "A kinship system is a network of social relation which constitutes part that total network of social relations which is the social structure. The rights and duties of relatives to one another are part of the system and so are the terms used in addressing or refering to the relatives" (1970.1-84) p-13

रिश्ते की व्यवस्था में मूल परिवार (Elementary family) की संकल्पना को रेडक्लिफ-ब्राउन तथा डेरिल फ़ोर्ड ने एक सार्वभौमिक तत्व मानते हुए कहा है कि यह रिश्तों की मूल इकाई है और किसी भी व्यक्ति के संबंधियों में वे सब संबंध हैं जो उसके माता-पिता, भाई-बहन, पति/पत्नी, या संतान द्वारा स्थापित किए गए हैं[1]। अर्थात् मूल परिवार को तीन स्तरों पर लिया जा सकता है :

1. पति-पत्नी △=O
2. माता-पिता △=O ↓ △ अर्थात् △=O | △ O
3. भाई-बहन △—O
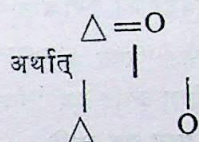
जैसा कि पहले कहा गया है : रिश्ते, जन्म, विवाह तथा मृत्यु के आधार पर समाज को नियंत्रित करते हैं। इसी तथ्य को यदि हम परिवार की संकल्पना के साथ देखें तो "जन्म" के द्वारा एक बच्चे का माता-पिता ही नहीं, उनसे संबंधित सभी व्यक्तियों से संबंध स्थापित होता है तथा केवल जन्म लेने से ही वह कई व्यक्तियों के साथ भाई, भाँजे, भतीजे आदि का स्थान ग्रहण करता है।

वयस्क होने पर यही व्यक्ति एक अन्य मूल परिवार से पति/पत्नी एवं माता/पिता के रूप में अपने कर्तव्य निभाता है। मृत्यु का भी इन रिश्तों में उतना ही महत्व है जितना जन्म या विवाह का है। उदाहरण के लिए—इस एक व्यक्ति की (जो कि एक परिवार में पुत्र तथा दूसरे में पति एवं पिता है) मृत्यु से अन्य व्यक्तियों का परस्पर क्या संबंध रह जाता है, तथा अन्य व्यक्तियों का परस्पर क्या स्थान है; इनमें से किस व्यक्ति का कितना अधिकार और क्या कर्तव्य है, इत्यादि हर समाज में अलग-अलग दृष्टि से देखा जा सकता है।

---

1. "An elementary family is the basic unit of kinship strutures. What is meant by this is that the relationship of knisship of any person are all connections that are traced through his parents, his siblings, his spouse or children," (1970 : 1-82).

इसी संदर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि इन संबंधों में क्या केवल समरक्त संबंध ही महत्व रखते हैं ? जैसे, "पिता" शब्द क्या केवल "जनक" के लिए ही प्रयोग किया जा सकता है या सामाजिक दृष्टि से जो पिता है (माँ का पति) उसके भी कर्तव्य एवं अधिकार वही हैं ? रेडक्लिफ़ ब्राउन तथा डेरिल फोर्ड द्वारा दी गई परिभाषा[1] के अनुसार रिश्ते केवल सामाजिक दृष्टि से देखे जाते हैं। यद्यपि सामाजिक दृष्टि से संबंधित व्यक्ति रक्त संबंधी भी हो सकते हैं और अधिकतर होते हैं।

संबंधों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है :

जैसे, "रक्त संबंधी" (Consanguines) जैसे, पिता-पुत्र, भाई-बहन, दादा-पोता आदि एवं "विवाह संबंधी" (Affines) जैसे, पति-पत्नी, जीजा-साली, सास-बहू आदि।

अधिकार एवं उत्तराधिकार के आधार पर रिश्तों की व्यवस्था मुख्यत: दो प्रकार की हो सकती है—पैतृक अथवा परिवार या वंश के नाम के आधार पर। इन्हीं को पितृनामी (Patrilineal) अथवा मातृनामी (Matrilineal) परिवार कहा जा सकता है।

पितृनामी परिवार में व्यक्ति जन्म से ही अपने पितृकुल से संबद्ध हो जाता है तथा अधिकार एवं नियंत्रण उस परिवार के पुरुष वर्ग में निहित होते हैं। जिस समाज में विवाह के पश्चात् पति पत्नी के घर रहता है और संतान जन्म से ही अपने मातृवंश से संबद्ध हो उसे मातृनामी/मातृक समाज कहा जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था में अधिकार एवं उत्तराधिकार पुरुषों की तुलना में स्त्रीवर्ग के ही अधिक होते हैं या माता के संबंधियों के

---

1. "Two persons are kin when one is descended from the other or both are descended from a common ancestor"...... ............"kinship then results from the recognition of a social relationship between parents and children, which is not the same thing as the physical relation and may or may not coincide with it". (1970 : P-4).

(अधिकतर मामा के) अधिक होते हैं। इन दो प्रकार के वंशों का अंतर संलग्न चित्रों द्वारा स्पष्ट हो जाएगा :
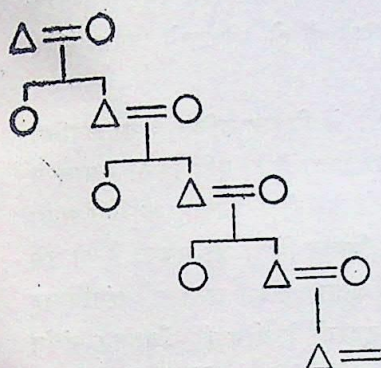
पितृनामी/पैतृक वंश
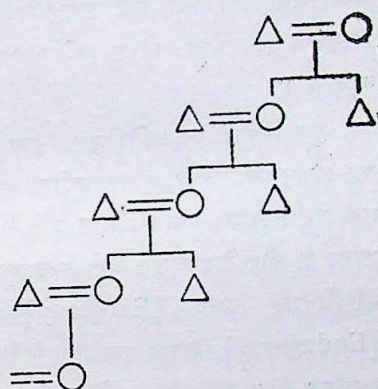
मातृनामी मातृक वंश

मूल परिवार की संकल्पना प्रत्येक समाज एवं संस्कृति में मान्य है या नहीं—इस संदर्भ में उन संस्कृतियों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है जिनमें 'माता-पिता तथा संतान' से बने मूल परिवार का कोई स्थान नहीं है। मुडएनफ ने इस प्रकार की सभ्यता के कई उदाहरण दिए हैं। अफ्रीका की कुछ जंगली जातियों में पिता को केवल एक कारण माना जाता है तथा माँ-बच्चे के संबंध को ही प्रमुख माना जाता है। पिता बच्चे के लिए उसकी 'माँ के पति' के रूप में केवल आंशिक महत्व रखता है। इस प्रकार कुछ अन्य पैतृक जातियाँ हैं जिनमें बच्चे को एक बीज माना जाता है और माँ केवल उस बीज के लिए एक प्राकृतिक संदर्भ प्राकृतिक पर्यावरण ही है। माँ बच्चे का संबंध पिता और बच्चे के संबंध की तुलना में गौण होता है। लाउन्सबरी (1969) ने भी इस प्रकार के कई उदाहरण दिए हैं जिनमें मूल परिवार का कोई स्थान नहीं। तो क्या प्रत्येक समाज में मूल परिवार की संकल्पना ही अलग-अलग है ? जैसे किसी समाज में 'माता तथा संतान' ही रिश्तों की मूल इकाई है तो किसी समाज में 'पिता तथा संतान' मूल परिवार की स्थापना करते हैं और अन्य समाजों में 'माता-पिता-बच्चे' एक इकाई बनाते हैं।

**विवाह** : प्रत्येक समाज में वैवाहिक संबंधों के लिए अलग-अलग नियम होते हुए भी अति निकट संबंधियों में विवाह हर समाज में निषिद्ध होते हैं।

प्राथमिक संबंधियों में अर्थात् मूल परिवार के सदस्यों में पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्य दो व्यक्तियों के मध्य यौन-संबंध किसी भी समाज में मान्य नहीं है। यही नहीं, मूल परिवार के संबंधों के अतिरिक्त दूसरे अनुस्तरण के संबंध यदि रक्त संबंध (Consanguines) हैं तो भी उनमें विवाह संभव नहीं है।

इन रिश्तों के अतिरिक्त अन्य संबंधों में विवाह उचित है या अनुचित यह प्रत्येक समाज में अलग दृष्टि से देखा जाता है। यदि किसी समाज में एक संबंध समूह, एक विशिष्ट वर्ग के सदस्यों के बीच विवाह अनुचित माना जाता है और केवल उस वर्ग के बाहर ही विवाह किया जा सकता है तो उसे बहिर्विवाह प्रथा [Exogamy] कहा जाता है। अन्यथा, अंतर्विवाह [Endogamy] जिसमें एक वर्ग विशेष के सदस्यों के बीच ही वैवाहिक संबंध स्थापित किए जाते हैं। जैसे मुस्लिम समाज में ममेरे, फुफेरे भाई बहिनों में अर्थात् भाई-बहिन से बच्चों में शादी सर्वमान्य है और उचित मानी जाती है, लेकिन हिंदू समाज में इस प्रकार के अंतर्विवाह नहीं होते।

**बहु विवाह प्रथा** [Polygamy]: अपना अलग महत्व रखती है। जिस परिवार में एक पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता है उसे बहुपत्नी परिवार [Polygnous family] कहा जाता है। उदाहरण के लिए—मुस्लिम समाज के कई वर्ग, भारत की कुछ जातियाँ विशेषतः मध्य प्रदेश की गोंडा जाति तथा अन्य पूर्वी प्रदेशों में रहने वाली कुछ जातियाँ उल्लेखनीय हैं। दूसरे प्रकार का बहुविवाह—बहुपति परिवार [Polyandrous family]—इनकी तुलना में कम प्रचलित है। इनमें भी अधिकांश परिवार भ्रातृबहुपतिक परिवार हैं जिनमें एक स्त्री दो तीन भाइयों से विवाह कर सकती है। जैसे—नीलगिरि की टोडा जाति, जौनसार बावर क्षेत्र में रहने वाली कुछ जातियाँ।

**रिश्तों का अनुस्तरण** : हर समाज में प्रत्येक संस्कृति में जो रिश्ते हैं उनका अनुस्तरण करते हुए उन्हें वर्गीकृत किया जा सकता है। प्राथमिक संबंध [First Order Relations] वे रिश्ते हैं जो मूल परिवार में पाये जाते हैं, अर्थात् पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन इत्यादि। दूसरे अनुस्तर पर वे रिश्ते हैं जिनमें बीच में संबंध स्थापित करने के लिए एक अन्य व्यक्ति का होना आवश्यक है

---

"Ordering of relationships" as given by Redcliffe—Brown & Daryll Forde. (pp. 6-7)

जैसे, पिता की बहन, माता के पिता, भाई की पत्नी इत्यादि। तीसरा अनुस्तर उन संबंधों के लिए है जिनके मध्य दो व्यक्तियों के माध्यम से संबंध स्थापित होता है। उदाहरण के लिए : पिता के भाई का पुत्र, भाई की पत्नी के पिता, माँ के भाई की पत्नी इत्यादि।

रिश्तों का ऐसा अनुस्तरण प्रत्येक समाज में है लेकिन किस स्तर तक इन संबंधों का सामाजिक महत्व रहता है यह हर संस्कृति में अलग-अलग है। यह रिश्ते तथा इनका अनुस्तरण इनका सामाजिक महत्व आदि संबोधन के शब्दों में रिश्ते के नाम के रूप में भी व्यक्त होते हैं। दो संबंधों के लिए यदि एक ही शब्द का प्रयोग होता है तो साधारणतः उनके सामाजिक अधिकार एवं कर्तव्य भी समान होते हैं। जैसे हिंदी भाषी समाज में चाचा-मामा दो शब्द, दो अलग संबंधियों के लिए प्रयुक्त होते है और उनके स्थान पर अंग्रेजी में केवल एक शब्द 'अंकल' प्रयुक्त होता है। इन दो संदर्भों में चाचा तथा मामा के अधिकारों एवं सामाजिक महत्व का भी अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है।

रिश्ते की शब्दावली मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है—

1. **वर्णनात्मक शब्दावली** (Descriptive terminology) जिसमें पहले या दूसरे अनुस्तरण तक ही विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है और उसके बाद सभी संबंधों के लिए इन शब्दों के साथ व्युत्पादक प्रत्यय लगाकर उन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अफ्रीका में कुछ ऐसी संबंध व्यवस्थाएँ हैं जिनमें केवल मूल परिवार के सदस्यों के लिए सरल शब्द हैं, अन्य सभी रिश्तों के लिए व्युत्पन्न शब्द प्रयुक्त होते हैं।

2. **वर्गीकरणात्मक शब्दावली** (Classificatory terminology) जिस में उन एक से अधिक संबंधियों के लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाता है जिनका समाज में एक जैसा स्थान होता है। जैसे अंग्रेजी में 'कजिन' (Cousin) शब्द के अंतर्गत वे सभी संबंधी आते हैं जिनका सामाजिक महत्व भी लगभग समान है। अन्य भाषाओं में इस शब्द के स्थान पर दो या दो से अधिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, केवल इसलिए कि उन संबंधों को अलग अलग महत्व दिया जाता है। हिंदी में कज़िन शब्द के लिए प्रयुक्त शब्दों में कुछ व्युत्पन्न शब्द भी हैं, जैसे, चचेरा भाई, ममेरी बहन इत्यादि। जिनके द्वारा हिंदी तथा अंग्रेजी की क्रमशः विस्तृत तथा संक्षिप्त (Wide

range and narrow range terminology) एवं वर्णनात्मक तथा वर्गीकरणात्मक शब्दावली का अंतर स्पष्ट रूप से सामने आता है। इनकी विस्तृत तुलना हिंदी की रिश्ते की शब्दावली के संक्षिप्त विवरण के पश्चात् यहाँ दी जा रही है :

**हिंदी में रिश्ते की शब्दावली :**

(1) **प्रथम अनुस्तरण के संबंधों की तथा इसके लिए प्रयुक्त शब्दावली की विशेषताएँ :**

L+1 △=O
पिता (F) | माता (M)

L0 △ / O= [△/O] –△ / O
पति पत्नी (H) (W) — अहं (ego) — भाई बहन (B) (Z)

L–1 △ O
पुत्र/बेटा (S) पुत्री/बेटी (D)
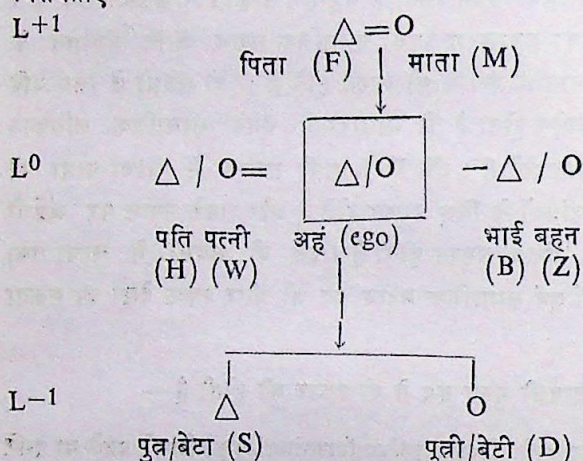
सभी शब्द सरल शब्द हैं। प्रत्यय केवल एक शब्द पुत्र/बेटा के साथ प्रयोग किया जाता है, यद्यपि उसका सामाजिक संदर्भ में कोई विशेष महत्व नहीं है। अर्थात् 'पुत्र' शब्द मूल धातु है या मुख्य है और 'पुत्री' शब्द व्युत्पन्न शब्द है, लेकिन 'पुत्री' संबंध गौण हो—ऐसा नहीं है।

(2) **द्वितीय अनुस्तरण के संबंधों के लिए प्रयुक्त शब्दावली :—**

L+2 [FF=दादा FM=दादी MF=नाना MM=नानी] L+2

L+1
FB < ताऊ (FEB), चाचा (FYB)
FZ=बुआ/फूफी
MB=मामा
MZ=मौसी
WF, HF > ससुर
WM, HM > सासु
L+1

L0
BW= भाभी
ZH=बहनोई
WB=साला
WZ=साली
HB < जेठ (HEB), देवर (HYB)
L0

L–1 [SW=बहू DH=दामाद] L–1

L–2 [SS=पोता SD=पोती DS=नाती DD=नातिन] L+2
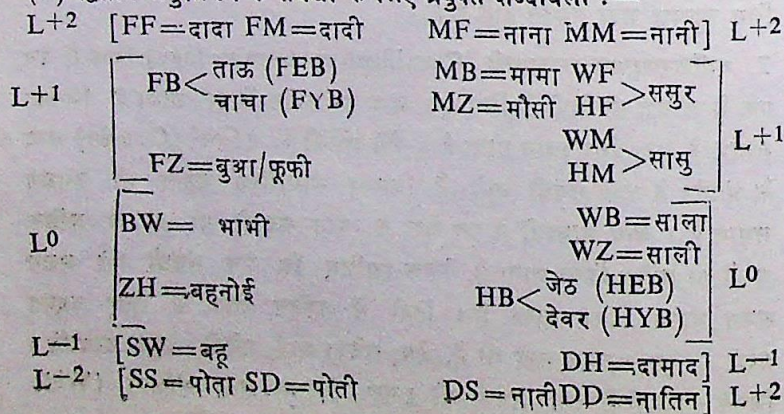
द्वितीय अनुस्तरण के सबंध के लिए प्रयुक्त इन शब्दों में अधिकतर सरल शब्द हैं। अन्य शब्दों में जहाँ प्रत्यय द्वारा एक शब्द से दूसरा शब्द बना है उनमें में भी /—आ→—ई/द्वारा लिंग-भेद ही प्रमुख है। जैसे, दादा दादी, साला-साली, पोता-पोती। लेकिन इस का सामाजिक महत्व बिल्कुल नहीं है, क्योंकि प्रत्यय द्वारा एक संबंध प्रमुख और दूसरा गौण नहीं बताया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य मिश्रित शब्द हैं—बहनोई, नातिन।

इस अनुस्तरण तक के शब्दों में एक विशेषता यह भी है कि वर्गीकरणात्मक शब्दावली का प्रयोग लगभग नहीं है। किन्हीं दो संबंधियों के लिए एक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसके विपरीत एक संबंध के लिए दो शब्दों का प्रयोग करते हुए और भी अधिक प्रभेद (differentiation) देखने में आता है।

जैसे :—माता का भाई=मामा, लेकिन पिता का भाई < ताऊ / चाचा

हिंदी भाषी समाज में संयुक्त परिवार की संकल्पना को देखते हुए इस शब्दों का अपना एक सामाजिक महत्व भी है। सामाजिक अधिकारों एवं कर्तव्यों की दृष्टि से माता के माध्यम से बने संबंध पिता के माध्यम से बने संबंधों की तुलना में गौण हैं। प्रमुख रिश्ते वही माने जाते हैं जो पिता के माध्यम से बनते हैं। यही स्त्री के लिए भी वे रिश्ते अधिक महत्वपूर्ण हैं जो पति से संबंधित हैं जबकि पति के लिए पत्नी से संबंधित व्यक्तियों का उतना महत्व नहीं होता। यह अंतर उनके लिए प्रयुक्त शब्दावली में देखा जा सकता है। जैसे :—

पत्नी का भाई=साला, पति का बड़ा भाई=जेठ
पति का छोटा भाई=देवर

इसी तरह आयु के आधार पर ताऊ-चाचा का अंतर।

हिंदी में केवल लिंग, पीढ़ी तथा रिश्ते का अनुस्तरण महत्वपूर्ण है, इसके साथ ही साथ आयु भी उतना ही महत्व रखती है।

यहाँ प्रथम अनुस्तरण के रिश्तों को आधार मान कर उनके लिए नृतत्व शास्त्र में प्रयुक्त रोमन वर्णों द्वारा रिश्तों को चित्रित किया गया है।

इन वर्णों का विवरण इस प्रकार है :

F = पिता (Father) M = माता (Mother) B = भाई (Brother)
Z = बहन (Sister) S = पुत्र (Son) D = पुत्री (Daughter)
H = पति (Husband) W = पत्नी (Wife) E = बड़ा (Elder)
Y = छोटा (Younger)

दो वर्णों का एक साथ प्रयोग करते हुए संबंध बताया गया है, जैसे--FB = पिता का भाई। अन्य रिश्तों के लिए भी इन्हीं वर्णों का इसी प्रकार प्रयोग किया जाएगा।

(3) तृतीय अनुस्तरण के संबंधों की शब्दावली :

इनमें अधिकतर व्युत्पन्न शब्द हैं सामाजिक संदर्भ में महत्व भी मूल शब्दों की तुलना में गौण माना जा सकता है। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

L+3 MFF, MMF परनाना MFM, MMM = परनानी, FFF, FMF } परदादा

FFM, FMM = परदादी

L+2 MFB = नाना* FFT = दादा*

L+1 MBW = मामी FBW < ताई (FEBW), चाची (FYBW)

MZH = मौसा FZH = फूफा

WFB = चचिया ससुर

HFB = ,, ,,

L0 WBW = सलहज HBW < जेठानी (HEBW), देवरानी (HYBW)

WZH = साढू HZH = ननदोई

FBS = चचेरा/तयेरा भाई, FBD = चचेरी/तयेरी बहन

MZS = मौसेरा भाई MBD = ममेरी बहन

दूसरे तथा तीसरे अनुस्तरण के कई संबंध हैं जिनके लिए भिन्न शब्दावली नहीं है। जैसे :

भाई का लड़का (दूसरा अनुस्तरण) = भतीजा
पत्नी के भाई का लड़का (तीसरा अनुस्तरण) = भतीजा

अर्थात् पत्नी का भतीजा

पति के भाई का लड़का/पति का भतीजा = भतीजा

इसी तरह बहन का लड़का और पति/पत्नी की बहन का लड़का = भांजा

तीसरे अनुस्तरण के संबंधों की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

1. व्युत्पन्न शब्द पहले तथा दूसरे अनुस्तरण के रिश्तों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं।
2. संयुक्त शब्द का प्रयोग पहले की अपेक्षा काफी अधिक मात्रा में है। जैसे—परनाना, परदादा। इनके पति के पिता या पत्नी के पिता के लिए ससुर शब्द है तो उनके छोटे भाई के लिए चचिया ससुर।
3. वर्णनात्मक शब्द जैसे - चचिया ससुर या ददिया सास, चचेरा भाई, फुफ़ेरी बहिन—रिश्ते का ठीक-ठीक वर्णन करते हुए प्रयुक्त होते हैं।
5. कुछ संबंधों के लिए वर्गीकृत शब्दावली का प्रयोग भी देखने में आता है। जैसे—मौसी, भाँजा या बुआ-भतीजा, इस प्रकार के संबंधों में केवल भाँजा शब्द या केवल भतीजा शब्द दो प्रकार के संबंधों के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण ऊपर चिह्न के साथ दिए गए हैं—**नाना** और **दादा** शब्दों का प्रयोग केवल **माता के पिता** तथा **पिता के पिता** के लिए ही नहीं बल्कि उनके भाई के लिए भी प्रयुक्त होता है।

(4) **चौथे अनुस्तरण के संबंधों के लिए प्रयुक्त शब्दावली :**

इस स्तर पर केवल कुछ ही संबंध ऐसे हैं जिनके लिए अलग शब्दों का प्रयोग किया जाता है और इनमें भी सभी शब्द संयुक्त या मिश्रित शब्द हैं, जैसे—

HFBW = चचिया सास

WFBW = चचिया सास

इनके अतिरिक्त अन्य संबंधों के लिए अलग शब्दों का प्रयोग लगभग नहीं है और उनका सामाजिक महत्व भी उतना ही गौण है। यदि किसी संबंध के लिए शब्द की आवश्यकता भी हो तो दूसरे तथा तीसरे अनुस्तरण के संबंधों के लिए प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग कर लिया जाता है। जैसे :—

HBWF = जेठानी के पिता/जेठ ससुर/देवरानी के पिता

FBWZ = चाचा/ताऊ की साली या चाची की बहन इत्यादि।

**हिंदी तथा अंग्रेजी में प्रयुक्त रिश्तों की शब्दावली का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन :**

हिंदी तथा अंग्रेजी की इस शब्दावली का अंतर प्रथम अनुस्तरण से, अर्थात् प्राथमिक संबंधों से ही स्पष्ट होने लगता है। मूल परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिए ही नहीं, प्रत्येक संबंध के लिए भी एक एक या अलग शब्द का प्रयोग किया जाता है जिनके लिए हिंदी में कोई सरल शब्द, प्रत्यय बिना कोई शब्द नहीं है।

**मूल परिवार**

Parents

△ —— O

पिता Father | माता Mother

△/O Spouse = [△ ⌒ O] —— △—O Siblings

पति पत्नी Husband Wife | अहं/ego | भाई-बहन Brother-Sister

← Offspring संतान

△ बेटा Son | O बेटी Daughter
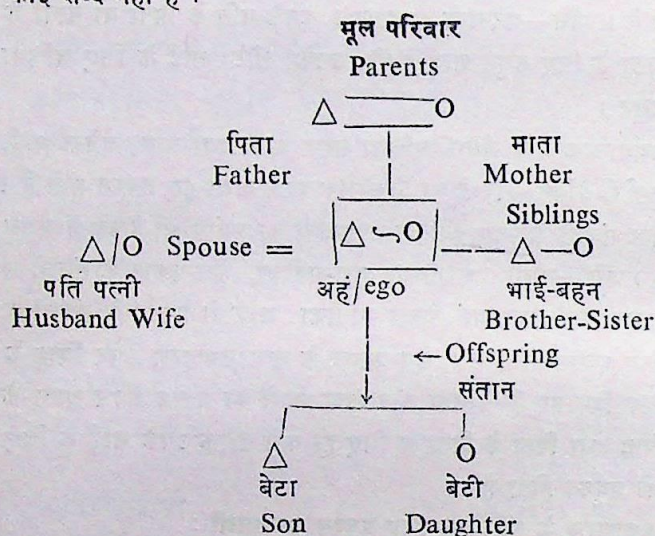
**दूसरे अनुस्तरण के संबंध :**

L+2 दादा = दादी | नाना = नानी

Grandfather = Grandmother | Grandfather = Grandmother

L+1 ताऊ-चाचा-मामा → uncle | सास → mother-in-law

फूफी-मौसी → aunt | ससुर → father-in-law.

L⁰ जेठ-देवर—साला, बहनोई → Brother-in-law.

ननद—साली-भाभी → Sister-in-law.

L−1 बहू → Daughter-in-law.

दामाद → Son-in-law.

L−2 पोता-नाती → Grandson.

पोती-नातिन → Granddaughter.

इसी प्रकार अन्य कई संबंध जिनके लिए हिंदी में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उनके लिए अंग्रेजी में अंतर स्पष्ट किए बिना केवल एक शब्द का प्रयोग होता है। इसके कुछ और उदाहरण इस प्रकार हैं :

चचेरा-फुफेरा-ममेरा-मौसेरा भाई=Cousin
चचेरी-फुफेरी-ममेरी-मौसेरी बहन=Cousin

भाई/बहन का लड़का
पत्नी के भाई/बहन का लड़का } भतीजा-भाँजा=Nephew

भाई/बहन की लड़की
पत्नी के भाई/बहन की लड़की } भतीजी-भाँजी=Niece

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिंदी की अपेक्षा अंग्रेजी में कहीं अधिक वर्गीकृत शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। इन संबंधों के साथ जो सामाजिक बंधन या अधिकार, उत्तराधिकार तथा कर्तव्य हैं वे भी अंग्रेजी में उतने ही सीमित हैं, जबकि हिंदी में इनका विस्तार अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। इसका प्रमुख कारण यह कि मूल परिवार की संकल्पना के बाद संयुक्त परिवार जैसी कोई संकल्पना अंग्रेजी भाषा-समाज में नहीं है।

हिंदी की अपेक्षाकृत विस्तृत एवं प्रभेदक शब्दावली तथा अंग्रेजी की संक्षिप्त एवं वर्गीकृत शब्दावली को रेडक्लिफ-ब्राउन तथा डेरिल फोर्ड के शब्दों में क्रमशः "Wide range terminology" तथा "Narrow range terminology." Redcliffe Brown & Daryll Forde (1970, pp 6-7) कहा जा सकता है, क्योंकि व्युत्पन्न तथा संयुक्त शब्द हिंदी में जहाँ तीसरे या चौथे अनुस्तरण के संबंधों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं वहाँ अंग्रेजी में दूसरे अनुस्तरण पर ही सरल शब्दों का प्रयोग समाप्त हो जाता है।

संबंधों का वर्गीकरण हिंदी में दूसरे अनुस्तरण पर लगभग नहीं है और तीसरे अनुस्तरण के संबंधों में केवल शुरू होता है जबकि अंग्रेजी में मूल परिवार की संकल्पना के बाद सभी संबंधियों को कुछ सीमित वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है। साथ ही साथ सामाजिक बंधनों को भी देखा जाए तो हिंदी भाषी समाज तथा अँग्रेजी भाषी समाज में संबंधों की व्यवस्थाओं का अंतर भी शब्दावली की ही भाँति सुस्पष्ट है। एक समाज में व्यक्ति वयस्क होने पर अपने मूल परिवार में पुत्र/पुत्री का कर्तव्य अदा करने

के अतिरिक्त एक अन्य परिवार की संरचना करता है जिसमें वह पति/पत्नी तथा पिता/माता का स्थान प्राप्त करता है, लेकिन यह परिवार पूर्णतः स्वतंत्र न होने के कारण पहले परिवार के प्रति भी उतना ही सजग रहता है जितना दूसरे परिवार के प्रति। अंग्रेजी भाषी समाज में इसके विपरीत जो नया मूल परिवार बनता है वह पहले परिवार से पूर्णतः स्वतंत्र होता है और उस व्यक्ति के कर्तव्य अपने पहले परिवार के प्रति तथा अपनी पत्नी के प्राथमिक संबंधों के प्रति समान तथा सीमित होते हैं।

**संदर्भ-ग्रंथ**

Goody, Jack 1970 : "The Analysis of kin Terms" in Jack Goody (ed) *Kinship* (pp 299-306),

Goody, Jack (ed) 1970 *Kinship* Penguin Series

Geoffrey Leech(ed) 1974 : "Semantics Colour and Kinship : Two case studies" in *Universal Semantics* (pp 232-262)

Levi-Strauss, C. 1949 : "The Principles of Kinship" in Jack Goody (ed) *Kinship*.

Redcliffe Brown, A. R. 1930 : "Kin terms and Kin Behaviour" in Jack Goody (ed) *Kinship* pp 307-316

Redcliffe Brown, A, R. & Daryll-Ford (ed) 1970 : *African Systems of Kinship and Marriage.* Introduction.

श्यामाचरण दुबे 1969; मानव और संस्कृति, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

*इस लेख के लिए लेखक प्रोफेसर डा० रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव के प्रति हृदय से आभारी है। इन्हीं के निर्देशन में यह लिखा गया है और केंद्रीय हिंदी संस्थान (दिल्ली) में डिप्लोमा विद्यार्थियों के लिए "Kinship" पर दिए गए इनके भाषण से भी लेखक ने पूरा-पूरा लाभ उठाया है।

# रंग की आधारभूत शब्दावली

—शारदा भसीन

सामान्यतः यह माना जाता है कि हर भाषा ध्वनि में प्रत्यक्षण का संकेतन (Encoding) अपने ही ढंग के करती है। इसलिए हर भाषा का अर्थ की दृष्टि से अन्य भाषाओं से सबंध यादृच्छिक होता है। नाइडा, रे, ग्लीसिन, वोहन्नम आदि अपने इस मत की पुष्टि के लिए रंग संबंधी शब्दावली का उदाहरण देते हैं।

नाइडा (1959) के अनुसार भाषायी प्रतीकों के माध्यम से प्रत्यक्षण को अभिव्यक्त करना सर्वथा यादृच्छिक है। इस का सब से अच्छा उदाहरण है— विभिन्न भाषाओं में प्राप्त रंग शब्दावली। अफ्रीका की अधिकतर भाषाओं में केवल तीन रंग शब्दों—सफ़ेद, काला और लाल के द्वारा समूची रंगावली (Spectrum) को विभक्त किया जाता है। मैक्सिको की भाषा "तारा हुमारा" में पाँच रंगों के लिए शब्द हैं, लेकिन नीले और हरे रंग के लिए एक ही शब्द है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्यक्षण का अभिव्यक्ति संबंध सर्वथा यादृच्छिक है। रे (1952) के अनुसार रंगावली का कोई प्राकृतिक विभाजन नहीं है। प्रत्येक भाषा समुदाय ने इसे अपने ही ढंग से यादृच्छिक रूप में विभक्त कर रखा है। ग्लीसन (1961) के अनुसार रंगावली एक सिरे से दूसरे सिरे तक रंगों का एक अनवरत अनुस्तर है, लेकिन उस में ऐसा कुछ अंतर्निहित नहीं है जिस के आधार पर उसे विभाजित किया जा सके। बोहन्नम [1963] ने नाइजीरिया की एक भाषा "तिव" और अंग्रेजी की रंग शब्दावली का उदाहरण देते हुए दिखाया है कि शब्दों में अभिव्यक्त करने के लिए रंगावली को विभिन्न समुदाय जिस ढंग से विभक्त करते हैं उसमें आश्चर्य जनक अंतर दिखाई देता है। उदाहरण के लिए जहाँ अंग्रेजी में समस्त रंगावली को 7 रंगों में विभक्त किया जाता है और सातों के लिए अलग-अलग नाम हैं वहाँ "तिव" भाषी

रंगावली को केवल तीन रंग शब्दों के द्वारा विभक्त करते हैं। वे गहरे हरे, नीले और सलेटी रंगों को "ई" (ii), हल्के नीले, हल्के सलेटी और सफेद को "पुपु" (pupu) तथा लाल से पीले तक सब रंग और भूरे रंग को 'न्यिअन" (nyian) शब्द से अभिव्यक्त करते हैं। इस से यह तात्पर्य नहीं कि तिव भाषी रंगों में अंतर पहचान ही नहीं सकते। वे सभी रंगों में अंतर पहचानते हैं और वर्णांधता "Colour blindness" के परीक्षण भी करते हैं, लेकिन उन के समाज में तीन से अधिक रंगों में अंतर करने और उन्हें अलग-अलग नाम देने की आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि हर भाषा समुदाय के लोग रंगावली को अलग-अलग ढंग से विभाजित करते हैं। इसलिए विभिन्न भाषाओं में अलग अलग संख्या में रंग शब्दावली मिलती है। यह चयन सर्वथा यादृच्छिक है। लेकिन यदि अनुवाद के संदर्भ में देखें तो आपस में सर्वथा असंबद्ध भाषाओं में भी "आधारभूत रंग शब्दावली" अन्य शब्दावली की अपेक्षा सरल प्रतीत होती है। इस शब्दावली में संख्या तथा शब्द-निर्माण के संबंध में भिन्नता होते हुए भी इन के विकास में कुछ ऐसे सामान्य तत्व मिलते हैं जिन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ रंग शब्द आधारभूत हैं तथा अन्य विभिन्न प्राकृतिक उपकरणों से संबंधित शब्दों से व्युत्पन्न होते हैं जिन का किसी भाषा में विकास बाद की अवस्था में कभी आवश्यकता पड़ने पर होता है। उदाहरण के लिए, "सफेद" और "काले" का अंतर सभी भाषाओं में मिलता है और उसके बाद तीसरा रंग शब्द अनिवार्य रूप से लाल के लिए होता है। इन आधारभूत रंगों के पश्चात् "बैंगनी, गुलाबी, भूरा" आदि रंगों के लिए शब्दों का विकास होता है, लेकिन ये शब्द प्रायः आधारभूत न हो कर, जैसा कि हिंदी के इन शब्दों से भी प्रकट है, अन्य पदार्थों के लिए प्रयुक्त शब्दों से व्युत्पन्न होते हैं।

आधारभूत रंग शब्दावली के संबंध में 1967-69 में बर्लिन और के ने विभिन्न भाषा परिवारों की 98 भाषाओं की रंग शब्दावली का अध्ययन-विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला कि ध्वनि व्यवस्था की ही भाँति रंग शब्दावली में भी सार्वभौमिकता है। विश्व की सभी भाषाओं में आधारभूत रंग शब्दावली की कुल संख्या 11 है। ये रंग हैं:—सफेद, काला, लाल, हरा, पीला, नीला, भूरा, बैंगनी, गुलाबी, नारंगी और सलेटी। यह आवश्यक नहीं कि सभी भाषाओं में इन सभी रंगों के लिए आधारभूत शब्द हों। किसी

भाषा में इन 11 रंगों में से 2 से 11 तक किसी भी संख्या में आधारभूत शब्द हो सकते हैं किंतु यह चयन मनमाने ढंग से नहीं होता, बलिक ध्वनि प्रत्यक्षण की ही भाँति इन में एक निश्चित क्रम है जिसके अनुसार भाषाओं में रंग शब्दावली का विकास होता है । यह क्रम इस प्रकार है :

(1) {सफेद / काला} >[ लाल ]> {हरा / पीला} > {पीला / हरा} >[नीला]

>[भूरा]> {बैंगनी / गुलाबी / नारंगी / सलेटी}

>चिह्न से प्रकट होता है कि यदि किसी भाषा में > चिह्न के बाद आने वाले रंग के लिए आधारभूत शब्द हैं तो उस भाषा में > चिह्न से पूर्व आने वाले सभी रंगों के लिए आधारभूत शब्दावली में शब्द अनिवार्यतः होंगे । उदाहरण के लिए—यदि किसी भाषा में नीले रंग के लिए आधारभूत शब्द हों तो उसमें हरे, पीले, सफेद और काले रंग के लिए भी आधारभूत शब्दावली में शब्द अवश्य होंगे ।

बर्लिन और के द्वारा दिए गए इस क्रम में "हरे" और "पीले" में कोई निश्चित क्रम नहीं है, लेकिन जैसा कि आगे (1.5) में बताया गया है, 'मानव-दृष्टि विज्ञान' (human vision physiology) के अनुसार लाल के पश्चात् "हरा" और "पीले" के पश्चात् नीले रंग का प्रत्यक्षण में विकास होता है ।

ऊपर (1) में दिए गए क्रम को किसी भाषा की रंग शब्दावली के विकास का भी क्रम माना गया है । इसके अनुसार भाषा में आधारभूत रंग शब्दावली के विकास की 9 अवस्थाएँ मानी गई हैं जो इस प्रकार हैं—

(2) {सफेद / काला} 1 <[लाल]> 2 {हरा / पीला} 3 > {पीला / हरा} 4 >[नीला] 5

>[भूरा]> 6 {बैंगनी / गुलाबी / नारंगी / सलेटी} 7

विभिन्न भाषा परिवारों की 98 भाषाओं को रंगों, की संख्या तथा शब्दावली के आधार पर, बर्लिन और के ने 22 वर्गों में विभाजित किया है। अवस्था 1 से 6 तक की भाषाओं को अवस्था 3-4 के आधार पर 7 वर्गों में रखा गया है और अवस्था 7 की भाषाओं को 15 वर्गों में विभाजित किया गया है इस प्रकार विश्व की सभी भाषाओं को तालिका 1 के अनुसार 23 वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

| रंग | | सफ़ेद | काला | लाल | हरा | पीला | नीला | भूरा | गुलाबी | बैंगनी | नारंगी | सलेटी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वर्ग | रंगों की संख्या | | | | | | | | | | | |
| 1 | 2 | + | + | — | — | — | — | — | — | — | — | — |
| 2 | 3 | + | + | + | — | — | — | — | — | — | — | — |
| 3 | 4 | + | + | + | + | — | — | — | — | — | — | — |
| 4 | 4 | + | + | + | + | + | — | — | — | — | — | — |
| 5 | 5 | + | + | + | + | + | — | — | — | — | — | — |
| 6 | 6 | + | + | + | + | + | + | — | — | — | — | — |
| 7 | 7 | + | + | + | + | + | + | + | — | — | — | — |
| 8 | 8 | + | + | + | + | + | + | + | + | — | — | — |
| 9 | 8 | + | + | + | + | + | + | + | — | + | + | — |
| 10 | 8 | + | + | + | + | + | + | + | — | — | — | + |
| 11 | 8 | + | + | + | + | + | + | + | — | — | — | + |
| 12 | 9 | + | + | + | + | + | + | + | + | + | + | — |
| 13 | 9 | + | + | + | + | + | + | + | + | — | — | — |
| 14 | 6 | + | + | + | + | + | + | + | + | — | + | + |
| 15 | 9 | + | + | + | + | + | + | + | — | + | — | — |
| 16 | 0 | + | + | + | + | + | + | + | — | + | + | + |
| 17 | 9 | + | + | + | + | + | + | + | — | — | + | + |
| 18 | 10 | + | + | + | + | + | + | + | + | + | — | — |
| 19 | 10 | + | + | + | + | + | + | + | + | + | + | + |
| 20 | 10 | + | + | + | + | + | + | + | + | — | + | + |
| 21 | 10 | + | + | + | + | + | + | + | — | + | + | + |
| 22 | 11 | + | + | + | + | + | + | + | + | + | + | + |

तालिका आधारभूत रंग शब्दावली के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण ।

किसी भाषा को अवस्था 3 में रखने से यह तात्पर्य नहीं कि उस भाषा में तीन से अधिक रंगों के लिए शब्द ही नहीं हैं। उस भाषा में संभव है कि सभी 11 रंगों के लिए शब्द हों, लेकिन आधारभूत शब्दावली में केवल 3 रंगों के लिए शब्द होने के कारण उसे अवस्था 3 की भाषा माना गया।

आधारभूत शब्दावली के निम्नलिखित लक्षण बताए गए हैं :

(i) वे शब्द जो एककोशीय (monolexemic) हों, जिनका अर्थ उस शब्द के विभिन्न भागों से अनुमेय न हो,

(ii) जिन का अर्थ किसी दूसरे रंग संबंधी शब्द में निहित न हो,

(iii) जिनका प्रयोग कुछ गिनी-चुनी वस्तुओं के लिए ही सीमित न हो ; जैसे, "गोरा" शब्द रंग के लिए प्रयुक्त होता है, लेकिन केवल मानव-त्वचा तक ही सीमित है।

(iv) जो उस भाषा के सभी बोलने वालों के लिए समान रूप से परिचित हों तथा प्रयोग की दृष्टि से व्यापक हो।

यदि किसी शब्द के संबंध में संदेह की स्थिति हो तो अन्य आधारभूत वस्तु-विशेष के नाम के रूप में प्रचलित हों अथवा किसी वस्तु-विशेष के नाम से व्युत्पन्न हों उन्हें आधारभूत नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी के "गोल्ड" और "सिल्वर" वस्तुओं के नाम के रूप में प्रचलित हैं और हिंदी के रंग शब्द "नारंगी" और "बैंगनी" क्रमशः 'नारंगी' फल और 'बैंगन' सब्जी के नाम से व्युत्पन्न है। अतः इन्हें आधारभूत नहीं माना जा सकता।

बर्लिन और के के इस विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि विश्व की भाषाओं की **रंग शब्दावली** में कुछ सार्वभौमिक अथवा आधारभूत तत्व हैं, न कि अर्थ की दृष्टि से रंगों में सार्वभौमिकता है। अर्थात् रंग आधारभूत तत्व नहीं है। 1880 से 1959 तक और बर्लिन और के के अनुसंधान के पश्चात् 1972 में हुए अध्ययनों (मैग्नस 1880, रिवर्स 1901, वुडवर्थ 1910, रे 1952, लैड 1959, मैकनील 1973) से ज्ञात होता है कि सभी भाषाओं में रंग संबंधी शब्दावली का विकास प्राकृतिक वस्तुओं के नाम से होता है। बर्लिन और के ने स्वयं भी (पृष्ठ 38) बताया है कि अवस्था 3 में रखी गई अधिकतर भाषाओं में "लाल" के लिए प्रयुक्त शब्द "रक्त" शब्द से बना है और कई भाषाओं में "सफेद" और "काले" रंग का अंतर भी वास्तव में

रंग का अंतर नहीं, बल्कि अंधकार और प्रकाश का अंतर है। तात्पर्य यह कि ऐसी भाषाओं में रंग संबंधी आधारभूत शब्दावली का सर्वथा अभाव है।

मैक्नील के अनुसंधान के अनुसार किसी भाषा में रंग शब्दावली की व्युत्पत्ति सदैव उन प्राकृतिक वस्तुओं के नामों से होती है जिन से मूलतः वे रंग प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, मैक्नील ने "नावाहो" (दक्षिण पश्चिम अमरीका की भाषा), "पुका पुका" (सामोआ के दक्षिण पूर्वी द्वीपों की भाषा) तथा जापानी भाषा के लिए बर्लिन और के द्वारा दिए गए आधारभूत रंग शब्दों की व्युत्पत्ति प्राकृतिक वस्तुओं के नामों से दिखाई है, जिस के आधार पर इन भाषाओं में लाल रंग के लिए प्रयुक्त शब्द को भी आधारभूत नहीं माना जा सकता।

रंग शब्दावली के विकास के संबंध में वुडवर्थ का मत है कि रंग संबंधी शब्दों की व्युत्पत्ति सदैव उस के प्रकार्यात्मक महत्व और प्रयोग की आवृत्ति पर निर्भर करती है और रंग का नाम सदैव उस रंग के किसी प्राकृतिक उपकरण से व्युत्पन्न होता है। यदि किसी रंग की आवश्यकता और आवृत्ति अधिक हो तो उसे किसी एक विशेष वस्तु के नाम के साथ जोड़ दिया जाता है और उस रंग की सभी वस्तुओं को उस विशेष वस्तु के रंग का बताया जाता है। धीरे-धीरे वस्तु का नाम लुप्त हो जाता है और वह शब्द रंग का नाम जाना जाने लगता है। इसके विपरीत यदि किसी रंग की आवश्यकता अधिक न हो तो उस रंग का नाम किसी एक वस्तु विशेष से न जोड़कर अलग-अलग कई वस्तुओं से उस की समानता बताई जाती है। उदाहरण के लिए, हिंदी में अंग्रेजी के "ब्राउन" के समानांतर कोई एक रंग शब्द नहीं है, बल्कि "भूरा" "मटियाला" "कत्थई" आदि कई शब्दों का इस के लिए प्रयोग किया जाता है जिन के द्वारा इस रंग को "भू" "मिट्टी' अथवा "कत्थे" जैसा बताया जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति को अस्थिर अथवा अनिश्चित स्थिति (fluid state) कहा जाता है। इस प्रकार शब्द निर्माण की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि रंग संबंधी शब्द आधारभूत शब्दावली के अंग नहीं हैं, बल्कि लगभग सभी शब्द प्राकृतिक वस्तुओं के नामों से व्युत्पन्न होते हैं। अतः रंग शब्दावली के संबंध में सार्वभौमिक तत्व यही है कि सभी भाषाओं में रंग शब्दावली का विकास उन भाषा समुदायों की आवश्यकता के अनुसार तथा उन्हें प्राप्त प्राकृतिक उपकरणों के आधार पर होता है।

अर्थ की दृष्टि से सभी भाषा समुदायों के लिए रंग सार्वभौमिक हैं। समस्त मानवों में रंगों का प्रत्यक्षण समान रूप से होता है और प्रत्यक्षण का विकास भाषा में ध्वनि प्रत्यक्षण के विकास की ही भाँति एक निश्चित क्रम से होता है। लेकिन यह संभव नहीं है कि उन सभी रंगों से संबंधित शब्दावली भी आधारभूत हो, अर्थात् किसी अन्य शब्द से व्युत्पन्न न हो। इस लिए हम बर्लिन और के के द्वारा दिए गए आधारभूत शब्दावली के लक्षणों को स्वीकार न कर मानव दृष्टि-विज्ञान के आधार पर कुछ रंगों को आधारभूत तथा सार्वभौमिक मान सकते हैं।

इस बारे में कोई मतभेद नहीं हो सकता कि रंगों का प्रत्यक्षण सभी भाषाभाषियों के लिए समान है। लेकिन रंगों के लिए शब्दावली का निर्माण संस्कृति-आश्रित है। आधुनिक युग में तकनीकी विकास के द्वारा रासायनिक रंगों का विकास तथा विभिन्न समुदायों में उनके प्रचार-प्रसार के कारण रंग संबंधी शब्दों के निर्माण में भले ही अंतर आ गया हो, मूल शब्दावली प्राकृतिक वस्तुओं के नामों से ही विकसित हुई है (मैक्नील)। रंगशब्दावली की संख्या का सांस्कृतिक और तकनीकी विकास से संबंध बर्लिन और के ने भी स्वीकार किया है।

रंग प्रत्यक्षण और रंगों में अंतर करने की क्षमता के विकास के आधार पर तथा वर्णान्धता पर हुए अनेक अनुसंधानों के आधार पर रंगों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—प्रकृति में प्राप्त असंख्य रंगों में सफेद और काले के अतिरिक्त चार मूल अथवा आधारभूत रंग हैं। ये रंग हैं—लाला, हरा, पीला और नीला। इन मूल रंगों में भी कुछ रंग एक साथ देखे जा सकते हैं और अन्य नहीं। उदाहरण के लिए, लाल, पीले अथवा नीले रंग के मिश्रण में भी देखा जा सकता है, लेकिन हरे रंग के साथ नहीं दिखाई देता, नीला और पीला रंग लाल या हरे के साथ और हरा पीले या नीले रंग के साथ ही देखा जा सकता है। लाल हरे के साथ और नीला पीले रंग के साथ कभी नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार लाल और हरा, पीला और नीला एक दूसरे के विरोधी रंग हैं। विभिन्न प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि विरोधी रंगों में यदि एक रंग उपस्थित हो तो आँखें उसके विरोधी दूसरे रंग की भी अपेक्षा करती हैं। उदाहरण के लिए, यदि लाल रंग को काफी देर तक ध्यान से देखा जाए और उसके वाद अचानक सफेद पर दृष्टि पड़े तो कुछ क्षण हरा रंग दिखाई देगा। इसी प्रकार काफ़ी देर तक धूप का पीला रंग देखने के

बाद में छाया में सफ़ेद वस्तु में नीला रंग दिखाई देता है। इस प्रकार लाल और हरा, नीला और पीला रंग मानव दृष्टि विज्ञान की दृष्टि से संबंधित हैं। इस से यह प्रमाणित होता है कि रंग शब्दावली के विकास में लाल रंग के पश्चात् हरे और पीले रंग में चयन वैकल्पिक नहीं हो सकता। यह अनिवार्य रूप से "हरा" होगा। यहा नहीं, कई भाषाओं में लाल और पीले रंग में भ्रम है तथा इन दो रंगों के लिए एक ही शब्द मिलता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि रंग प्रत्यक्षण के विकास में लाल और पीले का अंतर हरे रंग के बाद की अवस्था है।

मानव दृष्टि विज्ञान के आधार पर आधारभूत रंग 6 हैं जिनका विकास क्रम इस प्रकार है :—

(3) [सफेद / काला] > [लाल] > [हरा] > [पीला] > [नीला]

यह आवश्यक नहीं कि रंगों से संबंधित शब्दावली भी आधारभूत हो।

रंगों के प्रत्यक्षण के इस विकास क्रम की तुलना ध्वनि प्रत्यक्षण के क्रम से की जा सकती है। ध्वनि और रंग दोनों को आयाम (amplitude) और आवृत्ति (frequency) के संदर्भ में वर्णित किया जा सकता है। आयाम को ध्वनि के संदर्भ में प्रबलता (loudness) तथा रंग के संदर्भ में प्रकाश (brightness) माना जा सकता है और आवृत्ति को ध्वनि के संदर्भ में स्वराघात तथा रंग के संदर्भ में रंग (hue) माना जा सकता है। ध्वनि प्रत्यक्षण और रंग प्रत्यक्षण का संबंध सब से पहले याकवसन और हाले (1956) में दिखाया है। उनके अनुसंधान के अनुसार जिस प्रकार के बच्चे का पहला उच्चारण 'पा' (pa) होता है, जिस में न्यूनतम शक्ति (minimal energy) (p) और अधिकतम शक्ति (maximum energy) (a) में पहला वैषम्य प्रकट होता है। उसी प्रकार रंगों के प्रत्यक्षण में भी पहला वैषम्य अधिकतम प्रकाश 'सफ़ेद' और न्यूनतम प्रकाश 'काले' रंग में होता है।

अवस्था II में ध्वनि में 'प' (p) और 'त' (t) के रूप में पहला तानात्मक विरोध (tonality opposition) दिखाई पड़ता है और रंगों में 'लाल' के आगमन से रंगिमा (hue) प्रकट होती है।

यही नहीं जिस प्रकार कुछ ध्वनियाँ अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक होती हैं या ध्वनि में कुछ तत्व मूलभूत या अचिह्नित (unmarked)

होते हैं तथा कुछ आरोपित (marked) उसी प्रकार रंगों में भी कुछ मूलभूत (unmarked) हैं और कुछ को आरोपित (marked) माना जा सकता है। 1.4 (3) में दिए गए 6 आधारभूत रंगों में भी, जैसा कि उन के विकासक्रम से स्पष्ट होता है, कुछ रंग अन्य रंगों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक हैं और यह सर्वभौमिक सत्य है कि भाषा में आधारभूत या स्वाभाविक तत्वों का विकास पहले और आरोपित तत्वों का विकास बाद में होता है। किसी भाषा में ऊपर दिए गए आधारभूत रंगों के शब्दों का विकास पहले और उनके रंगभेदों के शब्दों का बाद में होगा। भिन्न-भिन्न भाषाओं में उनके बोलने वालों की आवश्यकता और समुदाय में महत्व के अनुसार भिन्न-भिन्न भेदों का विकास होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाषा में सार्वभौमिक तत्व रंग संबंधी शब्दावली नहीं, बल्कि अर्थ की दृष्टि से रंग है। इसलिए भाषाओं का वर्गीकरण इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि किसी भाषा में रंग संबंधी शब्दावली में कितने शब्द आधारभूत हैं, वरन् इस आधार पर किया जाना चाहिए कि कितने आधारभूत रंगों के लिए उस भाषा में शब्द हैं तथा इन शब्दों की विकास की दृष्टि से क्या स्थिति है—अस्थिर अथवा स्थिर।

नीचे भाग II में हिंदी की रंग शब्दावली का इसी आधार पर विवेचन किया गया है। हिंदी रंग शब्दावली संबंधी सामग्री का संकलन तथा विश्लेषण इस प्रकार किया गया है। 15 हिंदी भाषियों को 6 आधारभूत रंग तथा उनके लगभग 40 सूक्ष्म भेद दर्शाती हुई रंग-पटिट्याँ दिखाई गईं और उनसे इन रंगों के नाम पूछे गए। 16 आधारभूत रंगों के नाम सभी के लिए परिचित थे, किंतु उन रंगों के हल्के तथा गहरे भेदों के लिए अलग-अलग रंग भेद के लिए अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग शब्द भी मिले तथा एक ही रंग शब्द अलग-अलग व्यक्तियों ने अलग-अलग रंगों के लिए भी बताया। इस प्रकार हमें 6 आधारभूत रंगों के अतिरिक्त सभी रंग भेदों के लिए अस्थिर स्थिति मिली। अर्थात् एक ही रंग के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग और विभिन्न रंग भेदों में भ्रम की स्थिति भी देखने में आयी। 15 हिंदी भाषियों से प्राप्त रंग शब्दावली का विश्लेषण नीचे भाग–II में किया गया है। हिंदी की रंग शब्दावली का पहले बर्लिन और के द्वारा दिए गए मान-दंड के अनुसार फिर दृष्टि विज्ञान के आधार अध्ययन किया गया है।

**हिंदी की रंग शब्दावली :**

हिंदी उर्दू के संबंध में निम्नलिखित आठ रंग शब्दों को आधारभूत मानते हुए इसे अवस्था VII में वर्ग 9 की भाषा स्वीकार किया गया है :

सफ़ेद, काला, लाल, हरा, पीला, नीला, बादामी और बनफ़शाई ।

लेकिन उनके अपने ही मानदंड के अनुसार 'बादानी' और 'बनफशाई' क्रमशः 'बादाम' और 'बनफ़शा' से व्युत्पन्न होने के कारण आधारभूत रंग शब्द केवल 6 हैं, जिनके आधार पर इस भाषा की अवस्था V को भाषा माना जा सकता है । लेकिन यदि शब्दावली को नहीं, बल्कि रंगों को आधारभूत माना जाए तो शरीर-विज्ञान के आधार पर दिए गए 6 आधारभूत रंग तथा बर्लिन और के द्वारा दिए गए आधारभूत रंग, सबके लिए हिंदी शब्दावली में शब्द हैं । ये ग्यारह शब्द हैं :

सफ़ेद, काला, लाल, हरा, पीला, नीला, भूरा, गुलाबी, बैंगनी, नारंगी और सलेटी ।

विकास की दृष्टि से 'सफ़ेद' और 'काला' सबसे पुरातन रंग शब्द हैं, जबकि 'भूरा' 'गुलाबी' 'बैंगनी' 'नारंगी' और 'सलेटी' बाद में विकसित शब्द हैं ।

सभी रंग शब्दों की व्युत्पत्ति का स्रोत आगे तालिका—2 में दिया गया है ।

प्रकृति में रंगों की संख्या असीमित है, इसीलिए भाषाओं में भी बड़ी संख्या में रंगों की शब्दावली मिलती है, जिसका निरंतर विकास होता रहता है । हिंदी के ऊपर दिए गए रंग शब्दों के अतिरिक्त अनेक शब्द और भी मिलते हैं । लेकिन स्थिर स्थिति में (static) केवल 6 आधारभूत रंगों के नाम हैं । अन्य लगभग सभी रंग शब्द अस्थिर (fluid) स्थिति में हैं । लगभग सभी रंगों में 'हलका' और 'गहरा' या 'गाढ़ा' विशेषण जोड़ते हुए दो भेद बताए जाते हैं । यदि ऊपर दिए गए आधारभूत रंगों को हलका या गहरा करते चलें जाएँ तो लगभग हर स्थिति में एक अलग शब्द का प्रयोग मिलता है । लेकिन इस स्तर पर दो विभिन्न रंगों में भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । उदाहरण के लिए, नीले और हरे रंग के हल्के और गहरे रूप में भ्रम होता है कि वह नीले या हरे किस रंग का भेद है अथवा कई रंग शब्द अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग रंगों का द्योतन करते हैं । जैसे,

'गाजरी' शब्द किसी के लिए गहरा गुलाबी है तो किसी के लिए हल्का लाल। दूसरी ओर, एक ही रंग किसी के लिए 'टमाटरी' (लाल) है तो किसी के लिए 'नारंगी', एक ही रंग किसी के लिए 'आसमानी' (नीला) है तो किसी के लिए 'अंगूरी' (हरा)। यही नहीं बैंजनी और नीला रंग भी (जिन्हें बर्लिन और के ने आधारभूत रंग माना है) हिंदी भाषियों के लिए भ्रामक है। विभिन्न रंगों में भ्रम की स्थिति चित्र 1-2 से स्पष्ट होती है।
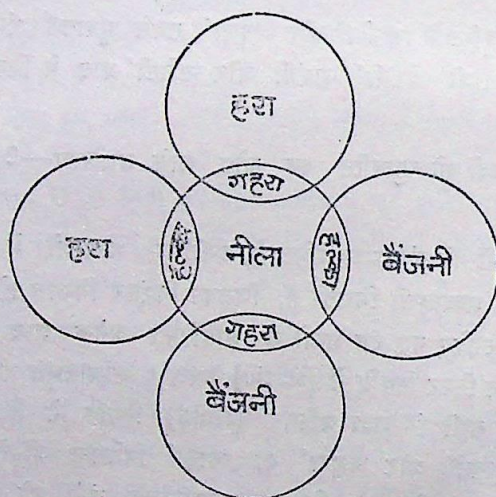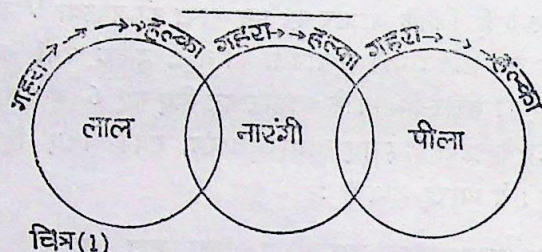
चित्र(1)

चित्र (2) हिंदी रंग शब्दावली में संदिग्ध क्षेत्र

चित्र (1) के अनुसार 'लाल हल्का' और 'गहरा नारंगी', 'नारंगी हल्का' और 'गहरा पीला' रंगों में भ्रम होता है। नीले रंग की स्थिति जैसा कि चित्र (2) से स्पष्ट है, अधिक जटिल है। नीले रंग में बहुत रंग भेद मिलते है। हल्के नीले रंग भेद कुछ हल्के बैंगनी के साथ और कुछ हल्के हरे के साथ,

गहरे नीले रंग भेद कुछ गहरे रंग भेद कुछ गहरे हरे के साथ तथा कुछ गहरे बैंगनी के साथ भ्रम उत्पन्न करते हैं।

विभिन्न रंगों और रंग भेदों के लिए हिंदी से निम्नलिखित शब्द मिलते हैं—

| रंग | रंगभेद | स्रोत |
|---|---|---|
| 1. लाल | लाल | लाल पत्थर का नाम (फ़ारसी से आगत) |
| | टमाटरी | टमाटर 'सब्जी का नाम' |
| | महावरी | महावर 'पेड़ों की टहनियों पर कीड़ों द्वारा उत्पन्न पदार्थ' |
| | गाजरी | गाजर 'सब्जी का नाम' |
| | रक्तिम | रक्त (संस्कृत से आगत) |
| | ख़ूनी | ख़ून (फ़ारसी से आगत) |
| 2. हरा | हरा | संस्कृत शब्द 'हरित' से व्युत्पन्न |
| | मूँगिया | मूँग/मूँगा* |
| | धानी | धान 'अनाज का नाम' |
| | मेंहदी | मेंहदी 'पौधे का नाम' |
| | अंगूरी | अंगूर 'फल का नाम' |
| | तोतिया या (तोता पंखी) या सुआपंखी | तोता 'पक्षी का नाम' |
| | काइया | काई 'घास कास का नाम' |
| 3. पीला | पीला | संस्कृत शब्द 'पीत' से व्युत्पन्न |
| | गेंदई | गेंदा 'फूल का नाम' |
| | बसंती | बसंत 'ऋतु का नाम' |
| | हल्दी | हल्दी 'मसाले का नाम' |
| | सुनहरी | सोना 'धातु का नाम' |
| | गेरुआ | गेरू 'एक प्रकार की मिट्टी' |

---

*मूँगिया शब्द वास्तव में 'मूंगा' पत्थर के नाम से उत्पन्न हुआ है लेकिन अनेक हिंदी भाषी इसे 'मूँग' के हरे रंग से भी जोड़ते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| 4. नीला | नीला | 'नील' एक पौधे का नाम जिससे नीला रंग बनाया जाता है। |
| | आसमानी | आसमान 'प्रकृति' |
| | फ़िरोज़ी | फ़िरोज़ा 'पत्थर का नाम' |
| 5. भूरा | मटियाला | मिट्टी 'प्रकृति' |
| | नसवारी | नसवाय 'पौधे का नाम' |
| | तंबाकुई | तंबाकू 'पौधे का नाम' |
| | ख़ाकी | ख़ाक 'मिट्टी' 'प्रकृति' |
| | भूरा | भू 'भूमि' 'प्रकृति' |
| | कत्थई | कत्था 'वृक्ष की लकड़ी से बना पदार्थ' |
| | किशमिशी | किशमिश 'फल का नाम' |
| | इलायची | इलायची 'मसाले का नाम' |
| 6. बैंजनी | बैंजनी या बैंगनी | बैंगन 'सब्जी का नाम' |
| | जामुनी | जामुन 'फल का नाम' |
| | फ़ालसाई | फ़ालसा 'फल का नाम' |
| | ऊदा | ऊद 'वृक्ष का नाम' |
| | कासनी या काशनी | कास 'पौधे का नाम' |
| 7. गुलाबी | गुलाबी | गुलाब 'फूल का नाम' |
| | प्याज़ी | प्याज़ 'सब्जी का नाम' |
| 8. नारंगी | नारंगी या संतरी | नारंगी या संतरा 'फल का नाम' |
| | जोगिया या भगवा | (जोगी या भक्त) |
| 9. सलेटी | सलेट | सलेट 'पत्थर का नाम' |
| | सुरमई | सुरमा 'पत्थर का नाम' |
| 10. सफ़ेद | सफ़ेद | (फ़ारसी से आगत) |
| | श्वेत | (संस्कृत से आगत) |

| 11. काला | काला | संस्कृत शब्द 'काल' से व्युत्पन्न |
|---|---|---|
| | श्याम | (संस्कृत से आगत) |
| | कृष्ण | (संस्कृत से आगत) |

तालिका 2

**हिंदी के रंग शब्द तथा उनके स्रोत**

उपर्युक्त शब्दावली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बर्लिन और के के सिद्धांतानुसार हिंदी में कोई रंग शब्द आधारभूत नहीं है, बल्कि रंग शब्दों का निर्माण अधिकतर वनस्पति (फल, फूल व सब्जियों के नामों) से तथा कभी-कभी अन्य प्राकृतिक साधनों से, जैसे—आसमान, पृथ्वी, पत्थरों या धातुओं के नामों से हुआ है। इन नामों से रंग शब्द का निर्माण सामान्यतः ई—इया (वैकल्पिक) प्रत्यय के द्वारा किया जाता है।

**रूप स्वनिमिक परिवर्तन**

यदि धातु ईकरांत हो तो संधि के अनुसार ई+ई→ई हो जाता है यदि 'ई' के अतिरिक्त कोई अन्य दीर्घ स्वर धातु अंत में हो, तो वह लघु हो जाता है अथवा लुप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए—

(क) मेंहदी+ई → मेंहदी
हल्दी+ई → हल्दी
नारंगी+ई → नारंगी

(ख) गेंदा+ई → गेंदई
कत्था+ई → कत्थई
तंबाकू+ई → तंबाकुई

(ग) मूंगा+इया → मूँगिया
तोता+ईया → तोतिया
संकरा+ई → संतरी
फिरोजा+ई → फ़िरोजी

'ई' के अतिरक्त 'आ', रा, आला' आदि प्रत्ययों का भी प्रयोग मिलता है, लेकिन चयन धातु के रूप के साथ-साथ कुछ अन्य तत्वों (diacritic features) स्रोत आदि पर निर्भर करता है।

**सारांश**

ध्वनियों की ही भाँति कुछ रंग आधारभूत (मूल) हैं तथा अन्य व्युत्पन्न। किसी भी भाषा में उस भाषा समुदाय की आवश्यकता तथा उपलब्ध प्राकृतिक साधनों के आधार पर रंग शब्दों का विकास होता है। विकास क्रम में पहले आधारभूत रंगों का प्रत्यक्षण तथा शब्द विकास होता है। बाद में अन्य व्युत्पन्न रंगों का। आधारभूत रंग 6 हैं, इनमें विकास की दृष्टि से एक निश्चित क्रम है। ये रंग विकास क्रम के अनुसार इस प्रकार हैं :

[सफेद / काला] > [लाल] > [हरा] > [पीला] > [नीला]

हिंदी में छहों आधारभूत रंगों के लिए शब्द उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त लगभग 45 रंग शब्द हैं जो ± आधारभूत रंगों के भेदों के लिए प्रयुक्त होते हैं। 6 आधारभूत रंगों के लिए प्रयुक्त शब्द संस्कृत या फ़ारसी से आगत शब्द हैं अथवा संस्कृत रंग शब्द से व्युत्पन्न हैं। अन्य सभी रंग शब्द प्राकृतिक वस्तुओं के नामों से व्युत्पन्न हैं तथा अधिकतर अस्थिर स्थिति में हैं। अर्थात् एक रंग के लिए एक निश्चित शब्द का अभाव है। उस रंग को कई वस्तुओं के नामों से अभिव्यक्त किया जाता है। जैसे 'बैंगनी' और भूरे रंग के लिए प्रयुक्त शब्द। रंग शब्दों का निर्माण प्राकृतिक वस्तुओं के नामों से 'ई, इया, रा, आ' आदि प्रत्ययों के द्वारा किया जाता है।

**संदर्भ ग्रंथ**

Berlin Brent and Paul Kay : (1969) : *Basic colour terms : Their universality and Evolution* Berkeley and Los Angles California Univ. Press

Bohannam. P. 1983 : *Social Anthropology*. New York Holt, Rinehart and Winston,

Gleason, H. A. 1961 : *An Introduction to Descriptive Linguistics*, New York, Holt Rinehart and Winston.

Jakobson, Roman and Morris, Halle. 1956 : *Fundamentals of Language* The Hague, Mouton

Land, E, H, 1959 : "Colour Vision and the natural image" Proceedings of the National Academy of Sciences, 45.

Macneill, N. B. 1972 : "Colour and Colour terminology", *Journal of Linguistics* 8.

Nida, Eugene. 1959 : "Principles of Translation as exemplified by Bible translating", in Reuben-A. Bower (ed.) *On Translation*, Cambridge. Harvard University Press.

Ray, Verne. 1952 : "Techniques and Problems in the study of Human colour Perception." *South Western Journal of Anthro. pology*, Vol. 8.251-259.

Rivers. 1901 : "Primitive colour vision" *Popular Science*, 59 : 44-58.

Woodworth, R. S. 1910 : "The Puzzle of colour vocabularies". *The Psychological Bulletin*, 7.315-334.

# हिंदी के संबोधन की आधारभूत शब्दावली

—ललित मोहन बहुगुणा

किसी समाज के मनोविज्ञान को समझने के लिए उसकी संबोधन शब्दावली एक महत्वपूर्ण और उपादेय सामग्री सिद्ध हो सकती है। अनुपयुक्त संबोधन के चुनाव से आप अकारण किसी के अहम् को आहत करके नासमझ और 'अनाड़ी' जैसे विशेषण से सुशोभित हो सकते हैं। इस विषय की ओर सर्वप्रथम अमरीकी और यूरोप के कुछ समाज-भाषावैज्ञानिकों का ध्यान गया जिसमें 'गिलमैंन' और 'ब्राउन' के नाम उल्लेखनीय हैं। हिंदी में इस दिशा में अभी कोई काम नजर में नहीं आया। हिंदी भाषा समाज की संबोधन शब्दावली और भी उलझी हुई है। संबोधन के चयन में संबोधित व्यक्ति की आयु, पद, परिचय की सीमा, संबंध तथा विशिष्ट स्तर निर्धारक तत्व होते हैं। औद्योगिकी करण तथा स्त्रीजागरण के फलस्वरूप कुछ ऐसे संबंध उभर आए हैं जिनके लिए संबोधन शब्दावली से चयनकर्ता को पर्याप्त मानसिक व्यायाम करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, किसी वयस्का विवाहित महिला सहयोगी को अनौपचारिक पत्र लिखने में संस्कारों से जकड़े हुए हिंदी भाषी की कलम 'प्रिय श्रीमती..............' लिखते-लिखते रुक जाती है। अंग्रेजी में 'डियर-मिसेज' स्वीकार करने में उसे विशेष झिझक नहीं होती। कारण कि 'डियर-' अंग्रेजी में महज औपचारिकता का संबोधन है, जबकि हिंदी का 'प्रिय' औपचारिकता का वह अर्थ नहीं पा सका है। कार्यालय भाषा में 'प्रिय' का प्रचुर प्रयोग होने के बावजूद वह अपना रागात्मकता का भाव संजोये हुए है जिसके कारण 'प्रिय श्रीमती .......... .....'प्रयोग हिंदी भाषी को बेहद अटपटा लगता है। यहाँ मैं उन लोगों की बात नहीं करता जिनके संस्कार पूरी तरह से सरकारी हो चुके हैं और जिनकी संवेदनाएँ शब्द का स्पंदन अनुभव नहीं कर पातीं। यह तो एक उदाहरण मात्र है। ऐसी सैकड़ों स्थितियाँ हैं जहाँ पर संयुक्त परिवार तथा जटिल जाति व्यवस्था से प्रसूत क्लिष्ट संबंध अनेक प्रकार की असंगतियों को जन्म देते हैं। प्रस्तुत लेख में संबोधन के सामाजिक

नियमों को 'कम्प्यूटर' के 'फ्लो चार्ट' पर दिखलाने का प्रयास किया गया है। दिए गए 'चार्ट' में एक वयस्क व्यक्ति के संबोधन शब्दावली के ज्ञान को प्रदर्शित किया गया है।

चित्र में अंडाकार आकृति के चयनक (Selectors) बने हुए हैं। ये चयनक के बिंदु हैं जो सामाजिक श्रेणियों का निर्धारण करते हैं और प्रत्येक बिंदु एक विकल्प प्रस्तुत करता है। ये निर्धारिक बिंदु प्रत्येक समाज की अपनी अपनी निश्चित मान्यता एवं संकल्पना के अनुसार अलग-अलग ढंग से परिभाषित किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, ज्येष्ठता सुदूर पूर्व के देशों में मात्र एक दिन पहले जन्म लेने से मिल जाती है और इस प्रकार एक दिन पहले जन्मा व्यक्ति सामाजिकता की दृष्टि से अधिक आदर का भागी हो जाता है, जबकि पश्चिमी देशों में ऐसी कोई मान्यता नहीं है। वहाँ ज्येष्ठता सामाजिक दृष्टि से 10-12 वर्ष के अंतर से मिलती है।

'चार्ट' का पहला चयनक दिखाता है कि संबोधित व्यक्ति वयस्क है अथवा नहीं। यदि संबोधित व्यक्ति वयस्क नहीं है तो प्रतिष्ठात्मक परिवेश, आत्मीयता आदि चयनकों का प्रश्न ही नहीं उठता। वयस्कता का मापदंड भी अलग-अलग देशों में अलग-अलग है। व्यवहारिक दृष्टि से हिंदी भाषी समाज में 21 वर्ष को वयस्कता की निम्नतम आयु मानेंगे (कुछ अवस्थाओं में अपवाद हो सकते हैं)। वयस्कता के उपरांत दूसरा चयनक परिवेश (Settings) का है। यदि परिवेश प्रतिष्ठात्मक है तो संबोधन की शब्दावली भिन्न होती है। न्यायालय, संसद भवन, कई औपचारिक समारोह आदि एक परिवेश है जहाँ संबोधित (alter) पद की गरिमा बनाए रखने के लिए अनुष्ठानिक भाषा एक शब्दावली (ritualistic/frozen) का प्रयोग किया जाता है। यथा—'मंत्री महोदय', 'सभापति महोदय', आदि। यदि संबोधित आत्मीय है तो व्यक्तिगत एवं पारिवारिक संबंधों को छिपाया जाता है। प्रतिष्ठित पद पर आसीन व्यक्ति से अपने विचार प्रकट करने के लिए दूसरे विकल्प उपलब्ध हैं। यथा अनुतान, लाक्षणिक भाषा का प्रयोग आदि। किंतु उनकी चर्चा यहाँ हमारा अभीष्ट नहीं। आत्मीयेतर (non-kin) चयनकों में प्रमुख मित्र एवं सहयोगी हैं। सहयोगी यदि आयु में बड़ा है तो उसके अंतिम नाम के आगे 'जी' जोड़कर संबोधित किया जाता है और यदि बड़ा नहीं है, समवस्यक है तो औपचारिकता का चयनक उसके लिए संबोधन का चयन करता है। समवस्यक को

औपचारिकता न होने की स्थिति में पहले नाम से संबोधित किया जाता है। इस प्रकार के संबंधों में आपसी दूरी बेहद कम होती है। पश्चिमी और विशेष रूप से अमरीकी समाज में आत्मीयेतर संबंधों में व्यक्ति अपनी उम्र के सहयोगी को पहले नाम से पुकारता है और उसके नाम के आगे व्यवसाय सूचक आदरार्थक संबोधन 'प्रोफेसर' 'डाक्टर' नहीं लगाता। यदि वह उन्हें लगाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि संबोधक और संबोधित में पर्याप्त दूरी है। भारतीय समाज में और विशेष रूप से हिंदी भाषी समाज में संबोधन दूरी का प्रतीक भले ही हो, सहयोगी इन्हें बुरा नहीं मानेगा। कभी-कभी तो बिना डाक्टर लगाए आप अपने किसी पी-एच० डी उपाधिकारी सहयोगी के मन को ठेस पहुँचा देते हैं। उपाधिपरक एवं आदरार्थी संबोधनों के प्रति हिंदी भाषा समाज में सहयोगी भी सजग होता है। वह मानता है कि उपाधि का आदर सूचक संबोधन दूरी का प्रतीक है। किंतु उसके साथ संश्लिष्ट सम्मान का मोह भी उतना ही प्रबल होता है। संबोधन चयन का अत्यंत महत्व-पूर्ण आधार है, श्रेणी। पदानुक्रमबद्ध व्यवस्था में श्रेणी ही निर्धारक तत्व होती है। भारत जैसे देश में जहाँ शक्ति अर्थात् शासकीय 'अथारिटी' की उपासना हर व्यक्ति के जीवन का प्रमुख उद्देश्य है वहाँ अधिकारी और अधीनस्य के संबोधन सुनिश्चित न हों, ऐसा कभी संभव नहीं। यही स्थिति छात्र और अध्यापक की है। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण अध्यापक 'सर' से संबोधित होने लगे हैं और कुछ नए वर्णसंकर संबोधन—जैसे, 'मथेमेटिक्स वाले सर' (नाम न ज्ञात होने की स्थिति में) तथा 'इतिहास वाले सर' चल पड़े हैं। यही नहीं 'सर' जब मान्यता बोध की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं रहा तो 'सर जी' चल पड़ा (यह संबोधन मुख्यतः दिल्ली के स्कूल कालेजों तक सीमित है।)

अधिकारी और अधीनस्थ के प्रसंग में अधिकारी के लिए 'साहब' एक ऐसा संबोधन है जो अधिकारी की अधीनस्थ लोगों से दूरी बनाए हुए है। साहब के कई लाक्षणिक प्रयोग हैं। यह संशोधन स्वयम् में एक निबंध का विषय है। अतएव इसे यहीं पर छोड़ दिया जा रहा है।

यदि नौकरी करने वाले वर्ग में संबोधित व्यक्ति आयु में संबोधक से काफी बड़ा है, किंतु पद में बड़ा नहीं है तो ऐसी स्थिति में औपचारिकता को ध्यान में रखकर संबोधन चुना जाता है और अंतिम नाम के साथ प्रायः 'जी' जोड़ दिया जाता है। 'जी' के अतिरिक्त 'मिस्टर' या साहब भी विकल्प के

रूप में उपलब्ध हैं। प्रस्तुत चित्र में विभिन्न चयनकों द्वारा भिन्न-भिन्न संबोधन दिखलाए गए हैं। इन्हें परिचय सेट (Identity set) कहते हैं। इस चार्ट में दिखलाई गई संबोधन शब्दावली विशुद्ध रूप से औपचारिक स्थितियों में प्रयुक्त शब्दावली है। अनौपचारिक संबोधनों को दिखलाना यहाँ संभव नहीं।

संबोधन की जो शब्दावली परिणामस्वरूप निकलकर आती है उसे देखने पर पता चलता है कि उसमें शैलीगत विकल्प उपलब्ध हैं। चित्र में पहला सेट पद पर उसके साथ 'महोदय', 'साहब' तथा 'जी' का है। इस शैलीगत भेद का आधार मूलत: सांस्कृतिक है। क्योंकि विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत तत्सम व्यवसाय सूचक शब्दों के साथ 'महोदय' लगता है। यथा-'प्राध्यापक महोदय', 'मंत्री महोदय' तथा 'अध्यक्ष महोदय', दूसरी ओर अरबी-फ़ारसी तथा अंग्रेजी से आने वाले व्यवसाय सूचक शब्दों के साथ 'साहब' संबोधन सहज और स्वाभाविक लगता है। जैसे 'डाक्टर साहब', 'इंजीनियर साहब' 'नवाब साहब' आदि। 'जी' में प्राय: संस्कृत तत्सम शब्दों के साथ मिलता है। 'मंत्री महोदय' के साथ ही 'मंत्री जी', 'सभापति जी', 'अध्यक्ष जी' आदि में सुनने में आता है।

नाम ज्ञात होने तथा पुरुष होने की स्थिति में पुरुष के अंतिम नाम के साथ 'जी' 'शर्मा जी' तथा 'मिश्रा जी' आदि संबोधन व्यवहृत होते हैं। शैली-भेद यहाँ भी दिखलाई पड़ता है और उसका आधार भी सांस्कृतिक ही होता है। 'अँसारी जी', शायद ही सुनाई दे। उसके स्थान पर 'अँसारी साहब' सुनाई पड़ता है। लगभग सभी मुसलमान तथा ईसाई अंतिम नामों के साथ 'साहब' तथा हिन्दू नामों के साथ 'जी' का व्यवहार होता है।

विवाहित महिलाओं के लिए भी तीन प्रकार के संबोधन प्रयुक्त होते हैं। शिक्षित तथा अर्द्ध शिक्षित वर्ग की महिलाओं में प्राय: 'मिसेज' के साथ अंतिम नाम का प्रचलन है, जबकि औपचारिकता की स्थिति में 'श्रीमती' के साथ अंतिम नाम जोड़ दिया जाता है। इनके अलावा एक तीसरा संबोधन भी प्रयुक्त होता है जो अति औपचारिकता एवं शालीनता का बोध कराता है। वह है 'सुश्री' ·· किंतु 'सुश्री' के साथ प्राय: संपूर्ण नाम लिखा अथवा संबोधित किया जाता है। 'सुश्री माया माथुर' यह संबोधन वास्तव में किसी महिला की वैवाहिक अथवा कौमार्यत्व अवस्था का भेद नहीं दर्शाता। अस्तु जब हम

सुश्री माया माथुर कहते हैं तो उससे यह बोध नहीं होता कि माया माथुर कुमारी हैं अथवा विवाहित। अविवाहित महिलाओं के लिए प्रतिष्ठात्मक परिवेश में तीन संबोधन मिलते हैं (औपचारिक स्थिति में)। एक तो उभयनिष्ठ है। अर्थात् विवाहित महिलाओं के लिए भी प्रयुक्त होता है। 'सुश्री' जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। शेष दो संबोधन 'मिस' (पहला नाम) तथा पहले नाम के बाद 'जी' इनके वितरण का आधार अंग्रेजी प्रभाव है। अंग्रेजी स्कूलों से पढ़ी छात्राएँ तथा आधुनिकतावादी महिलाएँ (अविवाहित) प्रायः 'मिस' संबोधन करती हैं। जैसे—'मिस पाल', जबकि सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक सजग पहले नाम के साथ 'जी' लगाना पसंद करती हैं। जैसे—विमला जी, गीता जी, शीला जी आदि। यह शैलीगत चुनाव संबोधक की सांस्कृतिक निष्ठा एवं जागरूकता पर निर्भर करता है।

अब आत्मीय संबंधों वाले संबोधनों पर दृष्टिपात किया जाए। आत्मीय संबंधों में ऊँची पीढ़ी के ज्येष्ठ पुरुष अथवा महिला के लिए संबंध के साथ 'जी' अथवा 'जान' का प्रयोग होता है। उर्दू शैली में जान और हिंदी शैली में 'जी' का प्रयोग होता है। जैसे चाचा जी, चाची जी अथवा चाचा जान, चाची जान आदि। कभी-कभी अनौपचारिक सबंधों में सीधे संबोधन कर लिया जाता है—ताऊ ताई, इत्यादि। कनिष्ठ पीढ़ी के संबोधनों में औपचारिकता की स्थिति में अंतिम नाम के साथ 'जी' और 'साहब' दोनों सांस्कृतिक निष्ठा के अनुसार चुने जाते हैं। पहले और अंतिम नाम से चुनाव हो सकता है। यह आत्मीयता तथा परिचय की सीमा पर निर्भर करता है। विवाहिता महिलाओं के लिए संबोधनों में शैलीगत भेद अनेक हैं। अधिक औपचारिक स्थिति में अंतिम नाम के पूर्व 'श्रीमती' तथा अपेक्षाकृत कम औपचारिक स्थिति में अंग्रेजी का 'मिसेज' प्रयोग किया जाता है। इन दो संबोधनों के अतिरिक्त एक और संबोधन है जो 'क्लासिक' या कह दूँ आभिजात्य संदर्भ में प्रयुक्त होता है। यह संबोधन है—'सुश्री'। इसके बाद अंतिम अथवा पहला नाम ही यथेष्ट नहीं होता, अपितु पूरा नाम लिखना पड़ता है। इस श्रेणी का चौथा संबोधन है—'देवी जी'। 'देवी जी' जैसा संबोधन से स्पष्ट है : किसी स्त्री में देवी गुणों के आरोपण को ध्वनित करता है। अतः यह अति औपचारिकता का परिचायक है। 'सुश्री' में और 'देवी' में प्रमुख अंतर यह है कि जहाँ 'सुश्री' में किसी महिला की स्त्री सुलभ कमनीयता का भाव निहित होता है वहाँ 'देवी' में स्त्रीत्व का कम और देवीत्व का अधिक। कुछ कम औपचारिकता

की स्थिति में पहले नाम के साथ 'जी' जोड़कर भी संबोधन किया जाता है। जैसे—'आशा जी', 'पुष्पा जी' इत्यादि। कनिष्ठ पीढ़ी की अविवाहित लड़कियों को संबोधन में पहले नाम के बाद 'जी' 'चंद्रा जी', 'मनोरमा जी' आदि प्रयोग होते हैं। ज्यादा औपचारिक स्थिति में कुमारी के बाद पहला नाम पुकारा जाता है। 'सुश्री' संबोधन अविवाहित लड़कियों के लिए भी व्यवहृत होता है। इसके बारे में पहले ही बताया जा चुका है।

नाम न ज्ञात होने की स्थिति में तथा अल्पवयस्क होने की स्थिति में प्रायः 'हे' संबोधन अथवा सुनो, सुनना, आदि क्रिया रूपों का प्रयोग करते हैं। यह काम अनुतान आदि के द्वारा पूरा किया जाता है।

परिचय सेट
शैली 1
पद + महोदय
शै: 2
पद + साहब
शै: 3
पद + जी
पुरुष
शै: 1
अंतिम नाम + जी
शै: 2
अंतिम नाम + साहब
विवाहित
शै: 1
मिसेज + अंतिम नाम
शै: 2
श्री मती + अंतिम नाम
शै: 3
सुश्री + संपूर्ण नाम
शै: 1
मिस + प्रथम नाम
शै: 2
पहला नाम + जी
शै: 3
सुश्री + संपूर्ण
शै: 1
संबंध + जी
शै: 2
संबंध + ø
शै: 3
संबंध + नाम
पुरुष
शै: 1
अंतिम नाम + जी
शै: 2
अंतिम नाम + साहब
शै: 3
पहला नाम + जी
शै: 4
पहला नाम + साहब
विवाहित
शै: 1
श्री मती + अ. नाम
शै: 2
मिसेज + अ. नाम
शै: 3
सुश्री + अ. नाम
शै: 4
देवी + जी
शै: 5
प. नाम + जी
शै: 6
प. नाम + बेगम
शै: 1
प. नाम + जी
शै: 2
कु. + प. नाम
शै: 3
सुश्री + सं. नाम
शै: 1
है।
शै: 2
ø

मित्र अथवा सहयोगी
नियम में छूट
आल्टर ऊँचा पद
आल्टर आयु में बड़ा
नाम ज्ञात
आत्मीय
पद प्रतिष्ठात्मक परिवेश
वयस्क
ऊँची पीढ़ी
ज्येष्ठ
नाम ज्ञात
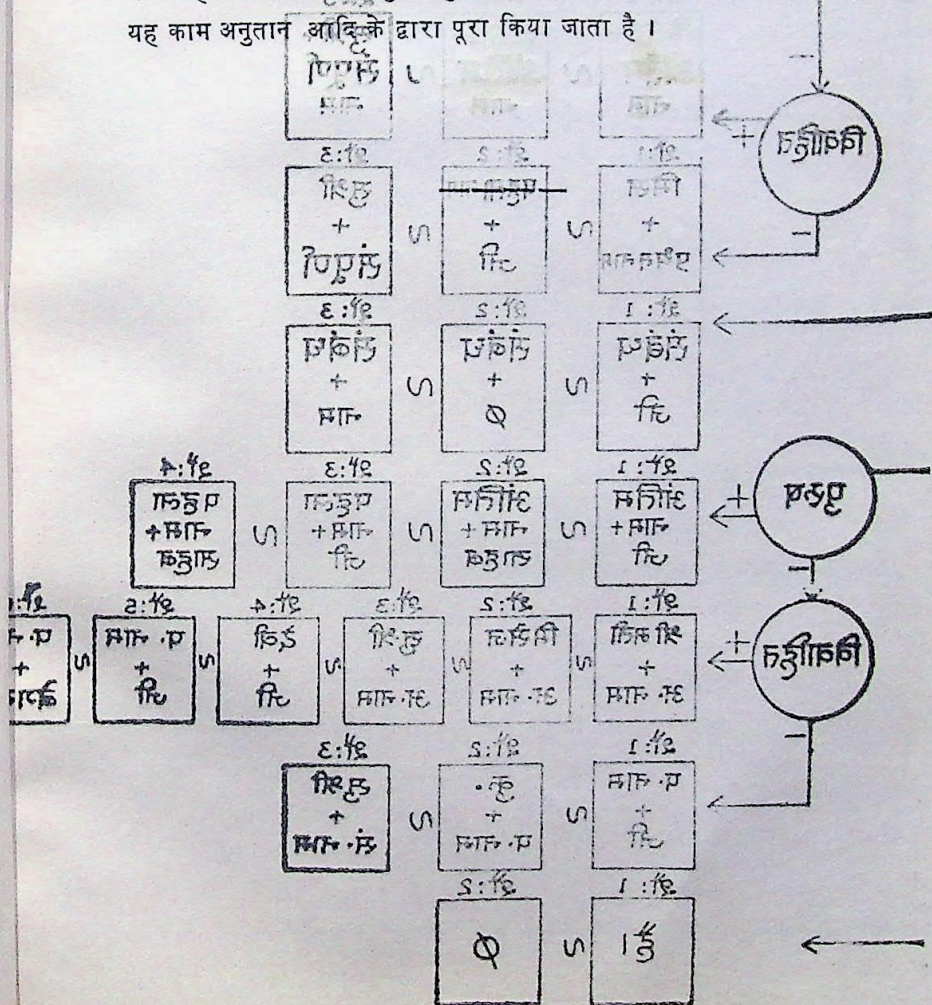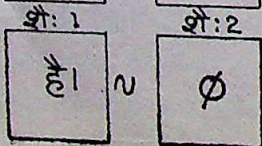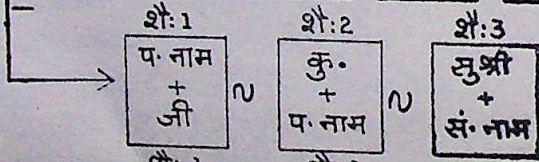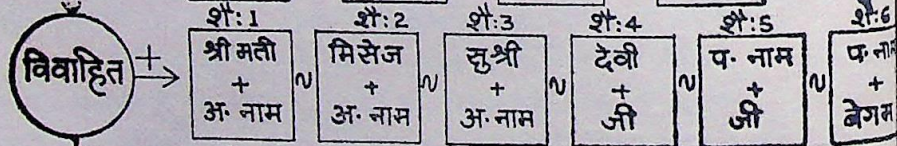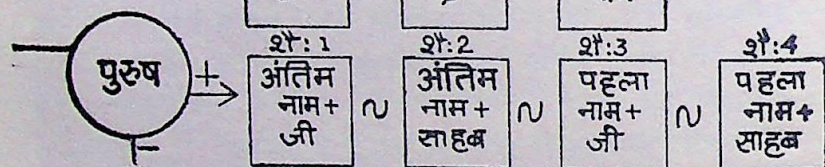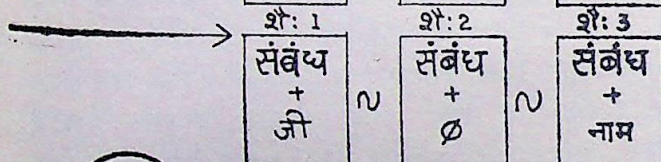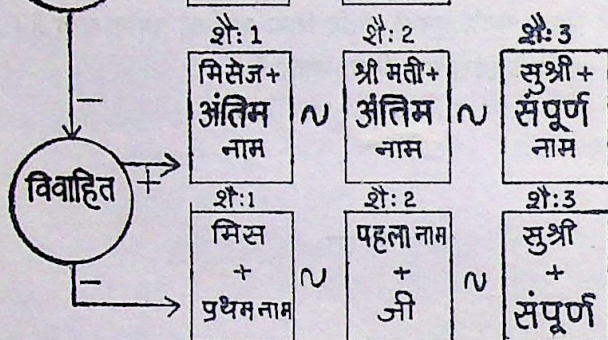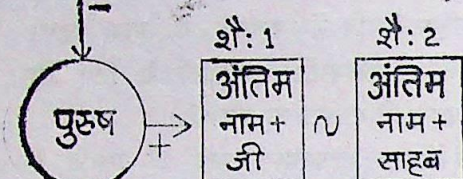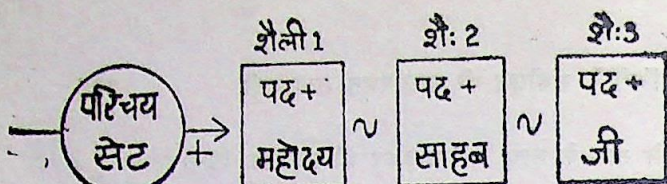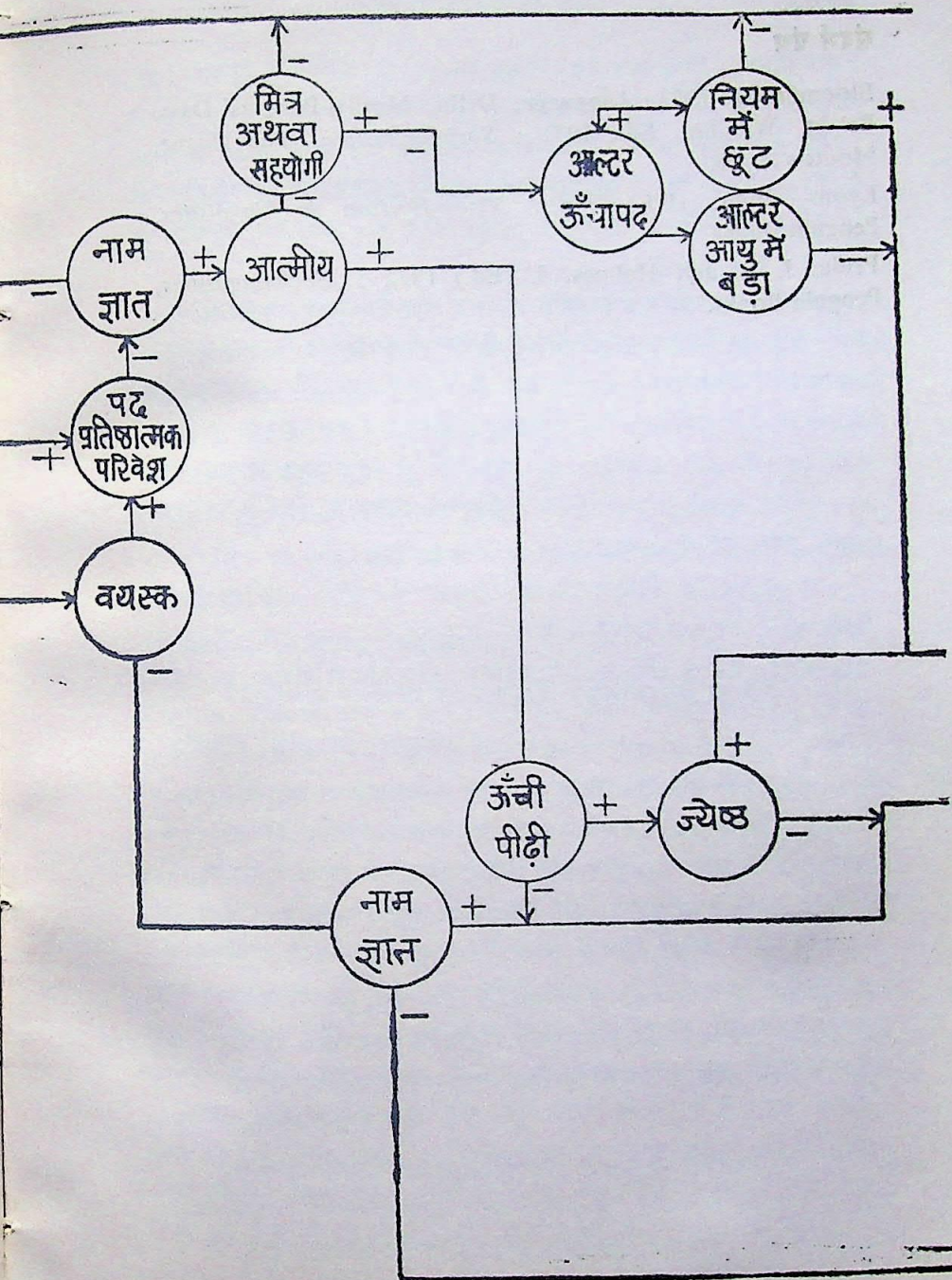
## संदर्भ ग्रंथ

Bloomfield L., 1933 : *Language*, Delhi, Motilal Banarasi Dass.

Bright William, Ed., 1971 : *Sociolinguistics*, The Hague, Mouton & Co.

Lyons, John, (Ed.) 1972 : *New Horizon in Linguistics*, Penguin Books.

Pride, J. B. and Holmes, J. (Ed.) 1972 : *Sociolinguistics*, Penguin Books.

# हिंदी और सामासिक संस्कृति

—गोपाल शर्मा

विश्व के अनेक बड़े-बड़े देशों के संविधान में राजभाषा और जनभाषा का उल्लेख तो मिलता है किंतु ऐसा विधान कहीं उपलब्ध नहीं हुआ कि देश की भाषा का विकास इस विधि से किया जाए। उदाहरण के लिए जो राष्ट्र ब्रिटिश, फ्रेंच या डच साम्राज्यों से मुक्त हुए हैं उनके संविधानों में भाषा संबंधी व्यवस्था इस प्रकार है :

**बर्मा (ब्रह्म देश) (संविधान : अनुच्छेद 216)**

"संघ की भाषा बर्मी होगी किंतु अंग्रेजी के उपयोग की भी अनुमति दी जा सकती है।"

**इंडोनेशिया (संविधान : अनुच्छेद 4)**

"इंडोनेशिया गणराज्य की राजभाषा इंडोनेशिया भाषा है।"

**फिलिपीन (संविधान : अनुच्छेद 14·8)**

(फिलिपीन के संविधान में भाषा संबंधी उल्लेख थोड़ा विस्तार से मिलता है।) "कांग्रेस वर्तमान लोकभाषाओं में से एक को आधार मानकर उसे सार्वजनिक भाषा के रूप में विकसित करने और स्वीकार करने की दिशा में कदम उठाएगी। जब तक कानून द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था न की जाए अंग्रेजी और स्पेनिश राजभाषाओं के रूप में प्रयोग में आती रहेंगी।"

एक बड़ा राष्ट्र जिसे भाषा की समस्या से जूझना पड़ा है, सोवियत संघ है। सोवियत समाजवादी गणतंत्र में उक्त प्रकार की कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं है। प्रत्येक सोवियत में स्थानीय भाषा को राजभाषा और शिक्षा की भाषा का दर्जा दिया गया है।

इस तरह द्विभाषिकता-बहुभाषिकता राज्यों के संविधानों में भाषाओं और उनके प्रयोग-क्षेत्रों और भाषाभाषियों के अधिकारों की रक्षा के संबंध में तो अनेक हिदायतें मिलती हैं किंतु राष्ट्र की भाषा का भविष्य में किस

प्रकार विकास किया जाए इस आशय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। हाँ, शासनों द्वारा किए गए भाषा-विकास के प्रयत्नों का उल्लेख विस्तार से मिलता है संभवतः भारतीय संविधान का अनुच्छेद 351 अपने आपमें अद्वितीय है और वह देश के भाषिक इतिहास, वर्तमान तथ्यों और भविष्य की आकांक्षाओं को एक सुबद्ध योजना के रूप में प्रस्तुत करता है। यहाँ इस अनुच्छेद का उद्धरण दे देना ठीक होगा :

'हिंदी भाषा की प्रसार वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करते हुए तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।'

इस अनुच्छेद में निर्दिष्ट भाषा विकास की व्यवस्था को ही मैं अपने निबंध का विषय बना रहा हूँ। सतही तौर पर तो ऐसा लगता है कि कई अटपटी और असंगत बातें एक राजनैतिक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर मिला दी गई हैं। उदाहरणार्थ, एक धर्मातीत राज्य के बहुजातिवर्गीय समाज में सामासिक संस्कृति का अर्थ, तथ्यों पर आधारित विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा करता है। इसके अतिरिक्त किसी भाषा की आत्मीयता का क्या अर्थ होता है, इसका भी भाषाशास्त्रीय विश्लेषण करना आवश्यक है क्योंकि यह वास्तव में भाषाशास्त्र का पारिभाषिक शब्द नहीं है, यद्यपि साहित्य और विद्वतजनों के बीच प्रयोग में आता है। सभी भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करने का उल्लेख कुछ उलझन में डाल देता है। अंत में शब्द ग्रहण करने से संबंधित निर्देश एक ओर तो इस बात का संकेत करता है कि सभी भाषाएँ इसी प्रकार शब्द उधार लेकर समृद्ध होती रही हैं तो दूसरी ओर एक बड़े लंबे अर्से में संपन्न होने वाली प्रक्रिया का द्योतन करता है जिससे कि तात्कालिक फल खोजने में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है तथा सारे कार्य को मत मतांतरों में उलझा सकती है। इन सभी बातों को निष्पन्न करते हुए और हिंदी को हिंदी बनाए रखते हुए हमें उसमें वह क्षमता उत्पन्न करने का निर्देश दिया गया है जिसे कि रहीम ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

ज्यों रहीम नट कुँडली, सिमट कूदि कढ़ि जाहि,

गहराई से देखा जाए तो भारत जैसे एक विशाल उपमहाद्वीप के बहु-जातिवर्गीय समाज की भाषा की कल्पना यही हो सकती है। मेरी समझ से इस अनुच्छेद का भाषाशास्त्रीय विश्लेषण करना कई दृष्टियों से लाभदायक होगा। पता नहीं, क्यों विश्वविद्यालयों ने इसे अब तक शोध का विषय नहीं बनाया! इस अनुच्छेद के अनेक हिस्से स्वतंत्र और गहन शोध के विषय बन सकते हैं। भाषा की दृष्टि से निम्नलिखित पद और अभिव्यक्तियों की विस्तृत व्याख्या और मीमांसा की जानी चाहिए :

(1) विकास करना, (2) सामासिक संस्कृति के सभी तत्व, (3) आत्मीयता, (4) हिंदुस्तानी और अष्टम सूची की भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करना, (5) आवश्यक और वांछनीय, (6) मुख्यत: संस्कृत से तथा गौणत: वैसी उल्लिखित भाषाओं के शब्द ग्रहण। मैं इनमें से कुछ पर अपने विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ :

**(1) विकास करना**

आधुनिक भाषा-शास्त्रियों के एक विशाल वर्ग की मान्यता है कि भाषाओं का विकास होता है, किया नहीं जाता। हिंदी हमारी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक देन है, एक कृत्रिम निष्पत्ति नहीं है। किंतु भाषा-शास्त्रियों का एक दूसरा वर्ग भी है जो कि भाषा के विकास को एक सहज जैविकीय विकास नहीं मानता, बल्कि यह स्वीकार करता है कि इतिहास के दौरान वह अनेक कृत्रिम और बलात् किए गए प्रयत्नों से भी परिपुष्ट होती जाती है। बलात् प्रयत्नों को हेय समझना चाहिए, परंतु भाषा-विकास के 'कृत्रिम' प्रयत्न जन-समाज की सांस्कृतिक धारणाओं और आकांक्षाओं के द्योतक होते हैं। ये भाषिक योजनाएँ उतनी ही स्वाभाविक होती हैं जितनी कि सांस्कृतिक और जातीय आकांक्षाएँ। इसलिए हमें इतिहास और संस्कृति को भाषा के संदर्भ में अलग-अलग करके देखना चाहिए। एशिया की भाषाओं को आधुनिक बनाने के संबंध में मलेशिया में आयोजित एक सम्मेलन में सभी विकासमान राष्ट्रों के भाषा-शास्त्रियों ने भाषाविकास में 'हस्तक्षेप' की क्रिया को अनिवार्य, वांछनीय और गतिवर्धक माना है। अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञानी 'भाषा-आयोजन' के प्रबल समर्थक हैं। (अलिसजबाना, 1967 और हैलिडे, 1965) एशिया की भाषाओं के प्रति पाश्चात्य भाषाविज्ञानियों की उपेक्षा की चर्चा करते हुए दक्षिणी-पूर्वी एशिया के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० तकदीर अलिसजबाना ने लिखा है—

"पिछले कुछ दशकों के दौरान निश्चित प्रयत्नों और योजनाओं के फलस्वरूप एशिया और अफ्रीका की भाषाओं में हो रहे परिवर्तनों के प्रति भाषाविज्ञानियों की उपेक्षा उचित नहीं है। संभवतः इस बात की ओर उनका लक्ष्य ही नहीं है कि एशिया की नई राष्ट्रभाषाएँ भाषा-विज्ञान के विकास के लिए कितनी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं, क्योंकि ऐसे ही विशाल और शीघ्र गति से होने वाले भाषिक परिवर्तन में भाषा-विज्ञान अपनी संकल्पनाओं, सिद्धांतों और कार्यपद्धतियों की प्रामाणिकता की जाँच कर सकता है और अपनी सामाजिक सांस्कृतिक संसक्तियों का पुनर्मूल्यांकन कर सकता है।

नए स्वतंत्र राष्ट्रों की राष्ट्रभाषाओं का तीव्र गति से विकास व्यक्तियों या समुदायों के सुचिंतित और सोद्देश्य 'हस्तक्षेप' के फलस्वरूप है। विकासमान राष्ट्रों और विकसित राष्ट्रों के भाषा-विज्ञानियों के दृष्टिकोण में अंतर, भाषा की अपनी-अपनी धारणा एवं उसके विभिन्न तत्वों को बल देने में भेद होने के कारण है। जबकि संरचना-भाषिकी वर्ग, ध्वनिविज्ञानी वर्ग आदि यह सोचते हैं कि भाषा के बुनियादी तत्व प्रतीक, संरचना और विशेष रूप से स्वनिमों में निहित होते हैं, एशिया अफ्रीका के भाषाशास्त्री अपने समाज और संस्कृति को शीघ्रता से परिवर्तित करने की आकांक्षा से आगे बढ़ते हुए 'स्वनिमों' के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं दिखाते, बल्कि भाषाओं की विकास-प्रक्रिया को इस मान्यता से प्रभावित करना चाहते हैं कि वह संकल्पनाओं, विचारों और 'वेल्टअनशाउन्ग' (विश्व के प्रति दृष्टि) की वाहिका है, माध्यम है और ये ही समाज और संस्कृति के वास्तविक आधार होते हैं।" इस चिंतन-परंपरा से संविधान का अनुच्छेद 351 संतुलित दृष्टि भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि प्रस्तुत करता है। भाषा-आयोजन एक महत्वपूर्ण सामाजिक क्रिया माना जाता है। इसलिए यह उतना महत्वपूर्ण है जितना कि आर्थिक-औद्योगिक आयोजन माना जाता है।

(2) सामासिक संस्कृति के सभी तत्व

भारत में अधिकतर समन्वित संस्कृति की बात होती रही है किंतु संविधान में "कंपोजिट" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए सामासिक शब्द पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। विशेष रूप से जबकि हमने भारत को धर्मातीत राज्य बनाया है। यह तो सर्वविदित है कि भाषा और संस्कृति का अटूट संबंध होता है और संस्कृतियाँ आज के युग में भी बहुत हद तक धर्मों और संप्रदायों से अनुशासित होती रहती हैं। आधुनिक भाषाशास्त्री एडवर्ड

सेपीर का मत है कि भाषा का शब्द-भंडार उस समाज के भौतिक और सामाजिक परिवेश का परिचायक होता है । बेंजमिन वूर्फ का विचार था कि जहाँ संस्कृति और भाषा साथ-साथ विकसित होती हैं उनके पारस्परिक संबंध व्याकरण में सामान्य रूप से प्रकट होने लगते हैं । इन विचारों की दृष्टि से भारत की प्रत्येक समृद्ध साहित्यिक भाषा का वर्तमान कलेवर उस प्रदेश की सामासिक संस्कृति का द्योतक है । उदाहरणार्थ—तमिल, मलयालम, तेलुगु, बंगला, मराठी अपने क्षेत्र में हिंदू, मुस्लिम, क्रिश्चियन, बौद्ध या जैन या जनजातीय संस्कृतियों को आत्मसात् किए हुए हैं । इन प्रदेशों के निवासी मूलतः इन्हीं भाषाओं में बोलते, लिखते या व्यवहार करते हैं । उनके धार्मिक और धर्म-स्तोत्रों से प्राप्त शब्द अनुकूलित रूपों में उन भाषाओं के शब्दभंडार में सम्मिलित हो गए हैं । फिर भी किसी प्रादेशिक भाषा-भाषी की उपसंस्कृति को पहचानना कठिन नहीं है । जैसे—

(1) नामों से—क्रिश्चीना सुन्दरम्, [illegible], चेटर्जी, मुहम्मद इकबाल, हमीदा चौधरी ।

(2) अभिवादन से—वणक्कम्, आदाबर्ज, सत्सिरी अकाल ।

(3) इच्छाओं, आशीर्वादों इत्यादि से—खुदा की मर्जी, यीशू सबका भला करेगा । कर्ता विनु स्तुति (मलयाली क्रिस्तान), भगवत्-प्रेरणा ।

इस तरह के और भी अनेक पक्ष हैं । बंगाल देश की भाषा एक सहज सामासिक संस्कृति का जीवंत उदाहरण है । स्वाभाविक रूप से विकसित हिंदी (खड़ी बोली) स्वयं ही सामासिक संस्कृति की देन है । हिंदी की आज की वर्णध्वनियों में प्रादेशिक, फ़ारसी यूरोपीय ध्वनियाँ सम्मिलित हैं । शब्दावली के स्रोत भी सर्वविदित हैं; फिर इस भाषा-प्रदेश के उप-सांस्कृतिक भाषियों को हम ध्वनि, लहजे, शब्दावली आदि से ही पहचान सकते हैं । शब्दावली की दृष्टि से इस इलाके की दो प्रधान उप-संस्कृतियाँ इस प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती हैं ।

## सामान्य व्यवहार (समान)

| | |
|---|---|
| बुनियादी क्रियाएं | ० खाना, पीना, उठना, बैठना, गाना, नाचना, रोना, हंसना |
| परिवार सम्बन्ध | ० मां-बाप, भाई-बहन, नाता-रिश्ता |
| शरीर के अवयव | ० हाथ, पैर, सिर, आंख, बाल |
| कालदशाएं | ० सुबह-शाम, दोपहर, रात (शब) सर्दी, गर्मी |
| गृहस्थी की वस्तुएं | ० बरतन, घर, बस्ती, पानी, सड़क, घोड़ा, बग़ीचा, कंघा, |
| खाद्य | ० चावल, दाल, गेहूं, शक्कर, तेल, घी |
| सामाजिक-आर्थिक | ० दुख-दर्द, गरीबी, मेहनत-मज़दूरी, धंधा, पैसा, सस्ता, महंगा, दौलत, समाज, जलूस, दंगा-फसाद |

### लौकिक-सांस्कृतिक

| | |
|---|---|
| राजनीति, अर्थ, राज्य-समारोह, कला-संगीत, नृत्य, शिल्प, न्याय (इंसाफ़), शिक्षा | सियासत, इक्तसादियात, रियासत, जश्न, फ़न, मौसिकी नाच (रक्स) फ़न्नेतामीर, इंसाफ़, तालीम |

### धार्मिक-दार्शनिक

| | |
|---|---|
| पूजा, प्रार्थना, मोक्ष, ब्रह्म, भगवान्, माया, तीरथ, दान, करुणा, अध्यात्म | नमाज, निजात, ख़ालिक़ ख़ुदा, फ़रेब हज, ख़ैरात, रहम, रूहानियत |

किसी भी राष्ट्र की बहुधर्मी संस्कृति में सामान्य तत्वों के आधार पर समन्वित संस्कृति की धारणा स्थिर की जाती है और सामान्य तत्वों के साथ-साथ भिन्न तत्वों को यथावत् स्वीकार करते हुए कालांतर में पारस्परिक आदान-प्रदान की आकांक्षा से उत्तरोत्तर समन्वय की एक कल्पित रूपरेखा तैयार की जाती है जिसे कि हम सामासिक संस्कृति कह सकते हैं। सामासिक संस्कृति का समन्वित संस्कृति से मूलतः भेद इस बात में है कि एक सामासिक लयात्मक उपलब्धि है, तथ्य है और दूसरी लौकिक स्तर पर पर्याप्त समानता के अंतराल में घटक समुदायों की विशिष्टताओं के सहअस्तित्व की स्वीकृति है। यदि परस्पर लय की कोई भावना भी निहित हो तो उसे परिस्थिति, इतिहास, सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया और काल-प्रवाह के परिणामों पर छोड़ दिया जाता है।

भारतीय समाज अनेक जातियों और वर्गों के सम्मिश्रण, लय और सह-अस्तित्व से बना है और इसके ऐतिहासिक प्रमाण हमें पूर्व वैदिक काल से मिलते चले आ रहे हैं। संस्कृति में कितने ही द्रविड, यवन और अन्य भाषाओं के शब्द हैं जो कि अब पहचाने नहीं जा सकते। उन सबके समावेश के वैज्ञानिक कारण हैं। संपर्कजन्य आचार-विचार और नवीन ज्ञान को आत्मसात् करने के फलस्वरूप ही ये नवीनताएँ प्रवहमान भाषा में सम्मिलित हुई हैं। इन तथ्यों से संबंधित इतिहास को यहाँ दोहराना आवश्यक नहीं है। (तिवारी, 1961; चटर्जी; दक्षिणामूर्ति)

इस प्रसंग में विचारणीय बात है : संस्कृति की परिभाषा। वास्तव में विकासशील राष्ट्रों की संस्कृति एक संक्रांति से गुजर रही है। भारत के प्रजातंत्र बनने और देश में विज्ञान और टेक्नालॉजी अपनाने के बाद एक और सांस्कृतिक स्तर उभरा है। उसमें धर्म और जाति का स्थान राजनीतिक शब्दों ने लिया है, जैसे—अल्पमत समुदाय, दल-बदलू, भ्रष्टाचार, अनुसूचित जातियाँ, आरक्षित मत-क्षेत्र, पिछड़े लोग आदि। इनके अतिरिक्त आर्थिक वर्गों की शब्दावली और अभिव्यक्तियाँ आज हिंदी के ललित और गैर ललित साहित्य में प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होती हैं। मजदूर वर्ग, श्रमजीवी लेखक, पूंजीपति, सार्वजनिक और निजी क्षेत्र, सार्वजनिक वितरण-प्रणाली, अनाज-वसूली, धरना, हड़ताल, न्यूनतम वेतन, राशन, उचित दर की दुकान, राष्ट्रीकृत तथा सहकारी बैंक, तस्करी, मिलावट, बोनस, तालाबंदी, इत्यादि।

विज्ञान और टेक्नालॉजी के कारण आम वार्तालाप के विषय और उनमें प्रयुक्त शब्द और पदावली भी अब लौकिक संस्कृति की प्रधानता को प्रकट

करती है। नलकूप; ट्रैक्टर से खेती; सरकारी फार्म, विकसित बीजों, लिफ्ट सिंचाई, रासायनिक खाद, पानी की मात्रा, कीड़ेमार दवाइयाँ, अकृषाण, गोबर-गैस, अनाजों के विशिष्ट वैज्ञानिक नाम—खासतौर पर संख्यात्मक) जैसे—गेहूँ, चावल 132, 235 (कल्पित), मौसम का दबाव क्षेत्र इत्यादि।

इस संस्कृति ने हमारे नैतिक दृष्टिकोण पर भी प्रभाव डाला है और कई परंपरागत धार्मिक, सामाजिक मान्यताओं को गौण बना दिया है। रजिस्टर्ड शादी; नसबंदी, संतति-निरोध; गर्भपात; तलाक; आर्थिक अपराध; सुधार-गृह, नारी-सदन; हवाई-परिचारिका; कामकाजी महिलाएँ; रात की पारी (महिला की;) यौन-स्वातंत्र्य; माडेल (चित्रकला और विज्ञापन) इत्यादि।

सामासिकता के दर्शन तो हम आज के राजनैतिक-आर्थिक-लौकिक व्यवहार में ज्यादा मिलते हैं और धर्म और नीति का परंपरागत प्रभाव क्षीण होता चला जा रहा है। हिंदी में सामासिक संस्कृति की झांकी दैनिक, साप्ताहिक पत्रों में, फीचर-लेखों में, कहानियों में साफ-साफ दिखाई दी जाती है। इसके अतिरिक्त काफी हाउस, होटलों, गाँव की चौपालों आदि में भी चर्चा में अधिकांशतः आधुनिक लौकिक तत्व ही अधिक उपलब्ध होते हैं।

भारतीय स्थिति की तुलना दक्षिण पूर्वी नवराष्ट्रों की वर्तमान स्थिति से की जाए तो हम इन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। एशिया की भाषाओं को आधुनिक बनाने के प्रसंग में डा० तकदीर अलिसजबाना ने मलय भाषा की चर्चा करते हुए लिखा है—"मलय भाषा में परिवर्तन पहली बार ही हो रहे हों ऐसी बात नहीं। यद्यपि इस क्षेत्र में आई भारतीय और इस्लामी संस्कृतियाँ अपने आप में समृद्ध हैं और उनमें पर्याप्त अभिव्यक्ति-क्षमता है किंतु इन दोनों की संकल्पनाओं में परस्पर तथा इनके तथा मलय-समाज की पूर्व-हिंद-मलय संस्कृति के बीच पर्याप्त भिन्नता है। भारतीय (हिंदू) और इस्लामी संस्कृतियों को आत्मसात करने के दौरान मलय भाषा की शब्दावली और संकल्पनाओं में बड़ी तब्दीली आई है। हमें इस बात का अध्ययन करना चाहिए कि 500 वर्षों के इतिहास में, मलय-भारतीय संस्कृति के युग में कौन से शब्द महत्वपूर्ण बन गए। ......"

"हम जानते हैं कि शताब्दियों के दौरान हर भाषा बदलती रही है और कभी कभी उसमें व्यापक और मौलिक परिवर्तन हुए हैं। इनकी पृष्ठभूमि में सामाजिक, सांस्कृतिक और मूल्यप्रणाली के बदलाव हो रहे

हैं । ... दीवान बहासा दान पुस्तका के निदेशक ने क्वालालम्पुर में कुछ सप्ताह पहले हमें यह सूचना दी थी कि इस संस्था ने पिछले दस सालों में 71000 नए मलय शब्द निर्धारित किए हैं । यह तथ्य हमें, मलय भाषा में हो रही एक बड़ी क्रांति को स्पष्ट रूप से समझ लेने के लिए बाध्य करता है और हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने में उभरते नए डिजायनों की ओर ध्यान से देखने के लिए प्रेरित करता है। ये 71000 शब्द आधुनिक मलयभाषी समाज की वैज्ञानिक, आर्थिक और टेकनालॉजिकल प्रगति को तीव्रता और अर्थ देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं ।" (अलिसजबाना 1965 : 17-18)

पिछले चार दशकों में शब्दावली और अभिव्यक्ति-संबंधी तंत्र का निरंतर विकास, एवं विविध विषयों में प्रणीत नवीन साहित्य इस बात का संकेत देता है कि हिंदी क्रमशः एक सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति की अंतर्धारा के रूप में कार्य कर रही है ।

**(3) आत्मीयता (4) हिंदुस्तानी और अष्टम अनुसूची की भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करना**

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि भाषाशास्त्रीय दृष्टि से 'जीनियस' जिसका अनुवाद आत्मीयता किया गया है) कोई स्पष्ट पारिभाषिक शास्त्रीय संकल्पना नहीं है । यह अभिव्यक्ति खुली पड़ी है और सब इससे अपना अपना अर्थ निकाल लेते हैं । किसी भाषा की 'आत्मता' या 'मूलप्रकृति' उसके व्याकरण, उसके मूलभूत शब्दकोश और उनमें निहित संभावनाओं में व्यक्त होती हैं । लिंग, वचन, कारक, (क्रियापद) काल, तद्धित कृदंत, समास, वाक्य-रचना (विविध) इत्यादि का रूप और ताना-बाना हर भाषा का अपना होता है । उदाहरण के लिए—हिंदी में 'संघर्ष-ए-स्वतंत्रता' समास नहीं बनता और उर्दू में 'तालीमालय' स्वाभाविक नहीं होता । हिंदी में लोग 'कागजातों' (कारक-युक्त बहुवचन) का प्रयोग करते हैं, 'अनेक तरह की मददें दीं' कह सकते हैं उर्दू में 'परिवर्तनात' नहीं कहेंगे 'तब्दीलियाँ' ही कहेंगे । इतना सब होते हुए भी भारोपीय, हिंदार्य भाषाओं में भौगोलिक परिवेश और सामाजिक संपर्क से उत्पन्न अनेक द्रविड़, मुंडा, तिब्बती-बर्मी तत्व मिलते हैं जिनका उल्लेख फ्रेंकलिन सी० साउथवर्थ ने 'इंटरनेशनल जनरल ऑफ द्रविडियन लिंग्विस्टिक्स' (जुलाई 1974) में प्रकाशित एक निबंध में किया है । (साउथवर्थ : 201-222) । हिंदी-उर्दू भी इन प्रभावों को आत्मसात् किये हुए हैं । यहाँ शब्दावली

की चर्चा नहीं की जा रही है क्योंकि इस संबंध में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, इमेन्यू, हाइम्स, बरो आदि विद्वानों ने अपने ग्रंथों पर निबंधों में विस्तार से चर्चा की है। केवल दो-तीन व्याकरणमूलक उपलबिध्यों के अध्ययन से पता चलता है कि ये हिंदार्येतर प्रभावों से विकसित हुई हैं।

1. प्रतिध्वनि शब्द : जैसे—चाय-वाय (हिंदी-उर्दू), पुस्तक-विस्तक (मराठी), काप्यि-किप्यि (तमिल)।
2. लिंग-भेदों में कमी : प्राक्भारोपीय और प्राचीन हिंदार्य से हमारी भाषाओं को तीन लिंगों का विधान विरासत में मिला। हिंदार्य समूह की कुछ भाषाओं में (हिंदी-उर्दू में) दो लिंग ही रह गए। मराठी जैसी हिंदार्य भाषा में तीन लिंगों और उनके कारण क्रिया पदों में परिवर्तन द्रविड प्रभाव के फलस्वरूप बना रहा क्योंकि तमिल में तीन तरह का लिंग-भेद सर्वनामों और पुरुषवाचक क्रिया-रूपों में स्पष्ट दिखाई देता है। (साउथवर्थ : 3:7:208)

| | | |
|---|---|---|
| तमिल | (1) अवन् पडिविकरान् | (वह पढ़ता है) |
| | (2) अवल् पडिविकराल | (वह पढ़ती है) |
| | (3) अदु वरुकिरदु | (पशु या जड़ पदार्थ) (वह आता है) |
| मराठी | (1) तो जातो | (वह जाता है) |
| | (2) ती जाते | (वह जाती है) |
| | (3) ते जातें | (वह (पशु) जाता है) |
| हिंदी-उर्दू | (1) वह गाता है। मैं गाता हूँ। | |
| | (2) वह गाती है। मैं गाती हूँ। | |
| | (3)………………… | |

हिंदी-उर्दू में मध्यपूर्वी और पूर्वी क्षेत्र के लक्षण विकसित हुए। बंगला में लिंग और क्रिया-पदों का संबंध समाप्त हो गया। यद्यपि अभी और शोध-कार्य जारी हैं फिर भी क्रमशः यह धारणा पुष्ट हो रही है कि अति प्राचीन आर्येतर भाषा अपने संपर्क से आर्यों की वाणी में इस तरह का लिंग विभाजन छोड़ गई है।

3. हिंदी-उर्दू में संयुक्त, संमिश्र क्रिया-पदों का वर्तमान रूप भी संभवतः द्रविड़ प्रभाव के कारण है।

क्रिया ..........

(1) जा सकेगा (हिंदी-उर्दू)

(2) पोह मुडियुम् (तमिल)

**संयुक्त क्रिया-पद**

तमिल (शर्मा : 1968) अवन् पडित्तु मुडित्तान्=वह पढ़ चुका (मुडि=चुक)

अवन् पाडि मुडित्तान्=वह गा चुका ।

नान् चोल्लि मुडित्तिरुक्किरेन्=मैं गा चुका हूँ ।

प्रमिला तूंग त्तोडंगिनाल्=प्रमिला सोने लगी ।

(तूंग=सो, तोडंगु=लग)

जान पड़ना=पुलप्पड

देख पड़ना=काणंप्पड

चौंक जाना=तिडुक्किट्टुप्पोक (पोक=जाना)

काँप जाना=नडुंगिप्पोक

कह रखना=चेल्लिवेक्क (वे=रख)

रोक रखना=निरुत्तिवेक्क (निरुद्धि रखना)

मलयालम निकल पड़ना=पुर्प्पेडुक (पुर्=निकल, पेडु=पड़)

देख पड़ना=काल् चयिल् पेडुक

सुन पड़ना=केव्वियिल् प्पेडुक

आन् संसारिप्पकाम् तुडङि=मैं बोलने लगा (तुडङि=लग)

लीला उरड्डु वान् तुडङ्ङि=लीला सोने लगी

(उरड्डु=सोना)

ङङक् काणुवान् तुडङि=हम देखने लगे (काणुवान्=देख)

कन्नड खा डालना=तिंतु हाकुप्पडु (तिंदु=खा)

उखाड़ डालना=कत्त हाकुप्पडु (कन्तु=उखाड़)

वाक्य की संरचना में दक्षिण और उत्तर की सभी भारतीय भाषाओं में पदानुपद समानता है । इससे परस्पर अनुवाद करने में तो सहायता मिलती ही है, साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि चिंतन के स्तर पर संकलपनाओं का विभाजन समान संस्कृति में लगभग एक-सा ही होता है । इन भाषाओं की वाक्य संरचना पद्धति आर्य और द्रविड़ प्रभावों का समन्वय निदर्शित करती है ।

टिप्पणी :

1. (विशेषण उपवाक्य +) संप × क्रिप हिंदी
   (कृदंत +) संप × (क्रप) तमिल

2. संप संज्ञा पद बंध (NP = Noun Phrase)
   पू पूरक (C = Complement)
   मूक्रि मुख्य क्रिया (MV = Main Verb)
   अप अव्यय पद (ADV = Adverbials)
   वा वाक्य (S = Sentence)
   है-क्रिया = संयोजक क्रिया (LV = Linking Verb)

वाक्य-सूत्र NP + को × C × LV

संग + को × पू × है – क्रिया

वाक्य-सूत्र NP × ADV × MV

संप × अप × मु क्रि

' पोहिर = 'जाती हुई'
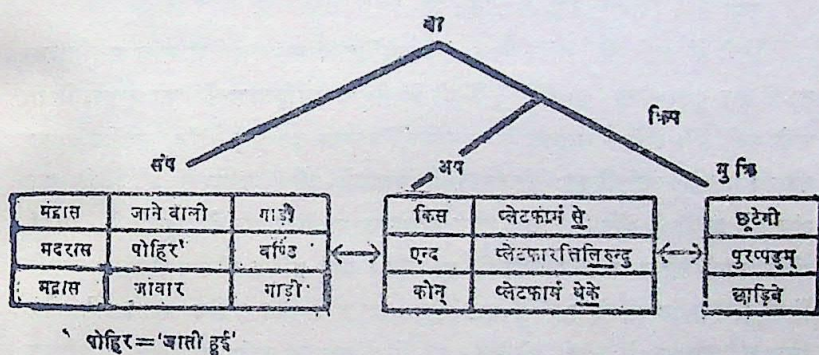
व्यतिरेकी विश्लेषण
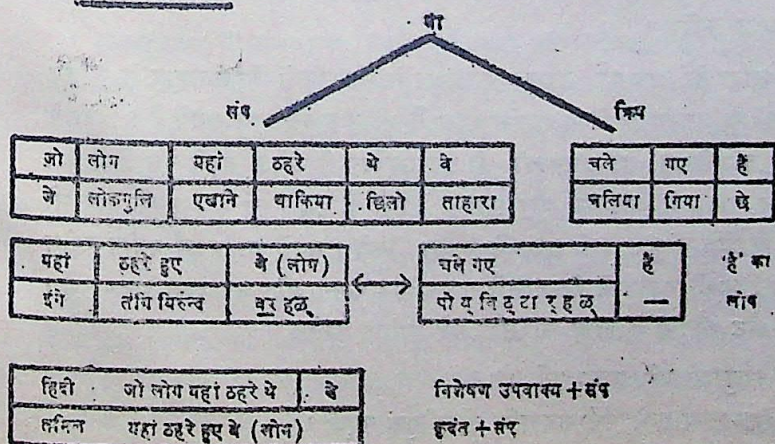
भाषा-संबंधी अन्वेषण की ओर विश्वविद्यालयों के साहित्य-प्रधान विभागों का रुझान न होने के कारण कई महत्वपूर्ण पक्षों का गहन विश्लेषण नहीं हो पाया है। अभी भारतीय भाषा वर्गों के मुहावरों, शैलियों, अभिव्यक्ति युक्तियों पर और भी गहनता से कार्य करना आवश्यक है : इस प्रसंग में केवल एक मुहावरे का और उल्लेख करके मैं अन्य विषयों की चर्चा करूँगा।

> हिंदी का एक मुहावरा है 'आटे-दाल का भाव मालूम होना' इसमें आटा द्रविड़ मूल का शब्द है। 'अट्ट' धातु का अर्थ 'पसीना' है उसका संस्कृत पर्याय 'चूर्ण' है। हिंदी में आटे का पर्याय 'चून' भी है। पर हमने किसी-से 'चून-दाल' का भाव नहीं सुना है। कोई बोलेगा तो खटकेगा ही। शायद यहाँ आटे का अर्थ चून नहीं पिसा हुआ या दला हुआ है। (शर्मा, 1968 : 119)

हिंदी में उर्दू की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का समावेश मात्र सर्वविदित तथ्यों का पुनरुल्लेख होगा। ये हिंदी के महान् साहित्यकारों की रचनाओं में भरी पड़ी हैं। जैसे—साहिब के दरबार, खाला का घर नांहि, बड़ी इजाफा कीन। इनके अतिरिक्त रोजमर्रा के मुहावरे और कहावतें भी हिंदी का अंग बन चुकी हैं जैसे—नीम हकीम खतरे जान, मेरा भी पैर खूसने में, मियाँ बीबी राजी तो क्या करेगा काजी, इत्यादि। यदि द्रविड़ और पूर्वी भाषा-भाषी हिंदी लेखक अपने लेखन में प्रादेशिक मुहावरों का प्रयोग करने लगे और विद्यार्थी अवस्था में लोगों को उनसे परिचित कराया जाये तो हिंदी के कलेवर की सामासिकता और भी गहन हो सकती है। उदाहरणार्थ जैसे मराठी की कहावतें हैं—(i) ज़्यादा होशियार उसके बैल बेकार (ii) बाप बताइए नहीं तो श्राद्ध करिए।

भाषा के स्तर पर उदात्त आकांक्षा से संस्कृतियों के समाहार के कृत्रिम प्रयत्नों के प्रमाण हिंदी के आरंभ काल से ही उपलब्ध होने लगते हैं। हिंदी के सुप्रसिद्ध मुस्लिम साहित्यकारों ने इस उद्देश्य से अनेक नमूने पेश किये थे। अमीर खुसरो ने संस्कृत और फ़ारसी भाषा के छंद लिखे थे। उनके बाद भी कई विद्वानों ने कुछ इसी तरह के प्रयोग किये। सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग रहीम के हैं जिनकी रचना में निम्नलिखित उद्देश्य कथन और उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

> खेट कौतुक जातकम् फारसीय पद मिलित ग्रन्थाः
>
> खलु पण्डितै; कृताः पूर्वैः।
>
> सम्प्राप्य तत्पदपर्थं करवाणि खेटकौतुकं पद्यैः।

तालेबरः सत्यवचा मुसाहिब परोपकारी जनखूबरी च ।
उतारदः स्याद्यदि सप्तमे च भवेन्नरः काबिल बामुरौवतः ॥

आधुनिक काल में भी इसी भावना से सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् स्वर्गीय मथुरानाथ शास्त्री (जयपुर) ने संस्कृत में गजलें रची थीं । जैसे—

भगवन्, दया दृगेषा मयि दीयतां दयालो !
अधुनावहेलना मे न विधीयतां दयालो ॥

परंतु रहीम ने इससे भी महत्त्व का एक और प्रयोग किया है जिसे कि भारत की अनेक प्रादेशिक संस्कृतियों की भाषाओं को संपृक्त करने वाला प्रयोग माना जा सकता है । जैसे

भर्ता प्राची गतो मे, वहुरि वगदे, शूं करूं रे हवे हूं ।
माझी कर्माचि गोष्ठी, अब पुन शुणसि गांठ बेला न ईठे ।
म्हारी तीरा सुनोरा, खरच वहुत है, ईहरा टाबरो रो ।
दिट्ठी टैंडी दिलों दी, इश्क अल्फिदा ओडियो वच्चनाड़ू ।

यह प्रयोग रहीम की प्रतिभा के उत्पन्न 'भारती एस्परेन्टो' की एक झांकी है । भारत की सार्वभौम भाषा का इस प्रकार का रूप कभी होगा कि नहीं, कहा नहीं जा सकता । इस तरह की मिश्रित भाषाएँ दीर्घ इतिहास से गुजरकर जब मानक रूप और एक व्यवस्था ग्रहण कर लेती हैं तो भाषाविज्ञान के 'क्रियोल' वर्ग के अंतर्गत आ जाती हैं । इसका एक जीवंत उदाहरण मारिशस में प्राप्त होता है ।

**हिंदुस्तानी रूप और हिंदी-उर्दू का विकास**

हिंदुस्तानी देवनागरी में लिखी गई हिंदी-उर्दू मिश्रित भाषा है । कुछ दिनों तक हिंदी का ही दूसरा नाम हिंदुस्तानी रहा है । परन्तु जब से उर्दू का झुकाव फारसी और हिंदी का झुकाव संस्कृत की ओर होना शुरू हुआ तब से हिंदुस्तानी नाम को विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा । स्वतंत्रता-संघर्ष-काल में विशेष रूप से महात्मा गांधी के नेतृत्व में इसे भाषा के कलेवर में भावना का रूप मिला और समाजभाषिकी (सोश्योलिंग्वस्टिक्स) की दृष्टि से हिंदुस्तानी ऐक्य और शक्ति की भाषा (लैंग्वेज ऑफ़ सालिडेरिटी एण्ड पावर) के रूप में पनपाई गई । गिलक्राइस्ट के समय तक उर्दू-हिंदी की स्थिति स्पष्ट हो चुकी थी । वे रेख्ता को उर्दू, खड़ी बोली (हिंदी) का मूल उत्स मानते थे । चतुरसेन, 1946:385 का कहना था, "हमें किताबी, मजलिसी या दरबारी

उर्दू की जरूरत नहीं है 'ठेठ हिंदुस्तानी' 'खड़ी बोली' सलीम रिवीज रेख्ता, अपनी जबान मुआफ़िक यहाँ तक कि 'हिंदी रेख्ता' में लिखना शुरू करो।" भाषा के इतिहास में हिंदुस्तानी हिंदी इतने रूपों में दिखाई दी है।

**क—शब्दावली का मिश्रण और संरचनात्मक समानता**

(i) ऐ भाई सुनो जो कोई दूध पीवेगा, सो तुम्हारी पैरवी करेगा शरियत पर कायम अछेगा। पानी पीवेगा सो विश्वास के कतरया में डूबेगा।

मिराज़उल-आशकीन (14 वीं शताब्दी)

(ii) अवल में यहाँ माण्डव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम माण्डव्याश्रम हुआ। इस लफ़्ज का बिगड़कर मंडोवर हुआ।

अज्ञात: राजस्थान : (18 वीं शताब्दी)

**ख—उर्दू शैली-मुवाहरा (तुक मिलाना) और वाक्य तंत्र**

(i) सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के साम्हने जिसने हम सबको **बनाया** और बात की बात में वह **कर दिखाया** जिसका भेद किसी ने **न पाया**।

इंशाअल्लाह (18 वीं शताब्दी)

(ii) बड़े-बड़े महिपाल उनका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर बनाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों **का नमूना** और खज़ाना उसका सोना चाँदी और रत्न की **खान से भी दूना**।

राजा शिवप्रसाद (19 वीं शताब्दी)

**ग—निखरी हिंदुस्तानी (सहज) क्रमशः शब्द प्रयोग तक सीमित**

(i) ......... किसी-किसी का **खयाल** था कि यह भाषा देहली के बाजार की ही **बदौलत** बनी है, पर यह खयाल ठीक नहीं। भाषा पहले से ही विद्यमान थी। और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है। बात केवल इतनी हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी फारसी के शब्द **मिलाने शुरू कर दिए** जैसे कि आजकल संस्कृत जानने वाले हिंदी बोलने में आवश्यकता से **ज्यादा** संस्कृत शब्द **काम में लाते हैं**।'

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (20 वीं शताब्दी पूर्वार्ध)

(ii) **इसमें शक नहीं** कि आपके विश्वविद्यालय को काफी धन मिला है.... लेकिन मैंने जो कुछ कहा है वह **रुपए का खेल** नहीं।

.........चुनांचे इसका कम-से-कम एक **नतीजा** होना चाहिए कि हम किसी को अपना दुश्मन न समझें ... यदि इन सबका कोइ **संदेश या पैगाम**[1] हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को अपनाएँ....

महात्मा गांधी, 1942

हिंदुस्तानी हमेशा ही एक तरल-सी भाषा रही है और इसका झुकाव भी अधिकांश व्यक्तिगत रुचियों पर निर्भर रहा है। परंतु स्वातंत्र्योत्तर काल में ज्ञान-विज्ञान और प्रौद्योगिक की उन्नति के फलस्वरूप हिंदी अपने लौकिक सांस्कृतिक-स्रोतों से शक्ति ग्रहण कर रही है और उर्दू ने तदनुरूप फारसी-अरबी व्याकरणों का प्रयोग कर नये शब्द बनाये हैं अथवा फारसी सांस्कृतिक स्रोतों से शब्द ग्रहण किये हैं।

इसे एक चार्ट द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

| | हिंदी | उर्दू |
|---|---|---|
| **राजनीति** | कौटिल्य | 1. निज़ामिल मुलत्सी<br>2. इमाम ग़ज़ाली |
| **गणित** | लीलावती<br>(भास्कराचार्य) | अक्लेदीस (युक्लिड)<br>अल्बेरूज़ी, खरअज़्मी |
| **चिकित्सा** | चरक<br>सुश्रुत | <br>अबूबकर अख्वाइनी बुखारी |
| **विधि**<br>(कानून) | मनु, बृहस्पति | इमाम हंबल, शाफ़ई, अबबू हपीफा |
| **भाषा** | याज्ञ० मित्रमिश्र<br>पाणिनी आदि | काजी अबू यूसुफ आदि<br>?? |

इसके अतिरिक्त नयी वैज्ञानिक संकल्पनाओं के शब्द भी पृथक हो गये हैं—

| **विषय** | **हिंदी** | **अंग्रेजी** | **उर्दू** |
|---|---|---|---|
| Botany | अपाक्ष | Abaxial | दूररासी |
| Chemistry | अपसामान्य | Abnormal | गैरमामूली |
| | अनुरेखक | Tracer | निशानदा<br>निशानगर |

1. भाषिक द्वैताद्वैत ।

| | त्रिक्षारकीय | Tribasic | सैतुरसी<br>सैतेजाबी |
|---|---|---|---|
| Zoology | प्रत्यास्थ ऊतक | Elastic Tissue | लचकदार बाफत |
| | अंतःपुटी | Endocyst | दरों खवेस्त |
| Mathematics | सम संख्या | Even number | जुफत अदद |
| | दूरी | Distance | फासला |
| | अंतःवृत्त | Inscribed Circle | दाखिली दायरा |
| | त्रिकोण | Triangle | मुसल्लस |
| Geography | भेद्य चट्टान | Pervious rock | जाज़िद चट्टान |
| | सरंध्र | Porous | मजामदार |
| | आर्द्रता | Humidity | रतूबत |

इस कारण अब हिंदुस्तानी के विकास की आशा निरंतर क्षीण होती जा रही हैं। हाँ, भारतीय प्रादेशिक भाषाओं के विकासमान रूप हिंदी के ही समान हैं। उनके शास्त्रीय और अर्धशास्त्रीय विषयों की भाषा में संस्कृत तत्व बढ़ गया है और हिंदी तथा उनकी नयी शब्दावली में 60 प्रतिशत से 70 प्रतिशत की समानता है। आधुनिक विषयों की पुस्तकों की भाषा और समाचार-पत्रों तथा विशेष क्षेत्रीय पत्रिकाओं के निबंधों को देखने से यह कथन पुष्ट होता है।

हिंदी में संस्कृत तत्व कुछ तो वैचारिक आवश्यकताओं के साधन संस्कृत से उपलब्ध करने के प्रयास में बढ़ा है और कुछ साहित्यिक निबंध-शैली के आदर्शों का पालन करते हुए भाषा में शिष्टता कायम रखने की इच्छा से पनपा है।[1] इस लिखित और शिष्ट स्तरीय संभाषण की भाषा से हमारी पिछली पीढ़ी

---

1. इस संबंध में पंडित जवाहरलाल नेहरू के विचार सुलझे हुए हैं। उनका कहना था—जिन प्रांतों में हिंदुस्तानी बोली जाती है, वहाँ अगर हिंदी और उर्दू में भेद बढ़ता भी जा रहा है, अगर उनका विकास भी जुदा-जुदा दिशाओं में हो रहा है, तो भी किसी प्रकार की आशंका की कोई वजह नहीं है। उनके विकास में किसी प्रकार की बाधाएँ भी उपस्थित न की जानी चाहिए। जब भाषा में नये और गूढ़ विचारों का समावेश हो रहा है, तो किसी हद तक यह स्वाभाविक ही है। दोनों भाषाओं के विकास से हिंदुस्तानी भाषा की उन्नति ही होगी। बाद को जब संसार की अन्य शक्तियों का प्रभाव बढ़ेगा या राष्ट्रीयता का उस दिशा में दबाव पड़ेगा, तो दोनों भाषाओं का सामंजस्य अनिवार्य हो जाएगा। सार्वजनिक शिक्षा बढ़ने के साथ भाषा में समानता और सामंजस्य का प्रादुर्भाव होगा।

द्वारा प्रयुक्त उर्दू के निम्नलिखित शब्द, पदावली, उपसर्ग और प्रत्यय आदि लुप्त होते चले जा रहे हैं।

चुनांचे, गोया, आया, मसलन, काश, -फरोश, शुदा, -परस्त, -नामा, -कश, -नवीस, गैर-, नीम-, कम-, ओहदा, हासिल, सिफत, काबिल, इम्तिहान, मदरसा, तबादला, तवज्जुह, जुमला, गुफ्तगू, ताल्लुक, खिदमत, आदि।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में हिंदी-उर्दू को मिलाने का प्रयत्न भी किया गया था। उदाहरण के लिए संविधान की धारा 351 का पंडित सुंदरलाल कृत अनुवाद नीचे दिया जा रहा है—

यूनियन का फ़रज होगा कि हिंदी भाषा के फैलाव को बढ़ाए और उसका इस तरह विकास करे कि वह भारत की मिली जुली कल्चर के सब अंगों को जाहिर करने का साधन बन सके और उसकी आत्मा छोड़े बिना जो रूप, जो शैली और जो मुहाविरे हिंदुस्तानी में और आठवीं पट्टी में दर्ज भारत की दूसरी भाषाओं में काम में आते हैं उनको उसमें **रचापचा** कर और जहाँ कहीं जरूरी और **चाहनी** हो, उसकी शब्दावली के लिए पहले संस्कृत से और फिर दूसरी भाषाओं से शब्द लेकर उसे **मालामाल** करे।

हम पंडित सुंदरलाल की भाषा-संबंधी मान्यता और तज्जन्य रूप से भले सहमत न हों परंतु उनके प्रयोग को हमें उपेक्षा से नहीं देखना चाहिए। हो सकता है कि उनकी भाषा हमारे गद्य के अतिक्लासिकी झुकाव को चुनौती दे रही हो। हो सकता है यह भाषा, एक सामान्य साक्षर व्यक्ति की हिंदी व्यवहार-क्षमता से अधिक ऊपर जाने के विरुद्ध वर्जनात्मक संकेत हो। क्योंकि हम अपनी एकांगी धुन में हिंदी के उन सृजनक्षम बीजों को ही नष्ट कर रहे हैं जो कि हिंदी उपभाषाओं और बोलियों ने उसे प्रदान किये हैं। साहित्यकार अपनी रचनाओं में इनकी बानगियाँ प्रस्तुत करते रहे हैं। तुलसी ने साहिब, गरीबनिवाज, दरबार जैसे शब्दों का प्रयोग करने के साथ-साथ 'अनभल',

---

गाँधी हिन्दी दर्शन : प्रादेशिक हि० सा० सम्मेलन, दिल्ली, पृष्ठ 210-121।

हिन्दुस्तानी के व्यवहार-क्षेत्र की सीमाएँ मैंने अपने निबंध 'Nature and Scope of Functional Hindi' में एक चार्ट द्वारा स्पष्ट की है।

'अपडर' और 'तिमुहानी' जैसी नई सृष्टियाँ की हैं। इस कोटि के रचनाकारों ने अपने प्रयोजन के लिए शब्द की संकरता को सहर्ष अपनाया है और खुले मन से नये शब्द बनाकर उनका प्रभावी प्रयोग भी किया है। तुलसी ने बेचना से बेचक, सूर ने चाहना से चाहक, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने जांचना से जांचक शब्द रचे हैं। क्रमशः यह वृत्ति खड़ी बोली के तत्समात्मक प्रवाह में लुप्त होती गई। पंडित सुंदरलाल और उस्मानिया विश्वविद्यालय के हिंदुस्तानी के प्रयोगों में उपर्युक्त प्रासंगिक रचना-प्रवृत्तियों को बड़े पैमाने पर लागू करने की चेष्टा की है और हर प्रबंधक, रोकथामी, प्रसंगी, बैठ-विठाव, रख-रखाव, जन-गिनती, सकत (क्षमता) आदि शब्द सुझाये हैं। परंतु वह विचार-वर्ग डॉ० रघुवीर की ही तरह अपने अतिवाद के कारण सफल नहीं हुआ और अंत में व्यंग्योक्तियों का शिकार भी बन गया।

फारसी-उर्दू शब्द और व्याकरण की युक्तियों का प्रवेश हिंदी के सिवा अन्य भाषाओं में भी हुआ। यहाँ तक कि स्वतंत्रता-संघर्षकाल के तमिल में लगभग 1500 शब्द ध्वनि-अनुकूलित रूप में मिलते हैं।[2] जैसे अंकामी, (हंगामी), अच्चारु (अचार), अमुल (अमल), इराची (राजी), इरावुत्तन (राऊत), इल्लाजु (इलाज), इजारा, कजांची (खजांजी), कमान, करिप्पु (गरीब), कापिरी (काफिर), काता (खाता), कायता (कायदा), कुताम (गुदाम), सरबत्तु (शरबत), चमीनतार (जमीनदार), साबतु (साबित), चनत्तु (सनद), सोक्कु (शोख), चेप्पु (जेब), ताना (थाना), तवुल (तौल), तप्तर (दफ्तर), इत्यादि। तमिल के आधुनिक संस्कार में जिस प्रकार संस्कृत तत्व को अलग किया जा रहा है उसी प्रकार उर्दू-फारसी शब्दावली भी निकाली जा रही है परंतु एक ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से थोड़े ही वर्ष पूर्व मिल, भारत की प्रदेश केंद्रित सामासिक संस्कृति का अच्छा प्रमाण प्रस्तुत कर रही थी। खैर, यदि हम इन तथ्यों को नजरअंदाज कर दें तो भी हिंदी के प्रसंग में यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिंदुस्तानी चाहे जितनी सरल रही हो वह आज भी व्यावहारिक विषयों पर चर्चा और लेखन में बोधगम्यता बढ़ाने में बहुत सीमा तक सहायक होती है उर्दू विद्वानों का एक

---

1. देखिए 'साहित्य साधना और संघर्ष', सम्पादक रणवीर रांग्रा; भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, 1965। 'साहित्यकार और भाषा'; गोपाल शर्मा पृष्ठ 50-51।
2. 'तमिल लेक्सकॉन', मद्रास यूनिवर्सिटी; 1926; अंतिम सम्पादक एस० वैयापुरि पिल्लई।

वर्ग ऐसा भी है जो उसकी नई शब्दावली को हिंदी के करीब रखना चाहता है। जैसा उसका सुझाव है कि decolorise का अनुवाद बेरंग होना, activate का सरगम करना, abyssal का पाताली और afforestation का जंगलबानी किया जाना जाहिए। पर इस वर्ग के दृष्टिकोण को उर्दू के परंपरागत क्षेत्रों में थोड़ी मात्रा में ही स्वीकारा गया है।

हिंदी इस दृष्टिकोण से कुछ लाभ उठा सकती है। पारिभाषिक शब्दावली-निर्माण के प्रथम और द्वितीय दौरों में, अंग्रेजी के क्रियाभाव प्रधान शब्दों में बद्ध तकनीकी संकल्पना से अभिभूत होकर हमारे वैज्ञानिकों ने तदनुरूप शब्द बनाने का जो आग्रह किया है उससे हिंदी में एक ही क्रिया दो रूपों में प्रयुक्त होकर भाषा को बोझिल और अस्वाभाविक बना रही है। जैसे **राष्ट्रीकरण करना, पंजीकरण करना, घनीभवन होना**। परिभाषिक शब्दावली आयोग की भाषाशास्त्रियों की समिति ने एक तात्कालिक हल के रूप में ऐसे प्रयोगों से बचने की सिफ़ारिश की थी। परंतु मुद्रित साहित्य और समाचार पत्रों में इस तरह के प्रयोग बहुत नजर आने लगे हैं। इस अनावश्यक द्वित्व का कोई अच्छा निदान खोजना अत्यावश्यक हो गया है। टी० एच० सेवरी ने कहा है—"सामाजिक परिस्थितियों और रुचियों के अनुसार क्रमश: भाषा और शब्दावली में पर्वितन होता जाता है। नये विचार उत्पन्न होते हैं, नयी धारणाएँ बनती हैं:" अतएव अमुक समय की शब्दावली या भाषा को ही सर्वोपरि मान लेना गलत है। राजभाषा आयोग ने शब्दावली के आत्मसात् होने के पूर्व दो कार्यों की व्यवस्था आवश्यक है—(1) नयी शब्दावली का प्रयोग आरंभ कर देना चाहिए, (2) समय-समय पर उसको फिर से समीक्षा की जानी चाहिए, संस्कार किया जाना चाहिए। हिंदी के विकास-काल में हर 25 वर्ष बाद भाषा और शब्दावली की पूर्ण विश्लेषणात्मक समीक्षा होती रहनी चाहिए एवं सरकार को समय-समय पर इस कार्य के लिए दूरदर्शी, उदार और प्रबुद्ध साहित्यकारों, विषय-विशेषज्ञों और भाषाशास्त्रियों की समिति या मंडल नियुक्त करना चाहिए जो कि विस्तृत अध्ययन के बाद हमारा समुचित मार्ग-दर्शन करे।

भाषा के संदर्भ में हमने सामासिक संस्कृति और शैली तथा शब्दग्रहण की चर्चा नहीं की और न ही पाश्चात्य संस्कृति के तत्वों के समाहार का उल्लेख किया है। वैसे पाश्चात्य संस्कृति भाषा और साहित्य के माध्यम से न केवल

पढ़े लिखे जन-समाज में रचपच गई है वरन् उसने हमारी चिंतन-अभिव्यक्ति प्रक्रिया पर गंभीर और व्यापक असर डाला है। कोई भी भारतीय, मध्यपूर्वी या पूर्वी भाषा इन प्रभावों से अछूती नहीं है। लौकिक या सेक्युलर संस्कृति के विकास में इसका फलदायी प्रभाव पड़ा है परंतु इस स्तर पर इसने समस्याएँ भी उत्पन्न की हैं। अंग्रेजी ने हमारे वैज्ञानिक, आर्थिक, राजनीतिक, तकनीकी चिंतन को अपने गिरफ्त में इस सीमा तक ले लिया है कि इन विषयों पर हमारी अपनी भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति 'सँयुक्त अभिव्यक्ति' बन गई है। इसका आशय है कि अंग्रेजी शब्दरूप में बंधा भाव अर्थ का वाहक है और हिंदी अभिव्यक्ति उसकी समनुरूप प्रतिच्छाया है। इसे मनोभाषाविज्ञान में 'संयुक्त द्विभाषिकता' कहते हैं। इसका मूल तत्व है कि एक सांस्कृतिक भाव दो भाषाओं में एक ही तरह व्यक्त होता है। स्पष्ट है कि इन प्रसंगों में सांस्कृतिक भाव पाश्चात्य होता है, भाषायें अंग्रेजी और अंग्रेजीनुमा हिंदी होती है। यह स्थिति अंशतः विद्याओं को उन्हीं रूपों में ग्रहण करने की मजबूरी के कारण हो सकती है परंतु अधिकांशतः अपनी भाषाओं पर पर्याप्त अधिकार न होने के कारण भी है। इस विषय का विस्तृत विवेचन मैंने "The Nature and Scope of Functional Hindi" शीर्षक निबंध में किया है। हमें इस स्थिति का मुकाबला धैर्य, क्षमता और कल्पनाशीलता से करना है नहीं तो हिंदी को शिक्षा और नवीन क्षेत्रों का माध्यम बनाने का अभियान खटाई में पड़ सकता है। भाषा अधिकाधिक प्रयोग से ही निखरती है। विकास के दौरान उत्पन्न अवांछित बातों को धैर्य से हटाते हुए, हमें निरंतर समीक्षा सहज विकल्पों को समावेश करते हुए मांजते रहना है। हिंदी का वर्तमान अंतरंग और बहिरंग चार्ट द्वारा अगले पृष्ठ पर प्रदर्शित किया जा रहा है।

नयी हिंदी में संस्कृत पदावली की अधिकता का एक और कारण विभिन्न शास्त्रों की अविच्छिन्न परंपरा और प्रादेशिक भाषाओं के लिए सहज स्वीकार्य समान भाषा-साधनों का निर्माण है। हिंदी को उत्तरोत्तर सार्वदेशिक रूप देने की योजना एक दीर्घकालीन योजना है। इसे, एक ओर तो हस्तक्षेप और समुचित आयोजन से और दूसरी ओर साहित्यकारों एवं विविध क्षेत्रीय लेखकों के निरंतर सहयोग और आदान-प्रदान से निष्पादित किया जा सकता है। अनुच्छेद 351 के निर्देशों को मूर्तरूप देने के लिए निम्नलिखित कार्य करने होंगे :

(i) हिंदी रूपिमों (मार्फीम) में अभिव्यक्त सभी संकल्पनाओं

(कान्सेप्ट्स) की वर्गीकृत सोपानक्रमिक तालिका बनाना, जैसे—]
गति—सरकना, घिसटना, रेंगना, चलना, दौड़ना, नजर डालना,
देखना, गौर करना,

इससे यह पता चलेगा कि किस अर्थच्छाया के लिए हमें शब्द चाहिए और यदि प्रादेशिक भाषा में भी इसी तरह की वर्गीकृत बृहत् तालिका हो तो उपयुक्त शब्दों को उधार लेकर कमी पूरी की जा सकेगी। इसके लिए बहुभाषी कोशों की भी आवश्यकता होगी।

(ii) हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं (उपभाषाओं, बोलियों) का विविध पक्षीय तुलनात्मक और व्यतिरेकी अध्ययन, ताकि उन युक्तियों का पता लगाया जा सके जो हिंदी अभिव्यक्ति-क्षमता को स्वाभाविक तरीकों से बढ़ाने में समर्थ हों।

(iii) भारतीय विविध-कार्यक्षेत्रों की व्यवहार-प्रयोजनमूलक शब्दावली—अभिव्यक्तियों का संग्रह, वर्गीकरण, विश्लेषण और संपादन, जैसे सांधना, झालना, कलई करना, कुत्ता (पुर्जा), आँख (हिस्सा), कैंची (बंध) ताकि उनका मानक भाषा में समावेश करने की संभावना और प्रक्रियाओं पर विचार किया जा सके।

(iv) विभिन्न भाषाओं की 'प्रयुक्तियों' प्रयोजनमूलक भाषाओं का विश्लेषण और उनका भाषकीय सूत्रों में परिवर्तन (यह कार्य आज के लिए उपयोगी पद और वाक्यांश और उपवाक्य तंत्र तैयार करने में सहायक होगा)।

(v) अखिल भारतीय मुहावरों और कहावतों का सुवर्गीकृत कोश बनाना

(iv) साहित्य और विविध ज्ञान-क्षेत्रों के ग्रंथों का अनुवाद जिससे कि हिंदी साहित्य को विस्तार और सार्वदेशिकता प्राप्त हो सके।

(ये मात्र संकेतात्मक हैं और भी कई ऐसे कार्य हैं जो विश्वविद्यालय, भाषा-साहित्य-संस्थान, सरकार के विभिन्न विभाग परस्पर संपर्क रखते हुए एक समन्वित और सुनियोजित ढंग से कर सकते हैं।)

पिछले कुछ वर्षों में सरकारी और निजी प्रयत्नों के फलस्वरूप हिंदी भाषा और साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध हुई है। उसमें ललित साहित्य के अतिरिक्त विविध ज्ञान-विज्ञान का साहित्य पर्याप्त मात्रा में लिखा गया

है और वह राष्ट्रीय जीवन के अनेक क्षेत्रों में क्रमशः अपना स्थान ग्रहण करती जा रही है। प्रजातंत्र और बहुभाषी राष्ट्र में इस तरह के भाषिक परिवर्तनों में काफी समय लग जाता है। हाँ, हमें अपने कार्य निष्ठा और परिश्रम से, सद्भाव उत्पन्न करते हुए, करते जाना जाहिए और परिवर्तन की गति को शिथिल नहीं होने देना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता के ये शब्द हमें सदा याद रखने होंगे—

'सिद्धिर्भवति कर्मजा।'
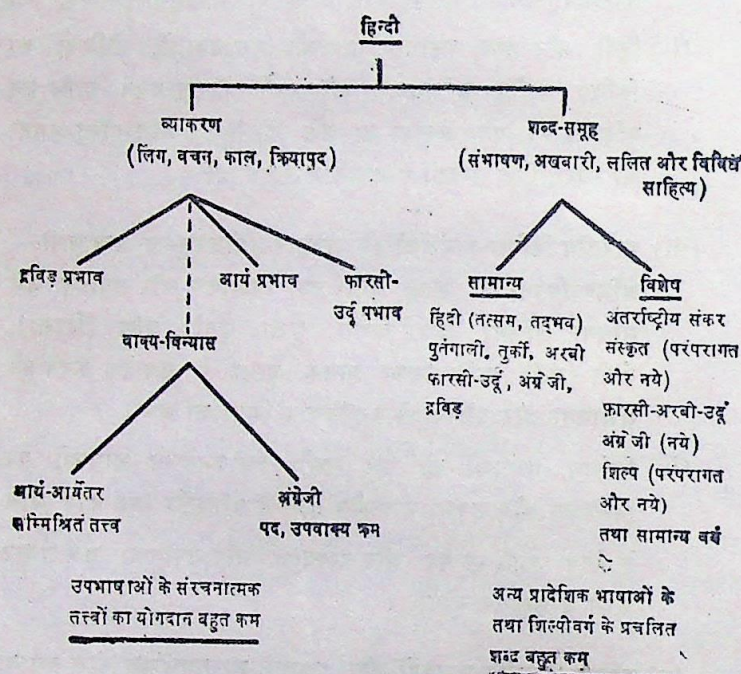
संदर्भ सूची—


| | | |
|---|---|---|
| Alisjahbana, S. Takdir (Ed) | 1967 | *The Modernization of Languages in Asia.* The Malaysian Society of Asian Studies Univ. of Malaya, Kualalumpur. |
| Halliday, M. A. K. McIntosh, Angus Strevens, Peter | 1965 | *The Linguistic Sciences and Language Teaching* Longmans . |
| Savory, T. H. | | *Browsing among the words of Science* . |
| Southworth, Franklin C. | | Linguistic Stratigraphy of North India . |
| उदयनारायण तिवारी | 1961 | हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, इलाहाबाद, भारती भंडार |
| एस. वैयापुरी पिल्लई | 1926 | तमिल लेक्सिकान, मद्रास यूनिवर्सिटी |
| काशीराम शर्मा | 1968 | द्रविड़ परिवार की भाषा हिंदी |
| गोपाल शर्मा | 1965 | 'साहित्यकार और भाषा' साहित्य साधना और संघर्ष (सं. रणवीर रांग्रा) दिल्ली भारती साहित्य मंदिर, |
| चतुरसेन (आचार्य) | 1946 | हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, लाहौर, मेहरचन्द लक्ष्मणदास |
| दक्षिणामूर्ति | | हिंदी में आर्य द्रविड़ शब्द, हिंदी अनुशीलन |
| नागरी प्रचारिणी सभा | | हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास |

| | | |
|---|---|---|
| राजभाषा आयोग | | रिपोर्ट के पाँचवें अध्याय के संबंध में दिए गए निष्कर्षों और सिफारिशों का सार |
| लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय | 1954 | आधुनिक हिंदी साहित्य इलाहाबाद : हिंदी परिषद |
| सुनीतिकुमार चटर्जी | | भारतीय आर्य भाषा और हिंदी दिल्ली; राजकमल प्रकाशन |

# संविधान में हिंदी

—शेरबहादुर झा

## स्वाधीनता से पूर्व हिंदी

अंग्रेजी के भारत आने से पूर्व मध्यकाल से ही हिंदी व्यापक आधार पर बोली और समझी जाती थी। दक्षिणी और उत्तर, पूर्व और पश्चिम के व्यापारियों एवं यात्रियों के बीच संपर्क का माध्यम बन चुकी थी। देश के विभिन्न भागों के विद्वानों एवं सर्वसाधारण के बीच विचार विनियम का साधन यही भाषा थी। जब अंग्रेज भारत में आए तो उन्होंने अपने शासन को सुदृढ़ आधार देने एवं दिन-प्रतिदिन के शासकीय कार्य को चलाने के लिए अंग्रेजी का प्रचार और प्रयास किया। धीरे-धीरे अंग्रेजी सारे देश में, सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त होने लगी। वह उच्च स्तरीय शिक्षा का माध्यम बन गयी। अंग्रेजी की शिक्षा ने उसके समर्थकों का एक ऐसा वर्ग बना दिया जो अंग्रेजी को देश की भाषाओं से अधिक सम्मान देता था। इस प्रकार अंग्रेजी देश के शिक्षितों के बीच संपर्क भाषा बन गई।

19वीं सदी के अंतिम चरण में देश गुलामी की नींद से कुछ जागने लगा। देश में राजनैतिक चेतना का विकास तेजी से होने लगा। इंडियन नेशनल काँग्रेस की स्थापना ने देश के सभी नेताओं को एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया। राजनैतिक चेतना के विकास के साथ-साथ देश की भाषाओं पर भी नेताओं का ध्यान गया। स्वतंत्रता संग्राम के सभी नेताओं ने, चाहे वे देश के किसी भाग के क्यों न हों, हिंदी की व्यापकता को देखकर उसे अपना पूर्ण समर्थन दिया। स्वतंत्रता संग्राम में हिंदी को ही युद्ध की माध्यम भाषा माना गया। स्वतंत्रता के बाद उसके विचार में यही वह भाषा हो सकती थी जो स्वाधीनता के बाद राजभाषा का पद ग्रहण कर सकती है। इस संबंध में काँग्रेस के 39 वें अधिवेशन में पारित प्रस्ताव उल्लेखनीय है। इस प्रस्ताव में कहा गया था, 'कांग्रेस तय करती है कि, महासमिति का और कार्यकारिणी सीमित का कामकाज आमतौर से हिंदुस्तानी पर चलाया जाएगा।' उक्त प्रस्ताव उस समय के देश के नेताओं के हिंदी संबंधी विचार का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करता है।

**हिंदी और हिंदुस्तानी का विवाद**

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद संविधान सभा में जब राजभाषा के प्रश्न पर विचार होने लगा तो संविधान निर्माताओं ने हिंदी को राजभाषा के रूप में चुना। परंतु इस भाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया जाए या हिंदी, इस प्रश्न को लेकर काफ़ी वाद विवाद हुआ। जो वर्ग हिंदुस्तानी नाम देना चाहता था, उसका तर्क था कि वह भाषा का वह रूप है, जो आम जनता द्वारा बोला व समझा जाता है। यही वह भाषा है, जिसका प्रचार एवं प्रसार गाँधी जी ने किया। दूसरे वर्ग का कहना था कि हिंदुस्तानी नाम की भाषा का अस्तित्व ही नहीं है। उनका यह भी विचार था कि पाकिस्तान बन जाने के बाद उर्दू मिश्रित हिंदी की अब कोई आवश्यकता नहीं रही। अतः राजभाषा का नाम हिंदी ही होना चाहिए। संविधान सभा के बाहर भी हिंदी का समर्थन बढ़ने लगा और अंत में संविधान सभा ने हिंदी के पक्ष में अपना निर्णय दिया।

**राजभाषा हिंदी :**

संविधान के अनु० 343 खंड 1, के अनुसार 'संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी' संदिधान लागू होने से पहले सारा सरकारी काम अंग्रेजी में हो रहा था। स्वयं संविधान की धाराओं को अंग्रेजी में प्रस्तुत और पारित किया गया। इस प्रकार संविधान पहले अग्रेजी में बना और उसका हिंदी अनुवाद बाद में प्रस्तुत किया गया। अंग्रेजी के स्थान पर एकदम हिंदी को लाने की व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए खंड 2 में 26 जनवरी, 1965 तक अंग्रेजी उन सभी प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त की जाती रहेगी, जिनके लिए वह संविधान लागू होने से ठीक पहले की जाती रही थी। अनु० 342 खंड 2 में (देखिए परिशिष्ट) यह भी व्यवस्था है कि राष्ट्रपति आदेश द्वारा उक्त 15 वर्ष की अवधि में राजकीय प्रयोजनों में से किसी के लिए अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेगा।

उक्त धारा के अंतर्गत सरकारी कामकाज में हिंदी को बढ़ाने के उद्देश्य से 27 मई, 1952 को राष्ट्रपलि का पहला आदेश जारी किया गया। इस आदेश के अनुसार राज्यों के गवर्नरों, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के अधिपत्रों के लिए, हिंदी का प्रयोग प्राधिकृत किया गया। दिसंबर, 1955 में भाषा संबंधी राष्ट्रपति का दूसरा

अध्यादेश जारी किया गया। जिसके अनुसार निम्नलिखित प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी का प्रयोग प्राधिकृत किया गया।

(1) जनता के साथ पत्र-व्यवहार।

(2) प्रशासनिक रिपोर्टों, सरकारी पत्रिकाओं तथा संसद को प्रस्तुत की जाने वाली रिपोर्टें।

(3) सरकारी संकल्पों और विधायी नियमों में।

(4) जिन राज्यों ने हिंदी को राज्यभाषा माना है उनके साथ पत्र-व्यवहार।

(5) संधि-पत्र और करार।

(6) अन्य देशों की सरकारों तथा उनके दूतों और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ पत्र-व्यवहार।

(7) राजनयिक और कौंसिलीय पदाधिकारियों और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में भारतीय प्रतिनिधियों के नाम जारी किए जाने वाले पत्रों आदि में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 15 वर्ष की कालावधि के अंतर्गत संघ सरकार की ओर से राजभाषा हिंदी के प्रयोग को बढ़ाने के लिए प्रयत्न अवश्य किए गए। किंतु हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी में कामकाज की छूट होने के कारण अंग्रेजी में काम करने के अभ्यस्त सरकारी प्रशासकों द्वारा हिंदी की अवहेलना ही होती रही है।

**राज्य भाषाएँ :**

अनु० 345 (1) के अनुसार राज्य का विधानमंडल उस राज्य के राजकीय प्रयोजनों में सब या किसी के लिए प्रयोग के अर्थ, उस राज्य में प्रयुक्त होने वाली किसी एक या अनेक को या हिंदी को प्रयोग के लिए प्राधिकृत कर सकेगा। इसी अनुच्छेद में यह व्यवस्था भी कर दी गई है कि जब तक विधान मंडल विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न करे अंग्रेजी उन सब प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त की जाती रहेगी, जिनके लिए संविधान लागू होने के ठीक पहले वह प्रयुक्त की जाती थी। अनु० 346(2) में कहा गया है कि एक राज्य से दूसरे राज्य और संघ के बीच संचार की भाषा, तत्समय संघ

के राजकीय प्रयोजनों में प्रयुक्त होने वाली भाषा ही प्राधिकृत भाषा होगी। किंतु दो या अधिक राज्य निश्चय करें तो उनके और संघ के बीच संचार के लिए हिंदी का प्रयोग हो सकता है।

उपर्युक्त अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि भाषा के संबंध में राज्य सरकारों को पूरी छूट दी गई। राज्यों के लिए राज्य भाषा अथवा हिंदी का प्रयोग प्राधिकृत कर सकते हैं। संविधान की इन्हीं धाराओं के अधीन हिंदी भाषी राज्यों ने हिंदी को राज्य भाषा चुना। हिंदी इस समय सात राज्यों—उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा दिल्ली की राजभाषा है। उक्त प्रदेशों में आपसी पत्र-व्यवहार तथा केंद्र से पत्र-व्यवहार की भाषा हिंदी है। इनके अतिरिक्त अहिंदी राज्यों में महाराष्ट्र तथा गुजरात की राज्य सरकारों ने हिंदी भाषी राज्यों से पत्र व्यवहार के लिए हिंदी को स्वीकार कर लिया है। हिंदी भाषी राज्यों में हिंदी का प्रयोग सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए बढ़ता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं जब इन राज्यों में सारा काम हिंदी में होने लगेगा।

**न्याय एवं विधि की भाषा :**

अनुच्छेद 348 (1) के अनुसार उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों में कार्यवाही की भाषा अंग्रेजी होगी। इसी अनुच्छेद में यह भी कहा गया है कि संसद में विधेयक अथवा प्रस्तावित संशोधनों का प्राधिकृत पाठ अंग्रेजी में होगा। अधिनियम जो राष्ट्रपति या राज्य के गवर्नर के द्वारा जारी किए जाएँ अथवा संसद और विधान मंडल द्वारा पारित किए जाएँ, उनका प्राधिकृत पाठ अंग्रेजी में होगा।

इसके अतिरिक्त आदेश, नियम, विनियम इस संविधान के अधीन अथवा संसद या राज्यों के विधान मंडलों द्वारा किसी विधि के अधीन निकाले जाएँ, उन सब के प्राधिकृत पाठ अंग्रेजी भाषा में होंगे।

अनु० 348 में यह भी व्यवस्था है कि राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से गवर्नर, उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों के लिए हिंदी के अथवा राज्य की राज्यभाषा के प्रयोग की आज्ञा दे सकता है। परंतु यह आज्ञा अदालती निर्णयों, डिग्रियों, हाईकोर्ट द्वारा किए गए आदेशों के संबंध में नहीं दी जा सकती।

अनु० 348 खंड 3 (2) में यह स्पष्ट किया गया है कि जहाँ राज्य सरकार ने अँग्रेजी के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा को प्रयोग के लिए प्राधिकृत किया है, उस राज्य के राजकीय सूचना पत्र में प्रकाशित उस राज्य के गवर्नर के प्राधिकार से प्रकाशित अँग्रेजी भाषा में उसका अनुवाद ही प्राधिकृत पाठ माना जाएगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि कानून और न्याय की भाषा, उन राज्यों में भी जहाँ हिंदी को राज्यभाषा मान लिया गया है, अँग्रेजी ही है। नियम, अधिनियम, विनियम तथा विधि का प्राधिकृत पाठ अँग्रेजी में होने के कारण, सारे नियम अँग्रेजी में ही बनाए जाते हैं। बाद में उनका अनुवाद मात्र कर दिया जाता है। इस प्रकार न्याय और कानून के क्षेत्र में हिंदी का समुचित प्रयोग हिंदी राज्यों में भी अभी तक नहीं हो सका है।

संविधान 343 खंड 1 के अनुसार भारतीय संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी। खंड 2 में यह कहा गया है कि संविधान लागू होने के 15 वर्ष की कालावधि में सभी राजकीय प्रयोजनों के लिए अँग्रेजी का प्रयोग किया जाता रहेगा। संविधान निर्माताओं ने 15 वर्ष की अवधि की व्यवस्था इसलिए की थी कि इस अवधि में सभी प्रशासक अपने को इस योग्य बना लें कि वे हिंदी में काम कर सकें। इस संबंध में संविधान सभा के अध्यक्ष और बाद में भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के शब्द उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कहा था—"संविधान में उल्लिखित 75 वर्ष की अवधि वस्तुतः उनके लिए है जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं। हिंदी भाषी राज्यों को तत्काल हिंदी भाषा के माध्यम से सारा कामकाज करना है।[1]" (सुधांशु, II) 15 वर्ष की अवधि इसलिए नहीं दी गई थी कि हिंदी सरकारी कामकाज के लिए सक्षम न थी, बल्कि यह अवधि केवल तैयारी के रूप में दी गई थी। 15 वर्ष की कालावधि में अहिंदी प्रदेशों में हिंदी का विरोध बढ़ने लगा। अतः संविधान के 343 खंड 3 में विदित उपबंधों के अधीन 15 वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के बाद भी अँग्रेजी का प्रयोग जारी रखने के लिए 1963 में राजभाषा अधिनियम बनाया गया। सन् 1967 में राजभाषा अधिनियम 1963 का संशोधन पारित किया गया। उक्त अधिनियम के अनुसार 26 जनवरी,

1. संपर्क भाषा हिंदी पृ० 11

1965 के बाद हिंदी सभी राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होगी, परंतु उसके साथ-साथ अँग्रेजी भी सह राजभाषा के रूप में प्रयुक्त की जाती रहेगी।

राजभाषा अधिनियम ने अंग्रेजी को सहभाषा के रूप में मान्यता दी, जिसके परिणामस्वरूप केंद्र तथा राज्यों में अनिश्चित काल के लिए अंग्रेजी में काम करने की छूट मिल गई। अब वस्तु स्थिति यह है कि सारा कामकाज अंग्रेजी में किया जाता है और बाद में उसका अनुवाद हिंदी में कर दिया जाता है। कानून के बहुत से क्षेत्रों में अंग्रेजी पाठ को ही प्राधिकृत पाठ माने जाने के कारण कानून के क्षेत्र में अंग्रेजी का स्थान ही सर्वोपरि हो गया है। उक्त अधिनियम के कारण हिंदी की प्रगति बहुत धीमी पड़ गई है। फिर भी सरकार के इस दिशा में प्रयत्नशील होने के कारण हमें आशा करनी चाहिए कि हिंदी एक न एक दिन सरकार के सभी कार्यों में प्रयुक्त होने लगेगी।

**राजभाषा आयोग और समिति :**

संविधान का अनु० 344 खंड (1)[1] राष्ट्रपति को सुझाव देता है कि संविधान के लागू होने के पाँच वर्ष तथा दस वर्ष की समाप्ति पर आदेश द्वारा वे एक आयोग गठित करेंगे। इस आयोग में अष्टम अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य होंगे।[3] इस आयोग का कार्य, संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए हिंदी का प्रयोग बढ़ाने तथा अंग्रेजी का प्रयोग निर्वाहित करने के लिए राष्ट्रपति को सुझाव देना होगा।

इसी अनु० के खंड 41 के अनुसार आयोग के सुझावों पर विचार करने के लिए एक समिति गठित की जाएगी। इसी समिति में 10 लोकसभा के सदस्य होंगे, जो क्रमशः लोकसभा तथा राज्यसभा के सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति द्वारा निर्वाचित होंगे। इसी अनु० के खंड 5 के अनुसार समिति की सिफारिशों पर विचार करने के बाद राष्ट्रपति सब सिफारिशों को अथवा कुछ को मानते हुए आदेश निकाल सकेंगे।

संविधान के आदेश के अनुसार 7 जून, 1955 को आयोग की नियुक्ति हुई। बालगंगाधर खेर इसके अध्यक्ष थे। जुलाई 1956 में आयोग ने प्रति-

---

1. अष्टम सूची में उल्लिखित भाषाएँ : 1. असमी 2. बंगाली। 3. गुजराती 4. हिंदी 5. कन्नड 6. कश्मीरी 7. मलयालम 8. मराठी 9. ओड़िया 10. पंजाबी 11. संस्कृत 12. सिंधी 13. तमिल 14. तेलुगु 15. उर्दू।

वेदन राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया। आयोग के मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे :—

(1) सारे देश में माध्यमिक स्तर पर हिंदी अनिवार्य की जाए।

(2) जनतंत्र में अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी का प्रयोग संभव नहीं। अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली हिंदी भाषा समस्त भारत के लिए उपयुक्त है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी का प्रयोग ठीक है, किंतु शिक्षा, प्रशासन, सार्वजनिक जीवन तथा दैनिक कार्य-कलापों में विदेशी भाषा का व्यवहार अनुचित है।

(3) राज्य व संघ की सरकारें किसी स्तर पर हिंदी का ज्ञान अनिवार्य करें।

(4) देश में न्याय देश की भाषा में किया जाए।

संविधान के निर्देश के अनुसार आयोग की सिफारिशों पर विचारार्थ भाषा समिति का गठन किया गया, जिसकी पहली बैठक 16 नवम्बर, 1957 को हुई। श्री गोविंदबल्लभ पंत इसके अध्यक्ष थे। समिति ने 8 फरवरी, 1959 को राष्ट्रपति को रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में यह तो कहा गया कि संघ सरकार द्वारा ऐसी योजना बनाई जाए, जिसके द्वारा हिंदी का अधिक से अधिक विकास हो, परंतु इस रिपोर्ट में बल इस बात पर दिया गया कि संघ के सभी प्रयोजनों के लिए, हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रयोग यथावत चलता रहे। श्री पुरूषोत्तम दास टंडन तथा सेठ गोविंद दास ने समिति की उक्त रिपोर्ट से असहमति प्रकट की थी। उक्त समिति की सिफारिशें ही आगे चलकर 1963 के राजभाषा अधिनियम का आधार बनी, जिनके अनुसार अंग्रेजी को हिंदी के साथ सहभाषा के रूप में मान्यता दी गई। संविधान के अनुसार दूसरा भाषा आयोग 1960 में नियुक्त होना चाहिए था, परंतु वह गठित नहीं किया गया।

अनुच्छेद 351 सरकार की भाषा संबंधी नीति को निर्देशित करता है और इस दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया है—"हिंदी भाषा की प्रसार वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना, हिंदुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहाँ आवश्यकता हो वहाँ उसके शब्द भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं में शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।"

संविधान की धाराओं से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी भाषा संबंधी नीति हिंदी के पक्ष में है और हिंदी का सभी राजकीय प्रयोजनों में प्रयोग संघ सरकार की भाषा नीति है। हिंदी का प्रयोग बढ़ानें के लिए संघ सरकार और राज्य सरकारों ने समय-समय पर नियम विनियम बनाए हैं, जिनके फलस्वरूप हिंदी का प्रयोग उतरोत्तर बढ़ रहा है, परंतु हिंदी का अपेक्षित प्रयोग और विकास नहीं हो सका। इसका कारण यह है कि संघ और राज्य दोनों के पास ही अंग्रेजी में काम करने का विकल्प है जिसके कारण अंग्रेजी में काम करने के अभ्यस्त हिंदी जानने वाले भी सरकारी काम के लिए अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं। राजभाषा अधिनियम ने अंग्रेजी को सहभाषा के रूप में स्वीकार किया जिसके कारण हिंदी में काम करने की अनिवार्यता नहीं रही। अनिवार्यता न होने के कारण हिंदी के प्रयोग के संबंध में प्रशासकीय वर्ग मे एक उदासीनता आ गई है। जिसके कारण हिंदी को सरकारी प्रयोजनों के लिए प्रयोग के काम में भी शिथिलता आ गई है। इस स्थिति से निकलने के लिए सरकार की ओर से उच्चस्तरीय प्रयत्न किए जा रहे हैं। हमें आशा करनी चाहिए कि प्रशासकीय वर्ग स्वेच्छा से ही जनतंत्र को सफल बनाने के लिए जनता की भाषा का प्रयोग सभी सरकारी प्रयोजनों में एक न एक दिन करेगा।

---

परिशिष्ट

## संविधान में राजभाषा संबंधी अनुच्छेद तथा धाराएँ

**संघ की राजभाषा :** 343

(1) संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी।

संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतराष्ट्रीय रूप होगा।

(2) खंड (1) से किसी बात के होते हुए भी इस संविधान के प्रारंभ से पंद्रह वर्ष की कालावधि के लिए संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी, जिनके लिए ऐसे प्रारंभ के ठीक पहले यह प्रयोग की जाती थी।

परंतु राष्ट्रपति उक्त कालावधि में आदेश द्वारा संघ के राजकीय प्रयोग में से किसी के लिए अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ हिंदी भाषा का तथा भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के साथ-साथ देवनागरी रूप का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेगा।

(3) इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी संसद उक्त पंद्रह साल की कालावधि के पश्चात् विधि द्वारा—

(क) अँग्रेजी भाषा का अथवा

(ख) अंकों के देवनागरी रूप का

ऐसे प्रयोजनों के लिए प्रयोग उपबंधित कर सकेगी जैसे कि ऐसी विधि में उल्लिखित हो।

**राजभाषा के लिए संसद का आयोग और समिति :** 344

(1) राष्ट्रपति इस संविधान के प्रारंभ में पाँच वर्ष की समाप्ति पर तथा तत्पश्चात ऐसे प्रारंभ से दस वर्ष की समाप्ति पर आदेश द्वारा एक आयोग गठित करेगा, जो एक सभापति और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित भिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा, जैसे कि

राष्ट्रपति नियुक्त करे, तथा आयोग द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया का आदेश पारिभाषित करेगा।

(2) राष्ट्रपति को—

(क) संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए हिंदी भाषा के लिए उत्तरोत्तर अधिक प्रभाव के,

(ख) संघ के राजकीय प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर निर्बंधनों के,

(ग) अनुच्छेद 348 में वर्णित प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा के,

(घ) संघ के किसी एक या अधिक उल्लिखित प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने वाले अंकों के रूप के,

(ङ) संघ की राजभाषा तथा संघ और किसी राज्य के बीच अथवा एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच संचार की भाषा तथा उसके प्रयोग के बारे में राष्ट्रपति द्वारा आयोग से पृच्छा किए हुए किसी अन्य विषय के बारे में सिफारिश करने का आयोग का कर्तव्य होगा।

(3) खंड (2) के अधीन अपनी सिफारिशें करने में आयोग भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का तथा लोकसेवाओं के बारे में अहिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों के लोगों के न्यायपूर्ण दावों और हिंदी का सम्यक ध्यान रखेगा।

(4) तीस सदस्यों की एक समिति गठित की जाएगी, जिनमें से बीस लोकसभा के सदस्य होंगे तथा दस राज्यसभा के सदस्य होंगे, जो कि क्रमशः लोकसभा के सदस्यों तथा राज्यसभा के सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धति के अनुसार एक एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे।

(5) खंड (1) के अधीन गठित आयोग की सिफारिशों की परीक्षा करना तथा उन पर अपनी राय का प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करना समिति का कर्तव्य होगा।

(6) अनुच्छेद 343 में किसी बात के होते हुए भी राष्ट्रपति खंड (5) में निर्दिष्ट प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात् उस सारे प्रतिवेदन के या उसके किसी भाग के अनुसार निर्देश निकाल सकेगा।

**राज्य की राजभाषा या राजभाषाएँ** : 345

अनुच्छेद 346 और 347 के उपबंधों के अधीन रहते हुए राज्य का विधानमंडल विधि द्वारा उस राज्य के राजकीय प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए प्रयोग के अर्थ उस राज्य में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अनेक को या हिंदी को अंगीकार कर सकेगा :

परंतु जब तक राज्य का विधानमंडल विधि द्वारा इससे अन्यथा उपबंध न करे तब तक राज्य के भीतर उन राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी, जिनके लिए इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले वह प्रयोग की जाती थी।

**एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच में अथवा राज्य और संघ के बीच में संचार के लिए राजभाषा** : 346

संघ में राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने के लिए के तत्समय प्राधिकृत भाषा, एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच में तथा किसी राज्य और संघ के बीच में संचार के लिए राजभाषा होगी, परंतु यदि दो या अधिक राज्य करार करते हैं कि ऐसे राज्यों के बीच में संचार के लिए राजभाषा हिंदी भाषा होगी तो ऐसे संचार के लिए वह भाषा प्रयोग की जा सकेगी।

346 तद्‌विषयक माँग की जाने पर यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि किसी राज्य के जनसमुदाय का पर्याप्त अनुपात चाहता है कि उसके द्वारा बोली जाने वाली कोई भाषा राज्य द्वारा अभिज्ञात की जाए तो वह निर्देश दे सकेगा कि ऐसी भाषा को उस राज्य में सर्वत्र अथवा उसके किसी भाग में ऐसे प्रयोजन के लिए जैसा कि वह उल्लिखित करे, राजकीय अभिज्ञा दी जाए।

**उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में तथा अधिनियमों विधेयकों आदि में प्रयोग की जाने वाली भाषा :**

348 (1) इस भाग के पूर्ववर्ती उपबंधों में किसी बात के होते हुए भी जब तक संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न करे, तब तक—

(क) उच्चतम न्यायालय में तथा प्रत्येक उच्च न्यायालय में सब कार्यवाहियाँ,

(ख) जो—

(1) विधेयक अथवा उन पर प्रस्तावित किए जाने वाले जो संशोधन संसद के प्रत्येक सदन में पुनः स्थापित किए जाएँ, उन सबके प्राधिकृत पाठ,

(2) अधिनियम संसद द्वारा या राज्य के विधानमंडल द्वारा पारित किए जाएँ, तथा जो अध्यादेश राष्ट्रपति या राज्यपाल या राजप्रमुख द्वारा प्रख्यापित किए जाएँ, उन सबके प्राधिकृत पाठ, तथा

(3) आदेश, नियम, विनियम और उपविधि इस संविधान के अधीन अथवा संसद या राज्यों के विधानमंडल द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन, निकाले जाएँ, उन सबके प्राधिकृत पाठ, अँग्रेजी भाषा में होंगे ।

(2) खंड (1) के उपखंड (क) में किसी बात के होते हुए भी किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से हिंदी भाषा का या उस राज्य में राजकीय प्रयोजन के लिए प्रयोग होने वाली किसी अन्य भाषा का प्रयोग उस राज्य में मुख्य स्थान रखने वाले उच्च न्यायालय में की कार्यवाहियों के लिए प्राधिकृत कर सकेगा, परंतु इस खंड की कोई बात वैसे उच्च न्यायालय द्वारा किए गए निर्णय, आज्ञप्ति अथवा आदेश को लागू न होगी ।

(3) खंड (1) के उपखंड (ख) में किसी बात के होते हुए भी जहाँ किसी राज्य के विधानमंडल में पुनःस्थापित विधेयकों या उसके द्वारा पारित अधिनियमों में अथवा उस राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख द्वारा प्रख्यापित अध्यादेशों में अथवा उस उपखंड की कंडिका,

(4) में निर्दिष्ट किसी आदेश, नियम, विनियम या उपविधि में प्रयोग के लिए अंग्रेजी भाषा से अन्य किसी भाषा के प्रयोग को विहित किया है, वहाँ उस राज्य के राजकीय सूचना-पत्र में उस राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख के प्राधिकार से प्रकाशित अंग्रेजी भाषा

में उसका अनुवाद उस खंड के अभिप्रायों के लिए उसका अंग्रेजी भाषा में प्राधिकृत पाठ समझा जाएगा।

**भाषा संबंधी कुछ विधियों के अधिनियम करने के लिए विशेष प्रक्रिया :**

349 इस संविधान के प्रारंभ से 15 वर्षों की कालावधि तक अनुच्छेद 349 इस खंड (1) में वर्णित प्रयोजनों में से किसी के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा के लिए उपबंध करने वाला कोई विधेयक या संशोधन संसद के किसी सदन में राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी के बिना न तो पुरःस्थापित और न प्रस्तावित किया जाएगा तथा ऐसे किसी विधेयक के पुरःस्थापित अथवा ऐसे किसी संशोधन के प्रस्तावित किए जाने की मंजूरी अनुच्छेद 344 के खंड (1) के अधीन गठित आयोग की सिफारिशों पर तथा उस अनुच्छेद के खंड (4) के अधीन गठित समिति के प्रतिवेदन कर विचार करने के पश्चात् ही राष्ट्रपति देगा।

350 किसी व्यथा के निवारण के लिए संघ या राज्य के किसी पदाधिकारी या प्राधिकारी को यथास्थिति संघ में या राज्य में प्रयोग होने वाली किसी भाषा में अभिवेदन देने का प्रत्येक व्यक्ति को हक होगा।

**हिंदी भाषा के विकास के लिए निर्देश :**

351 हिंदी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करते हुए जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।

---

**संदर्भ ग्रंथ**


देवेन्द्रनाथ शर्मा 1965 राष्ट्रभाषा हिंदी : समस्याएँ और समाधान, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

लक्ष्मीनारायण सुधांसु 1965 संपर्क हिंदी, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

रामानन्द अग्रवाल 1971 हमारा राष्ट्रीय आंदोलन तथा संवैधानिक विकास, दिल्ली, मैट्रापालिटन बुक कंपनी ।

शिवराज वर्मा 1970 हिंदी का राष्ट्रभाषा के रूप में विकास, दिल्ली, आत्माराम एंड संस

क्षेमचन्द्र सुमन 1970 हिंदी साहित्य को आर्यसमाज की देन, मधुर प्रकाशन

The Constitution of India 1972 Government of India New Delhi, Publication.

Gandhi, M. K. 1958 Thoughts on National Language, New Delhi, Nava Jivan Publishing House.

Reddy, G. Sundara 1973 The Language Problem in India, Delhi, National Publishing House.

# प्रयुक्ति की संकल्पना और कार्यालय हिंदी

—ठाकुरदास

भाषा विश्लेषण में वस्तुतः दो ऐसी दृष्टियाँ काम कर रही हैं, जो एक-दूसरे के विरोध में अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करती हैं। एक दृष्टि शुद्ध भाषा-विज्ञानियों की है जो यह मानते हैं कि भाषा मूलतः समरूप होती है और इसी लिए भाषा का सार्वभौमिक व्याकरण लिखना संभव है। भाषा विश्लेषण के इस आधार पर विभिन्न सार्वभौमिक कोटियों की संकल्पना इसी दृष्टि वाले भाषा-विज्ञानियों की देन है। ये भाषा विज्ञानी भाषा को मानव मन के संदर्भ में पारिभाषित करते हैं और यह मानते हैं कि मानव मन कुछ ऐसे अभिलक्षणों का समूह होता है जो सभी देशों एवं कालों में समरूप होते हैं। इन भाषा विज्ञानियों के अनुसार भाषा के भीतर पाई जाने वाली विभिन्नताएँ गौण उप-लक्षणों के रूप में स्वीकृत होनी चाहिए।

इसके विपरीत दूसरी दृष्टि भाषा को उसके प्रयोक्त—सामाजिक मानव के संदर्भ में परिभाषित करती है। यह कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि मनुष्य समाज में रहने के लिए विवश होता है—उसकी सत्ता सामाजिक संदर्भो के बिना अधूरी है। ऐसे भाषा विज्ञानी भाषा को आंतरिक मन तथा बाह्य संदर्भो के द्वंद्व के परिणामस्वरूप आविर्भूत प्रतीक-व्यवस्था मानते हैं। भाषा के सामाजिक संदर्भ समरूप नहीं होते। इसीलिए भाषा भी अपने प्रकृत रूप में 'विषमरूप' होने के लिए वाध्य होती है। भाषा विश्लेषण की इस दृष्टि के अनुसार भाषा-भेद किसी भाषा का स्खलित रूप न होकर, जैसा कि शुद्ध भाषा विज्ञानी मानते हैं, वास्तव में प्रकृत रूप ही होते हैं।

भाषा विज्ञान की इधर तेजी से विकसित हो रही महत्वपूर्ण शाखा—सांस्थानिक (Instituiional) भाषाविज्ञान के अंतर्गत प्रयोग एवं प्रयोक्ता के संदर्भ में भाषा-प्रयोग की विभिन्न स्थितियों का विश्लेषण करते हैं। हम पाते हैं कि विभिन्न स्थितियों, संदर्भो तथा प्रयोक्ताओं में अंतर होने के कारण प्रयुक्त भाषा में भी भेद मिलते हैं। सांस्थानिक भाषा विज्ञान में अध्ययन का

आधार तो वही 'भाषा' है जिसका अध्ययन शुद्ध भाषा विज्ञानी भी करते हैं, लेकिन यहाँ अध्ययन की दृष्टि में अंतर पाया जाता है। यहाँ अध्ययन का केंद्र भाषा के प्रयोक्ता तथा उसका विभिन्न स्थितियों/संदर्भों में/भाषा प्रयोग होता है।

भाषा-भेदों की संकल्पना को उचित संदर्भ देने और उन्हें विभिन्न शैलियों में पारिभाषित करने के लिए कई संकल्पनाएँ सामने आई हैं। इन्हीं में से एक संकल्पना 'प्रयुक्ति' (रजिस्टर) की भी है। इसे विभिन्न भाषा-विज्ञानियों ने इस प्रकार पारिभाषित किया है—

'रीड' के अनुसार—कोई भी व्यक्ति भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से समरूप स्थितियों में समरूप व्यवहार नहीं करता—विभिन्न सामाजिक स्थिति में उसका व्यवहार (भाषिक) बदलता जाता है : वास्तव में वह विभिन्न भाषा प्रयुक्तियों का प्रयोग करता है।[1]

हैलिडे, मैकिनतोश तथा स्ट्रीवंज—लोग भाषा का प्रयोग किस प्रकार करते हैं, इसे समझने के लिए 'प्रयुक्ति' की कोटि की आवश्यकता पड़ती है विभिन्न प्रयोगगत संदर्भों में भाषा-व्यवहार में भेद पाए जाते हैं। किन्हीं संदर्भों में प्रयोग में लाए जाने वाले भाषारूप भी अलग-अलग होते हैं। इन्हीं प्रयोगगत भाषा रूपों को प्रयुक्ति (रजिस्टर) कहा जाता है।[2]

---

1. For the linguistic behaviour of a given individual is by no means uniform : placed in what appear to be linguistically identical conditions, he will on different occasions speak (write)differently according to what roughly be described as different social situations ; he will use a number of distinct registers. (1952, 32)

2. Language varies as its function varies; it differs in different situations—the name given to a variety of language distinguished according to use is 'Register'.
   The category of 'register' is needed when we want to account for what people do with their language when we observe language activity in the various contexts in which it takes place, we find differences in the type of language selected as appropriate different types of situation.
   (1964 : 87)

प्रयुक्ति की संकल्पना के साथ सामाजिक भूमिका की संकल्पना भी जुड़ी हुई है। एक व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में विभिन्न सामाजिक भूमिकाएँ निभाता है। कैटफोर्ड[1] 'प्रयुक्ति' को प्रयोक्ता की सामाजिक भूमिका के संदर्भ में देखते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग समय पर अलग-अलग भूमिकाएँ निभाता है। वह परिवार का मुखिया या मोटर चालक, क्रिकेट का खिलाड़ी या किसी धार्मिक समुदाय का सदस्य या जीव चिकित्सा का प्रोफेसर आदि हो सकता है। इन भूमिकाओं के निर्वाह में वह विभिन्न भाषा रूपों का प्रयोग करता है।

एक व्यक्ति व्यवसाय से व्यापारी है। उसका संबंध अपने व्यवसाय के अन्य व्यापारियों, सामान्य जनता, अपने अधीन काम करने वाले कर्मचारियों से होता है। घर में उसका संबंध परिवार के विभिन्न सदस्यों के साथ होता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि एक ही व्यक्ति विभिन्न सामाजिक भूमिकाएँ निभाता है। जब इन विभिन्न संदर्भों में भाषा का व्यवहार किया जाएगा तो भाषा का रूप प्रत्येक स्थिति, संदर्भ, भूमिका में अलग-अलग तो होगा ही।

यदि प्रयुक्ति (रजिस्टर) शब्द के प्रयोग के इतिहास पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि यह संकल्पना ब्रिटिश स्कूल के 'फर्थ' के अनुयायी भाषा-विज्ञानियों की देन है। इनमें रीड, हैलिडे, मैकिनतोश, स्ट्रीनज, कैंटफर्ड आदि प्रमुख हैं। अमरीकी भाषा विज्ञानियों में भी इस संकल्पना के प्रयोग के उदाहरण मिल जाते हैं। बर्नस्टीन ने भाषा-भेदों को सीमित कोड (Restricted code) तथा विस्तृत कोड (Elaborated code) की संज्ञा दी। बर्नस्टीन के सीमित कोड को प्रयुक्ति (रजिस्टर) का पर्याय भी माना जाता रहा है। फर्गुसन तथा गंपर्ज (1960) रजिस्टर को स्थिति एवं भूमिकागत 'भाषा-परिवर्तन' के रूप मानते हैं।

इसी संकल्पना के आधार पर मार्टिन जज (1959) भी अंग्रेजी में रूढ़िबद्ध औपचारिक (Frozen formal) विमर्शपरक (Consultative)

---

1. By 'Register' we mean a variety corelated with the performers social role on a given occasion." Every normal adult plays a series of different social roles. One man, for example, may function at different times as head of a family, motorist, cricketeer, or member of a religious grnup, Professor of Bio-Chemistry and so on and within his idiolect he has varieties (shared by other persons and their idiolects) appropriate to these roles. (1965 : 89)

अनौपचारिक (Casual) अंतरंग (Intimate) शैलियों की चर्चा करते हैं।

प्रयुक्ति की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर विभिन्न विषयों अथवा क्षेत्रों में प्रयुक्त भाषा एक विशिष्ट प्रकार की प्रयुक्ति कहलाएगी। उदाहरण के लिए—पत्रकारिता, राजनैतिक भाषण, कार्यालयी कामकाज, कक्षागत अध्यापन आदि की भाषा का रूप अलग-अलग होगा। इन्हें विभिन्न प्रयुक्तियों के रूप में माना जा सकता है।

भाषा के संदर्भगत एवं भूमिकागत विभिन्न प्रयोगों के विश्लेषण के आधार पर विभिन्न प्रयुक्तियों का विभेदीकरण तथा विशेषीकरण किया जा सकता है। इसके लिए विपुल सामग्री (Data) की आवश्यकता होगी।

प्रयुक्ति का मुख्य आधार प्रयुक्ति-विशेष की तकनीकी तथा वैज्ञानिक शब्दावली उसका व्याकरण होता है। इसके साथ ही प्रयुक्ति की भाषागत संरचना और शाब्दिक अन्विति (Lexical Collocation) भी महत्वपूर्ण है। कई बार विभिन्न प्रयुक्तियों की भाषागत संरचना और प्रयुक्त तकनीकी शब्बावली समान हो सकती है। ऐसी स्थिति में विभिन्न प्रयोगगत भाषाओं को एक ही प्रयुक्ति के अंतर्गत रखा जा सकता है।

प्रयुक्तियों को निम्नलिखित तीन आयामों पर वर्गीकृत करने की वात हैलिडे ने कही है :

(1) वार्ताक्षेत्र (Field of discourse)
(2) वार्ता-प्रकार (Mode of discourse)
(3) वार्ता-शैली (Style of discourse)

(1) वार्ताक्षेत्र के आयाम पर भाषा-रूपों में विषय के तकनीकी या गैर तकनीको होने के कारण जो प्रयोगगत भेद परिलक्षित होते हैं, इन्हीं के आधार पर प्रयुक्ति को 'तकनीकी' तथा 'गैर तकनीकी' रूप में विभाजित किया जा सकता है। ऐसे विषयों की भाषा, जिसमें विषय के सिद्धांत की आवश्यकता के अनुरूप तकनीकी शब्दावली का प्रयोग होता है, तकनीकी प्रयुक्ति के अंतर्गत आएगी। यहाँ 'तकनीकी' का व्यापक अर्थ में प्रयोग करने की अपेक्षा की जा रही है।

1. "Linguistic variation which regularly co-exist on the speech of individuals with their use reflecting some kinds of situational or role difference. (1950 : 11)

सीमित विस्तृत कोड, भाषापरिवर्तन एवं शैली की विस्तारपूर्वक चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इसकी विस्तृत चर्चा इसी पुस्तक में अन्यत्र डा० (कु०) पुष्पा श्रीवास्तव तथा डा० कृष्णकुमार गोस्वामी के लेखों में की गई है।

(2) वार्ता-प्रकार के अंतर्गत भाषा को 'मौखिक' तथा 'लिखित' प्रयुक्तियों में बाँटा जाता है। लिखित रूप को पुनः विषय या स्थिति विशेष के आधार पर विभाजित किया जा सकता है। यहाँ पत्रकारिता की भाषा 'लिखित' भाषारूप के अंतर्गत आएगी। रेडियो के समाचारों की भाषा 'मौखिक' होते हुए भी लिखित रूप का पठित रूप है।

(3) वार्ता-शैली के अनुसार भाषा-व्यवहार में संलग्न व्यक्तियों के संबंधों के आधार पर 'औपचारिक' तथा 'अनौपचारिक' भाषा-रूप निश्चित किए जा सकते हैं। इस आधार पर किन्हीं भाषाओं—जैसे जापानी भाषा में लिंग भेद के आधार पर अलग-अलग प्रयुक्तियों की बात भी कही गई है।

उपर्युक्त तीनों आयामों के सम्मिलित आधार पर किसी प्रयुक्ति की विशिष्टता निश्चित की जा सकती है। निम्नलिखित तालिका में कुछ प्रयुक्तियों का तीनों आयामों के आधार पर विशेषीकरण दिखाया गया है :

| | तकनीकी | लिखित | औपचारिक |
|---|---|---|---|
| पत्रकारिता | ± | + | + |
| (1) कहानी | — | + | + |
| (2) निबंध | ± | + | + |
| रेडियो की भाषा | | | |
| (1) समाचार | ± | + | + |
| (2) साक्षात्कार | ± | — | — |
| अदालती भाषा | + | + | + |
| कक्षा-अध्यापन | ± | — | + |
| कक्षा के बाहर | ± | — | — |

इस प्रकार यदि कार्यालय-हिंदी प्रयुक्ति का विश्लेषण किया जाए तो यह होगी :

{ + तकनीकी<br>+ लिखित<br>+ औपचारिक }

विषय के दूसरे भाग पर विचार करने से पूर्व हिंदी भाषा की राजभाषायी स्थिति एवं कार्यालय हिंदी से तात्पर्य-बोध के संबंध में ऐतिहासिक विवेचन करना असंगत न होगा।

हिंदी को राष्ट्रभाषा तथा संपर्कभाषा का दर्जा तो स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले ही मिल गया था। इसे राजभाषा का स्थान संविधान के अनुच्छेद 343 के उपबंधों के आधार पर सन् 1950 में मिला। (इससे पहले सरकारी कामकाज की भाषा अंग्रेजी तथा अरबी-फ़ारसी शैली की उर्दू रही थी) हिंदी के राजभाषा का वास्तविक स्थान प्राप्त करने के लिए विशेष तैयारी की आवश्यकता की बात सोची गई और इसके लिए आरंभ में पंद्रह वर्ष की अवधि निश्चित की गई। हिंदी के राजभाषा के रूप के विकास के लिए संविधान के अनुच्छेद 351 के अंतर्गत हिंदी के प्रसार एवं विकास का कार्यभार संघ को सौंपा गया। इस दिशा में विभिन्न स्तरों पर कार्य किए गए जिनमें तकनीकी तथा वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण तथा अहिंदी भाषी सरकारी अधिकारियों एवं कर्मचारियों को हिंदी का कार्यसाधक ज्ञान दिलाने के संबंध में हिंदी शिक्षण की योजना प्रमुख है।

उत्तर प्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार तथा केंद्र-शासित प्रदेश दिल्ली की राजभाषा हिंदी घोषित की गई। इनके अलावा पंजाब, महाराष्ट्र तथा गुजरात ने हिंदी प्रदेशों तथा संघ के साथ किए जाने वाले पत्राचार के लिए हिंदी को स्वीकार किया। साथ ही अंग्रेजी को सह-राजभाषा का दर्जा दिया गया। इस प्रकार सरकारी कामकाज हिंदी तथा अंग्रेजी में करना निश्चित किया गया। इस स्थिति से द्विभाषिकता की स्थिति का जन्म हुआ। वर्तमान स्थिति में केंद्रीय सरकार के कर्मचारी अपनी इच्छानुसार, अंग्रेजी अथवा हिंदी किसी भी भाषा में अपना सरकारी कामकाज कर सकते हैं।

द्विभाषिकता की स्थिति में सरकारी कामकाज में हिंदी का प्रयोग किसी न किसी रूप में होना आरंभ हुआ। इसके लिए 'अनुवाद' का सहारा लिया गया। वास्तव में अधिकांश हिंदी-प्रयोग अनुवाद के रूप में ही हुआ है। हिंदी का जो रूप आज देखने को मिलता है वह अनुवाद के माध्यम से ही रूढ़ हो पाया है।

सरकारी कामकाज की भाषा तथा बोलचाल की भाषा में हमेशा से ही अंतर चला आया है। हिंदुस्तान में सैकड़ों वर्षों तक मुसलमानी राज्य रहा।

उस समय राजकाज की भाषा अरबी-फारसी शैली प्रधान उर्दू थी। सामान्य बोलचाल की भाषा भी उर्दू शब्दों के प्रभाव से न बच सकी। अँग्रेजों के शासन काल में राजकाज की दो भाषाएँ रहीं—उच्च स्तर पर अँग्रेजी तथा निचले स्तर पर उर्दू। उर्दू के सैकड़ों वर्षों के प्रयोग से उर्दू भाषा के काफी शब्द किसी न किसी रूप में पहचाने जाने लगे थे। हिंदी में शब्द-निर्माण की आवश्यकता महसूस की गई तो इस काम के लिए संश्लिष्ट प्रकृति वाली भाषा—संस्कृत को आधार बनाया गया। संस्कृत को इस काम के लिए चुनने के कारणों में उसका समस्त आर्य भाषाओं का आधार तथा उपसर्गों एवं प्रत्ययों के सहारे एक ही धातु से शब्द निर्माण की अद्वितीय क्षमता का होना था।

संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी तथा उर्दू के बहुचर्चित शब्दों—डाक, फाइल, ग्रेड, मसौदा, दस्तावेज, कागज-पत्र आदि को भी रख लिया गया। शब्द-निर्माण में हिंदी की प्रकृति के अनुसार प्रत्यय जोड़ने पर जोर दिया गया। उदाहरण के लिए—'कानून' से कानूनन तो अरबी,फारसी की शब्द निर्माण-प्रक्रिया से होगा और 'कानून' से 'कानूनी' हिंदी की प्रवृत्ति के अनुसार। इस प्रकार राजभाषा में उर्दू तथा संस्कृत की मिली-जुली शब्दावली का संभवतः पहली बार प्रचलन हुआ। 'अपेक्षित कागज पत्र,' 'आवश्यक मसौदा; 'मंजूरी सूचित करना', मिसिल प्रस्तुत करना; हस्ताक्षर के लिए 'फाइल पेश करना' आदि अनेक रूप भाषायी सहनशीलता तथा सम्मिश्र शैली के रूप में विकसित हुए हैं। संविधान में 'सामासिक संस्कृति' के प्रतीक के रूप में जिस भाषा की बात कही गई है, वह वर्तमान राजभाषा के रूप में काफी हद तक विकसित हो रही है।

प्रयुक्ति के आवश्यक तत्वों के रूप में हमने तकनीकी कथा वैज्ञानिक शब्दावली, विशिष्ट शाब्दिक अन्विति तथा भाषा-संरचना की बात कही है। इनके आधार पर यदि 'कार्यालय हिंदी' की प्रकृति की जाँच करें तो हम पाते हैं कि कार्यालय हिंदी का एक विशिष्ट रूप विकसित हो गया है। इसमें प्रयुक्त मसौदा, आवती, टिप्पणी, कागज-पत्र, तत्काल, स्पष्टीकरण, कार्य-सूची, बेबाकी पत्र, अर्जित छुट्टी, वेतन आदि सैकड़ों तकनीकी शब्द केवल इसी प्रयुक्ति में रूढ़ हो गए हैं। इस प्रयुक्ति के बाहर इन शब्दों का प्रयोग अटपटा ही प्रतीत होता है। यदि कोई व्यक्ति घर में या मित्रों के बीच में 'भोजन प्रस्तुत कीजिए' या 'घरेलू बजट के बारे में टिप्पणी लिखकर स्वीकृति माँगिए' आदि का प्रयोग करे तो उस व्यक्ति को 'क्लर्क मनोवृत्ति का' या 'सनकी' कहा जाएगा।

हिंदी के इस भाषा रूप में हमें विशिष्ट शाब्दिक अन्विति के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। लिखित हिंदी में अक्सर एक ही वाक्य में संस्कृत और उर्दू अथवा संस्कृत और अंग्रेजी शब्दों का साथ-साथ प्रयोग अटपटा लगता है, लेकिन यहाँ ऐसे प्रयोग अस्वाभाविक नहीं लगते। उदाहरण के तौर पर निम्नलिखित वाक्यों को लीजिए :

(1) आवश्यक मसौदा संलग्न फाइल की पताका 'क' पर रखा है।
(2) मसौदा अनुमोदन के लिए पेश है।
(3) एवज़ी मिलने पर छुट्टी दी जा सकती है।
(4) इन दस्तावेजों की प्रमाणीकृत प्रतियाँ मंत्री महोदय की जानकारी के लिए प्रस्तुत की जाएँ।

उपर्युक्त वाक्यों में 'आवश्यक मसौदा', 'संलग्न फाइल', 'मसौदा अनुमोदन के लिए पेश करना', 'एवजी', 'दस्तावेजों की प्रमाणीकृत प्रतियाँ', 'मंत्री महोदय की जानकारी के लिए प्रस्तुत' आदि अनेकों रूपों से इस प्रयुक्ति की शाब्दिक अन्विति की झलक मिल जाती है।

अंग्रेजी भाषा के कार्यालयी रूप में हमें कर्मवाच्य, व्यक्तिनिरपेक्ष कथनीयता, कर्तव्यहीनता वाली रचनाओं की प्रधानता मिलती है। ऐसी संरचनाओं का होना शायद इसलिए भी आवश्यक है कि इस भाषा-रूप में व्यक्ति की अपेक्षा 'परनाम' प्रमुख होता है। यहाँ 'कर्ता' अपने ऊपर उत्तर-दायित्व (onus) नहीं लेना चाहता। सभी कार्य आदेश, अनुमोदन, सहमति, स्वीकृति, अनुदेश के आधार पर किए जाते हैं। सभी अधिकारी अपने-अपने अधिकारों के क्षेत्र में ही काम करते हैं। कार्यालयी भाषा की इसी प्रकृति को कार्यालयी हिंदी ने भी अपनी संरचना में सुरक्षित रखा है।

व्यक्ति-सापेक्ष वाक्य संभव तो हैं, लेकिन व्यक्ति-निरपेक्ष वाक्यों की तुलना में ऐसे वाक्यों के बहुत कम प्रयोग मिलते हैं। व्यक्तिसापेक्ष वाक्य के उदाहरण के रूप में—'मैं अनुभाग की टिप्पणी से सहमत हूँ' लिया जा सकता है।

'व्यक्ति-निरपेक्षता के साथ-साथ इसमें कर्मवाच्य की प्रधानता भी पाई जाती है। सामान्य हिंदी में 'कर्तृवाच्य' से कर्मवाच्य में बदलने के दो रूप हैं—(1) सकर्मक क्रिया को अकर्मक क्रिया में बदलकर, और (2) कर्म को करण के स्थान पर रखकर तथा 'जा' संयुक्त क्रिया जोड़कर।

कार्यालयी हिंदी में दूसरे रूप का वाच्य-परिवर्तन में अधिक प्रयोग किया जाता है। आदेशपरक वाक्यों के दो रूप हैं। पहले रूप के अंतर्गत निम्न-लिखित वाक्य आएँगे :

(5) मिसिल पर प्रस्तुत करें।

(6) चर्चा के अनुसार कार्रवाई करें।

(7) मंत्रालय का अनुमोदन प्राप्त करें।

इन वाक्यों में उक्त कर्म को करने वाला 'कर्ता' वाक्य की संरचना में ही निहित है। इसी कार्य के लिए व्यक्ति-निरपेक्ष एवं कर्मवाच्य-प्रधान वाक्यों का प्रयोग अधिक मिलता है। जैसे—

(8) मिसिल पर प्रस्तुत किया जाए।

(9) चर्चा के अनुसार कार्रवाई की जाए।

(10) मंत्रालय का अनुमोदन प्राप्त किया जाए।

इसी प्रकार के अंतर्गत निम्नलिखित वाक्य-प्रकार भी आ जाएँगे :

(11) मिसिल के लौटाने पर आवश्यक कार्रवाई की जाएगी।

(12) इस संबंध में निर्णय लेने पर सूचित किया जाएगा।

(13) इस मामले में विशेष स्वीकृति दी जा सकती है।

(14) सचिव द्वारा आदेश जारी किए जा चुके हैं।

(15) इस बारे में अपेक्षित कार्रवाई की जा रही है।

(16) मुख्यालय छोड़ने की अनुमति दी जाती है।

करण-रूपेण कर्ता के लोप के भी कई उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे कि—

(17) सूचित किया जाता है कि…………

(18) ऐसा पाया जाता है कि……………

(19) शिकायत मिली है कि………

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध करने की कोशिश की जा रही है कि कार्यालय हिंदी की "वाक्य-संरचना" सामान्य हिंदी की वाक्य-संरचना के भीतर रहकर भी चयन के सिद्धांत के आधार पर विशिष्ट है। अंतर केवल इतना है कि कार्यालय हिंदी में उपर्युक्त प्रकार के वाक्य-साँचों की प्रधानता है जोकि इस प्रयुक्ति की प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कार्यालय हिंदी का जो रूप आज हमारे सामने है वह अपने विकास के प्रथम चरण में अनुवाद के माध्यम से ही आया

है। आज भी ऐसे अनेक वाक्य मिल जाते हैं जो कि प्रयोग की दृष्टि से काफी अटपटे, बोझिल और कृत्रिम लगते हैं। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित वाक्यों को लीजिए—

(20) कृपया संगत कागज-पत्रों के साथ चर्चा करें।

(21) पत्र मिलने की पावती भेज दी गई है।

(22) पिछले पृष्ठ की टिप्पणी के संदर्भ में।

ये वाक्य निम्नलिखित अंग्रेजी वाक्यों के हिंदी अनुवाद हैं :

(1) Please discuss with relevant papers.

(2) The receipt of the letter has been acknowledged.

(3) Reference notes on prepage.

पहले वाक्य के अनुवाद में अंग्रेजी और हिंदी भाषा की प्रकृति को समझे बिना मात्र अनुवाद कर दिया गया है। अंग्रेजी भाषा में क्रिया में 'आदर' 'नम्रता' आदि निहित नहीं होती। इसके लिए अलग से विशेषण लगाने की आवश्यता पड़ती है, जबकि हिंदी में क्रिया के सर्वनामों के अनुसार बदलने वाले रूप में (सर्वनामगत क्रिया-रूपों में) नम्रता, आदर आदि निहित होते हैं। इस प्रकार Please, Kindly आदि शब्दों का अनुवाद हिंदी की प्रकृति के अनुसार प्रतीत नहीं होता। अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ तथा अनुरोधपरक वाक्य 'मेरा काम कराने की कृपा कीजिए' में ही इसका प्रयोग स्वाभाविक होगा। इस प्रकार पहले वाक्य का हिंदी रूप 'संगत (अथवा संबंधित) कागजपत्रों के साथ चर्चा करें,' ही उपयुक्त एवं सही है।

दूसरे वाक्य के अनुवाद से शब्दानुवाद की झलक मिलती है। 'पावती भेजना' में 'मिलना' क्रिया निहित है। पत्र मिलने पर ही 'पावती भेजने' की आवश्यकता होगी। यहाँ अनुवादक प्रयोगगत स्थिति को समझे बिना मात्र अनुवाद ही प्रस्तुत कर रहा है। इसका सही अनुवाद 'पत्र की पावती भेज दी गई है' करना ही ठीक होगा।

इसी प्रकार तीसरे वाक्य के अनुवाद में 'संदर्भ' अंग्रेजी शब्द Reference के लिए ही रखा गया होता है जबकि 'पिछले पृष्ठ की टिप्पणी से' संदर्भ का बोध हो ही जाता है।

यह नहीं, निविदाओं, नियुक्तियों आदि के लिए विज्ञापनों की भाषा का रूप तो कभी-कभी अत्यधिक कृत्रिम और अटपटा होता है। भाषा तकनीकी

शब्दावली से तो कुछ बोझिल हो सकती है, लेकिन बार-बार प्रयोग में आने से बोझिल तकनीकी शब्द भी आत्मसात हो जाते हैं। भाषा अटपटी और बोझिल बनती है—वाक्य-विन्यास की दुरूहता से। निविदाओं, नियुक्तियों आदि के विज्ञापनों की बोझिल भाषा अनुवादक के लिए भले ही व्यवस्थित एवं सहज लगे, लेकिन जिसके लिए वह विज्ञापन निकाला जा रहा है उसकी समझ से तो वह परे ही होती है। ऐसी भाषा में निकाले गए चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के लिए परिपत्र एवं सूचनाएँ भी इसी कोटि में रखी जाएँगी। यदि वाक्य छोटे-छोटे हों, सहज हों तो उनमें तकनीकी शब्दों का बोझ कुछ कम खलेगा।

कार्यालय हिंदी का स्वरूप अनुवाद प्रधान होते हुए भी, व्यवहार से निखरकर अपनी सही प्रकृति का उद्‌घाटन कर रहा है। यह और भी निखरेगा जब इसे और अधिक प्रयोग के अवसर, क्षेत्र एवं संदर्भ मिलेंगे।

**संदर्भ-ग्रंथ :**


Catford, J. C. 1965 : *A Linguistic Theory of Translation*, O. U. P.

Ferguson & Gumperz 1960 (July) ; 'Linguistic' *Diversity in South* Asia, Introduction IJAL 26 : 3 pt. III

Halliday, M. A. K., Angus McIntosh and Peter Stevens 1964 : *The Linguistic Sciences and Language Teaching* Longmans.

Joos, Martin 1959 : The Isolation of Styles (George town, Monograph on Languages & Linguistics No. 12. 1962 *The Five Clocks*, Bloomington.

Reid, T. B. W. 1952 : "Linguistic Structuralism and Phonology", *Archivum Linguisticum* 8. 2.

Turner, G. W. 1973 : *Stylisitics*, Penguin Books.

ठाकुर दास : कार्यालय हिंदी (प्रकाशनाधीन)

| | |
|---|---|
| केन्द्रीय सचिवालय हिंदी परिषद, नई दिल्ली : | कार्यालय सहायिका |
| वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार) 1968 : | समेकित प्रशासन शब्दावली |
| वर्मा शिवराज (शास्त्री) 1970 | सरकारी कार्यविधि, दिल्ली आर्य बुक, डिपो |
| गृह मंत्रालय भारत सरकार : | हिंदी शिक्षण योजना की पुनरीक्षण समिति द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट : 1974 |

## संदर्भ-ग्रंथ सूची


| | | |
|---|---|---|
| Aggarwal, R. | 1971 | *Hamara rashtriya andolana tatha samvaidhanika vikasa.* Delhi ; Metropolitan Book Company. |
| Apte, M. L. | 1962 | 'Linguistic acculturation and its relation to urbanization and socio-economic factor' *Indian Linguistics*, Vol. 23 : 5-25. |
| ——— | 1970 | 'Some sociolinguistic aspects of interlingual communication in India', *Anthropological Linguistics*, 12.3 : 63-82. |
| ——— | 1972 | 'A linguistic analysis of Hindi-Urdu spoken in Bombay', *Pidginization of Lingua Franca*, 31 : 21-44. |
| Bahri, Hardev. | 1972 | *Vyavharika Hindi Vyakarana* Allahabad : Lok Bharati. |
| Bahuguna, L. M | 1975 | 'Hindi ki Sambodhana Shabdavali', *Bhasha* (Vishwa Hindi Sammelan Spl. Vol.) New Delhi : C. H. D. |
| Bendix, E. H. | 1975 | 'Indo-Aryan and Tibeto-Burman Contact', *IJDL* Vol. 3.1 : 42-59. |
| Berlin Brent and Paul Kay | 1969 | *Basic colour terms : their universality and Evaluation.* Berkeley and Los Angeles : California University Press. |
| Bernstein, Basil B. | 1960 | 'Language and social class', *British Journal of Sociology* 11 : 271-276, |
| ——— | 1961 | 'Aspects of language and learning in the genesis of the social process.' *Journal of* |

| | | |
|---|---|---|
| | | *Child Psychology and Psychiatry*, Vol. I. 313-324, Reprinted in Dell Hymes (1964) : 251-260. |
| ——— | 1964 | 'Elaborated and restricted codes : their social origins and some consequencies.' *American Anthropologist*, Vol. 66. No.6. Part 2 : 55-69. |
| ——— | 1972 | 'Social class, language and socialization' *in* Giglioli. (1972). |
| ——— and D. Henderson | 1969 | 'Social class differences in the relevance of language to socialization'. *Sociology* Vol. 3 : 1-28. |
| Bhatnagar, R. P. | 1974 | 'Forms of address in Hindi', Paper read in 5th All India Conference of Linguists, JNU, New Delhi. |
| Bloomfield, L. | 1933 | *Language*. New York : Holt, Rinehart and Winston. |
| Bohannam, P. | 1963 | *Social Anthropology*. New York : Holt, Rinehart and Winston. |
| Bolinger, | 1968 | *Aspects of Language*, Harcourt : Brace and World. |
| Boyce, D. G. | 1971 | *Language and thinking in human development*. London : Hutchinson University Library. |
| Brandis, W. and D. Henderson. | 1970 | *Social class, language and communication* : California, Beverly Hills : Sage Publications. |

Bright, William, (ed). 1966 *Sociolinguistics*. The Hague : Mouton.

Brown, R. and A. Gilman, 1960 'The Pronouns of power and : solidarity,' in *Style in language* (ed) T. A. Sebeok, Mass. Cambridge : M. I. T. Press.

Brown and Yord. 1961. 'Address in American English.' *Journal of Abnormal and Social Psychology*. Vol. 62 : 375-85.

Catford, J. C. 1965 *A linguistic theory of translation*. London : Oxford Univ. Press.

Chatterji, S. K. 1942 *Indo-Aryan and Hindi*. Ahmedabad, Gujarat : Vernacular Society.

——— 1963 *Bharatiya Aryabhasha aur Hindi*, Delhi : Rajkamal Prakashan.

Chatursen (Acharya) 1946 *Hindi Bhasha aur sahitya ka itihas*, Lahore : Meharchand Laxmandas.

Chomsky, N. 1965 *Aspects of the Theory of Syntax*. Camb. Mass. : MIT. Press.

Das Gupta, J. 1970 '*Language canflict and national development*. University of California Press.

Daswani, C. J. 1971 'A note on variation in the use of Second Person Pronouns in Hindi', in *Anuvad*, Vol. 26-27 : 60-63.

Dell, Hymes. 1964 *Language in Culture and Society*. New York : Harper and Row.

Dentsch, K. 1953 *Nationalism and Social Communication*, Mass. Cambridge : M. I. T. Press.

Dikshit J. P. 1974 *Murdaghar*. Delhi : Radha krishna Prakashan.

Dil, Afia 1972 'The Hindu and Muslim dialects of Beangali.' Ph. D, Dissertation, Stanford Univ.

Dil, Anwar. S (ed) 1971 *Language in social group*. California : Stanford University Press.

Dubey, Shyamacharan 1969 *Manav aur sanskriti*, Delhi : Rajkamal Prakashan.

Dyen, Isidore 1956 'Language distribution and migration theory,' *Language*' Vol. 32 : 611-626

Emeneau, M. B. 1948 'Taboos on animal names,' *Language* Vol. 24 : 56-63.

——— 1956 'India as a linguistic area,' *Language*, Vol. 31 : 42-59.

——— 1962 'Bilingualism and structural borrowing,' *Proceedings of the American Philosophical Society*, Vol. 106 : 430-42.

——— 1974 'India as a linguistic area : revisited.' *IJDL* Vol. 3.1 : 92-134.

Erwin-Tripp, G. M. 1969 'Sociolinguistic rules of address,' in *Advances in experimental social psychology*, (*ed*) L-Berkowtz. Vol 4 : 93-107.

Ferguson, Charles. A. 1959 'Diglossia,' *in* Dell Hymes (ed) 1964 : 429-39.

———and Gumperz (ed) 1960 'Linguistic diversity in South Asia, Introduction', *IJAL* Vol. 26 : 3 pt. III. Bloomington.

Fredrich, Paul 1966 'The structural implications of Russian pronominal usage,'

in *Sociolinguistics* (ed) William Bright. The Hague Mouton.

Firth, John R. 1950 'Personality and language in society,' in *Firth : Papers in Linguistics* (1957). London : Oxford University Press.

Fishman, Joshua, A. 1966 *Language loyalty in the United States*. The Hague : Mouton.

——(ed.) 1968 *Readings in the sociology of language*, The Hague : Mouton.

—— 1970 '*Sociolinguistics : A Brief Introduction*,' Newbury House

——(ed.) 1971 *Abvances in the sociology of language*, Vol. I : The Hague. Mouton.

—— 1971 'National language and languages of wider communication in the developing nations,' in *Language use and social change* W. H. Whitney (ed.) 27-56. Oxford University Press.

—— 1972 *The sociology of language*. Rowley, Mass. : Newbury House.

Fortes, M. 1969 *Kinship and the Social order : the legacy of Lewis Henry Morgan*. Aldine Press.

Fox, R. 1967 *Kinship and Marriage*. Penguin books.

Gandhi, M. K, 1956 *Thoughts on National Language*, New Delhi : Navjivan Publishing House.

Garfinkel, H. 1967 *Studies in ethnomethodology*. Prentice Hall.

———and H. Sacks (eds.) *Contributions to ethnomethodology*. Indiana University Press, Forthcoming.

Garvier, P. L. 1959 'The standard Language problems,' in *Language in culture and society* (*ed*) Dell Hymes. Harper and Row.

Giglioli, P. P. 1972 *Language and Social context*. Penguin Books.

Glyn Lewis, E. 1972 *Multilingualism in the Soviet Union*. The Hague : Mouton.

Goody, Jack 1970 'The Analysis of kinship terms,' in *Kinship* (ed) Jack Goody (1971) pp. 299-306.

———(ed) 1971 *Kinship*. Penguin books.

Goswami, K. K. 1975. 'Hindi ki Samajik Shailiyan,' *Bhasha* : (Vishwa Hindi Sammelan Spl. Vol.) New Delhi : CHD.

Ministry of Home Affairs 1974 'Report of the review committee of Hindi teaching scheme,' New Delhi.

Gumperz, J. J. 1960 'Formal and informal standards in Hindi language area,' in *Language in social groups* (ed) Dil. Anwar, California : Stanford University Press.

———— 1962 *Conversational Hindi-Urdu*. University of California.

———— 1964 'Hindi-Punjabi code-switching in Delhi,' in *Proceedings of the IX Int. Congress of Linguistics* (ed) H Lunt. 1115-24, The Hague : Mouton.

——— 1964 'Linguistic and social interaction in two communities,' *in* J. Gumperz and D. Hymes (eds), 1964.

——— 1968 'The speech community,' *International Encyclopaedia of Social Sciences*, 9 : 381-86.

——— 1969 'Communication in multilingual societies', in *Cognitive Anthropology*. (ed) S. Taylor, 435-49, New York : Holt, Rinehart and Winston.

——— 1971 *Directions in Sociolinguistics*. New York : Holt, Rinehart and Winston.

——and J. Peter Blom. 1971 'Social meaning in linguistic structures.' in *Directions in sociolinguistics* (eds.) J. Gumperz and D. Hymes. New York : Holt, Rinehart and Winston.

———and R. Wilson 1971 'Convergence and Creolization : a case from the Indo-Aryan/Dravidian Border in India,' in *Pidginization and Creolization* (ed.) Dell Hymes. 151-67, Cambridge University Press.

———and D. Hymes (eds.) 1964 *The ethnography of communication*. Special issue of *American Anthropologist*, Vol. 66 : No. 6, Part. 2.

Guru, Kamta Prasad (Sam. 2017) *Hindi vyakaran*. Kashi : Nagri Pracharini Sabha.

Hall, R. A. Jr. 1953 'Pidgin English and linguistic change,' *Lingua*, Vol. 3; 133-46.

——— 1962 'The life circle of Pidgin languages.' *Lingua*, Vol. 11 : 151-56.

——— 1966 *Pidgin and Creole languages.* New York : Cornell University Press.

——— 1972 'Pidgins and creoles as standard languages,' in *Sociolinguistics* (ed) J. B. Pride and Janet Holmes, Penguin Books, 142-53.

Halliday, M. A. K., Angus McIntose and Peter Strevens. 1964 *The Linguistic sciences and language teaching.* London : Longmans Green.

Hass, Mary. R. 1964 'Interlingual word taboos,' in *Language in culture and society* (ed.) Dell Hymes, Harper and Row, 489-494.

Haugen, E. 1966 'Dialect, language, nation,' *American Anthropologist*, Vol. 68 : 922-53.

——— 1966 '*Language conflict and language planning : the case of modern Norwegian.* Harvard University Press.

——— 1972 'The stigmata of bilingualism,' in *Ecology of Language* (ed.) Anwar, S. Dil, 307-24, California : Stanford University Press.

Hockett, F. Charles. 1958 *A course in modern Linguistics* New York : The Macmillan Company.

Hymes, D. H. (ed) 1964 *Language in culture and society.* New York : Harper and Row.

——— 1966 'Two types of linguistic relativity,' in *Sociolinguistics* (ed.) W. Bright, 114-167.

——— 1967 'Models of the interaction of language and social setting, *JSI*, Vol. 23.2 : 8-28.

——— 1971 *Pidginization and creolization of languages.* London : Cambridge University Press.

Jain, D. K. 1973 'Pronominal usage a sociolinguistic study' Ph. D. Dissertation, Univ. of Pennisylvania.

Jakoboson, Roman and Morris Halle 1956 *Fundamentals of language.* The Hague : Mouton.

Joos, Martin. 1959 *The isolation of styles.* Monograph on Languages and Linguistics. No. 12.

——— 1962 *The five clocks.* Bloomington.

Kachru, Braj B. 1975 'Lexical innovations in South Asian English,' *International Journal of the Sociology of Language,* Vol. 4 : 1975.

Kalra, Ashok. 1974 'Hindi men Sarvanam Prayog ka Samajik Sandarbh,' *Bhasha* : (Vishwa Hindi Sammelan, Spl. Vol.) New Delhi : CHD.

Kansal, Hari Babu etal 1970 *Karyalaya Sahayika.* New Delhi : Kendriya Sachivalaya Hindi Parishad.

Karunacillake, W. S and Suseendirajah, S. 1975 'Pronouns of address in Tamil and Sinhalese : A sociolinguistic study, *IJDL* Vol, 4.1 : 83.96.

Kelkar, Ashok. R. 1968 '*Studies in Hindi-Urdu, Introduction and Word Phonology*,' Poona : Deccan College.

Kellog, S. H. 1892 *A grammar-of Hindi language*. London ; Kegan Paul.

Kelly, G. 1966 'The status of Hindi as lingua-franca,' in William Bright (ed.) 1971.

Kshemchand 'Suman.' 1970 '*Hindi sahitya ko arya samaj ki den*,' Delhi : Madhur Prakashan.

Labov, W. 1966 *The social stratification of English*. New York : Centre For Applied Linguistics.

Labov, W. et al. 1968 *A study of the Non-standard English of Negro and Puerto Rican speakers in New York city*. Washington : D. C. Office of Education.

——— 1969 'Contraction, deletion and inherent variability of the English copula,' *Language* Vol. 45 : 715-762.

——— 1969 *The logic of non-standard English*. Washington, D. C. : Georgetown Univ. School of Languages and Linguistics.

——— 1970 'The study of language in its social setting,' *Stadiun Generale*. Vol. 23. 1 : 30-87.

Land, E. H. 1959 'Colour vision and the natural image,' *Proceedings of the National Academy of Sciences* 45.

Lowton David 1968 *Social class, language and education*. London : Routledge and Kegan Paul.

Leslau, Wolf. 1952 'A footnote on interlingual word taboo,' *American Anthropologist* : 54.

Lévi-Strauss, C. 1949 'The principles of kinship,' in *Kinship* (ed.) Jack Goody (1971), Penguin Books.

——— 1969 *The elementary structures of kinship.* Eyre and spottiswoode.

Lieberson, S. (ed.) 1966 *Explorations in Sociolinguistics.* Special issue of *Sociological Inquiry* Vol. 36. 2.

Lunt, H. G. (ed.) 1964 *Proceedings of the Ninth international Congress of Linguistics.* The Hague : Mouton.

Lyons, John. (ed.) 1972 *New Horizon in Linguistics.* Penguin Books.

Macneil, N. B. 1972 'Colour and Colour terminology,' *Journal of Linguistics*, Vol. 8.

Malinowski, B. 1930 'Kinship.' *Man*, Vol. 30 : 19-29.

McGregor, R. S. 1972 *Outline of Hindi grammar*, London : Clarendon Press Oxford.

McNamara, J. (ed.) 1967 *Problems of Bilingualism.* Special issue of *Journal of Social Issues* Vol. 23.2.

Nida, Eugene, 1959 'Principles of Translation,' in *On translation* (ed.) Reuben A. Bower. Cambridge : Harvard University Press.

Pandit. P. B. 1972 *India as a Sociolinguistic area.* Poona Univ. Press.

Pike, K. L. and C. C. Fries, 1949 'Coexistent phonemic systems,' *Language*, Vol. 25 : 29-50,

Pride, J. B. 1971 *Social meaning of language.* London : Oxford University Press.

———and Janet Homes. (eds.) 1972 *Sociolinguistics.* Penguin Books.

Radcliff Brown, A. R. 1930 'Kin terms and kin behaviour,' in *Kinship* (ed) Jack Goody (1971) : 307-316.

———and Daryell Forde (ed.) 1970 *African systems of kinship and marriage.* London : Oxford Univ. Press.

Radhakrishna, B. 1970 'Diglossia in Telugu,' Paper read in 3rd All India Conference of Linguistics Hyderabad.

Ray, Verne. 1952 'Techniques and problems in the study of human colour perception,' *South Western Journal of Anthropology.* Vol. 8 : 251-259.

Reddy. G. Sundara 1973 *The language problem in India.* Delhi : National Publishing House.

Reuben, A. |Bower (ed.) 1959 *On Translation.* Cambridge : Harvard University press.

Reid, T. B. W. 1952 'Linguistic structuralism and Phonology,' *Archivum Linguistics.* Vol. 8.2.

Rivers 1901 'Primitive colour vision,' *Popular Science.* Vol. 59 : 44-58.

Robins, R. H. 1966 *General Linguistics*-Longman's Linguistics Library.

Robins, W. P. 1972 *Language and Social Behaviour.* Penguin Books.

Rubin, J. 1961 'Bilingualism in Paraguay,' *Anthropological linguistics,* Vol. 4.52-58.

| | | |
|---|---|---|
| Saussure, D. F. | 1964 | *Course in general linguistics.* London : Peter Owen. |
| Sebeok, T. A. (ed.) | 1960 | *Style in Language.* Mass. Cambridge : M. I. T. Press. |
| Sharma, A. | 1972 | *A basic grammer of Modern* Hindi. New Delhi : CHD. |
| Sharma, Devendranath | 1965 | *Rashtra Bhasha Hindi ki Samasyaen aur Samadhan.* Delhi : Raj Kamal Prakashan. |
| Somarin, W. J. | 1971 | 'Salient and substantive pidginization,' in *Language in culture and society* (ed.) Dell Hymes. 117-40. |
| Southworth, F. C. | 1958 | 'A test of comparative method: a linguistically controlled reconstruction based on four Indic languages,' (Thesis), Yale University. |
| ——— | 1961 | 'The Marathi verbal sequences and their co-occurrence,' *Language*, Vol, 31 : 201-8. |
| ——— | 1971 | 'Detecting prior creolization : an analysis of the historical origins of Marathi,' *in* Hymes, 1971 :255-274. |
| ——— | 1974 | 'Linguistic Statigraphy of North INDIA,' *IJDL*, Vol. 32 : 201-23. |
| ———and M. L. Apte | 1974 | 'Introduction to contact and convergence in South Asian languages' *IJDL*, Vol. 3.1 : 11-20. |
| Sridhar, Shikaripur, N. | 1975 | "On the Aryanization of the Kannada Lexicon : A study of the Hindi-Urdu loan words in Kannada,' To appear in H. Van olphen ed. 1975. |

Srivastava, R. N. 1969 'Review : Studies in Hindi-Urdu introduction and World Phonology by A. R. Kelkar' Language, Vol 45 : 913-17.

——— 1970 'Rejoinder to Kelkars' reply Srivastava's review of studies in Hindu-Urdu *Indian Linguistics*, Vol. 31.4 : 186-96.

——— 1973 'Linguistic perspective to the study of social meaning,' Paper presented in Symposium on Social Stratification and language Behaviour. Simla (Mimeo).

——— 1975 'The sociology of Functional Hindi in *Functional Hindi* (ed) Srivastava, Agra : CIH.

———(ed) 1975 *Functional Hindi*, Agra : CIH.

—and C. J. Daswani 1970 'A search of parameters of style,' Paper read in the Seminar on Dialectology at Patiala

Sudhansu, Laxminarayan 1965 *Sampark Bhasha Hindi*. Delhi : Raj Kamal Prakashan.

Sudnow, D. (ed). 1971 *Studies in social interaction*. Free Press of Glencoe.

Takdir, S. (ed). 1967 *The modernization of languages in Asia*. Kuala Lumpur : Univ. of Malaya.

Thakur Dass 1975 *Karyalayeen Hindi*. Delhi : Oxford University Press.

Tiwari, B. N. 1966 *Hindi Bhasha*. Allahabad : Kitab Mahal.

Tiwari, U. N. 1961 *Hindi Bhasha ka udgam aur vikas*. Allahabad : Bharati Bhandar.

| | | |
|---|---|---|
| Trudgill, Peter | 1974 | *Sociolinguistics : an introduction.* Penguin Books. |
| Turner, G. W. | 1973 | *Stylistics.* Penguin Books. |
| Vaiyapuri Pillai, S. | 1926 | *Tamil Lexicon.* Madras : Madras Univ. |
| Vajpeyi, Kishori Das | (Sam. 2014) | *Hindi Shabdanushasan.* Kashi : Nagari Pracharini Sabha. |
| Varshney, Laxmisagar | 1954 | *Adhunik Hindi Sahitya,* Allahabad : Hindi Parishad, |
| Verma, Dhirendra | (Sam. 2022) | *Hindi Sahitya ka brihad itihas, Part II,* Kashi : Nagri Pracharini Sabha. |
| Verma, Shiv Raj | 1970 | *Sarkari Karyavidhi,* Delhi : Arya Book Depot. |
| ——— | 1970 | *Hindi ka Rashtra-bhasha ke rup men vikas,* Delhi : Atme Ram and Sons. |
| Verma Vrijeshwar | 1971 | 'Hindi aur uska vyavhar kshetra, *Gaveshna* Vol. 16, 1-6 Agra : C. I. H. |
| Vyas, B. S. B. N. Tiwari, R. N. Srivastava | 1972 | *Hindi vyakaran aur rachna.* Delhi : N.C.E.R.T. |
| Ward, M. C. | 1971 | *A study in language learning,* New York : Holt, Rinehart, Winston. |
| Webster, Huttan | 1942 | *Taboo : a sociological study* Stanford : Stanford Univ. Press. |
| Weinreic,h, U. | 1953 | *Languages in contact,* Linguistic circle of New York. |
| Whinnom, K. | 1971 | 'Linguistic hybridization and the special case of pidguiines and creoles' in *Language in culture and society* (ed.) Dell Hymes : 91-116. |
| Woodworth, R. S. | 1910 | 'The puzzle of colour vocabularies,' *The psychological Bulletin,* Vol. 7 : 325-334. |